साहित्यदर्पण कोश

डॉ० रमण कुमार शर्मा

साहित्यदर्पण कोश

डॉ० रमण कुमार शर्मा

साहित्यदर्पणकोश

साहित्यदर्पणकोश

डॉ॰ रमण कुमार शर्मा

विद्यानिधि प्रकाशन

विद्यानिधि प्रकाशन
डी-1061, गली नं॰ 10,
(समीप श्रीमहागौरी मन्दिर)
खजूरी खास, दिल्ली-110094

संस्करण : 1996

मूल्य : 200.00

ISBN : 81-86700-04-8

मुद्रक :
ए-वन ग्राफिक्स
एक्स-4, गली नं॰-2, ब्रह्मपुरी,
दिल्ली-110053
फोन : 2183470

शुभाशंसा

डा॰ रमण कुमार शर्मा द्वारा तैयार किये गये साहित्यदर्पणकोश को मैंने स्थालीपुलाकन्याय से देखा है जो बड़े ही परिश्रम एवं लग्न से तैयार किया गया है। साहित्यदर्पण में प्रयुक्त सम्पूर्ण पारिभाषिक पदावली को लेकर उसका परिचयात्मक विवरण अत्यन्त संक्षेप में दिया गया है जो उस पारिभाषिक तत्त्व के स्वरूप को तो स्पष्ट करता ही है, उसके उस अर्थ में रूढ़ होने के रहस्य का भी उद्घाटन करता है। साहित्यदर्पण एक ऐसा शास्त्रीय ग्रन्थ है जिसमें ई॰पू॰ के नाट्यशास्त्र से लेकर कविराज विश्वनाथ के काल चौदहवीं शताब्दी तक विकसित एवं व्यवहार में आने वाली निखिल पारिभाषिक पदावली का प्रयोग हुआ है, चाहे वह दृश्यकाव्यविषयक हो अथवा श्रव्यकाव्यविषयक। डा॰ शर्मा ने उसे वर्णानुक्रम से व्यवस्थित कर जो यह कोश तैयार किया है वह साहित्यशास्त्र के छात्रों एवम् अध्यापकों के लिए परम उपादेय है। मेरा विश्वास है कि इससे उभयवर्ग लाभान्वित होगा तथा इस कोश का उपयोग साहित्यशास्त्र पर किये जाने वाले शोधकार्य में भी उपयोगी सिद्ध होगा। इस उत्तम कार्य के लिए डा॰ शर्मा साधुवाद के पात्र हैं तथा इनका यह कोश सर्वथा अभ्यर्हणीय है।

रामनवमी, संवत् 2053

प्रो॰ व्रजमोहन चतुर्वेदी,
पूर्व अध्यक्ष, संस्कृतविभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।

प्ररोचना

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में साहित्यदर्पण एक द्वितीय श्रेणी का लक्षणग्रन्थ है। केवल रससिद्धान्त की काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठा आचार्य विश्वनाथ ने अवश्य की और इसी के कारण उन्हें सहृदयों की ओर से प्रभूत सम्मान भी मिला, इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्र की परम्परा में कोई मौलिक सिद्धान्त कविराज ने इस लक्षणग्रन्थ के माध्यम से नहीं दिया पुनरपि उनके साहित्यदर्पण में कुछ ऐसा वैशिष्ट्य अवश्य है कि विद्वान् इस ग्रन्थ को शताब्दियों से पर्याप्त आदर देते रहे हैं। आज भी भारत के अधिकांश विश्वविद्यालयों में संस्कृत काव्यशास्त्र के छात्रों को साहित्य के सामान्य सिद्धान्तों का परिचय कराने के लिए इस ग्रन्थ को पाठ्यक्रम में निर्धारित किया गया है क्योंकि साहित्यसमीक्षा के लगभग सभी सिद्धान्त इसमें सामान्य रूप से विवेचित हुए हैं जो शास्त्र में प्रवेशार्थी छात्रों के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। विषयों के विवेचनक्रम में आचार्य अनावश्यक शास्त्रार्थ में प्रवृत्त नहीं हुआ परन्तु अवश्यवर्णनीय विषय को उसने यथासम्भव छोड़ा भी नहीं। श्रव्यकाव्य के साथ-साथ दृश्यकाव्य का भी विवेचन होने के कारण यह एक समग्र लक्षण-ग्रन्थ बन गया है। इन दोनों के लिए समन्वित रूप से 'साहित्य' पद का प्रयोग किया गया है। लक्षणों के विषय में मौलिक न होकर भी यह ग्रन्थ विषय को स्पष्ट करने में अवश्य समर्थ है परन्तु आज अध्ययन का माध्यम संस्कृत न रहने के कारण छात्रों को इसे हृदयङ्गम करने में भी समस्या होती है। अतएव उनके परितोष के लिए अनावश्यक विस्तार से बचते हुए इसके एक पदानुक्रमकोश के निर्माण की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। उच्च स्तर पर साहित्यशास्त्र का अध्ययन करने वाले संस्कृत और हिन्दी के विद्यार्थियों के लिए तो इसका उपयोग होना ही चाहिए, काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का परिचय देने के कारण एक अर्थ में साहित्यशास्त्र के एक सन्दर्भग्रन्थ के रूप में शोधार्थियों के लिए भी उपादेय हो सके, इसी उद्देश्य की पूर्ति में मेरे इस श्रम की सफलता निहित है।

सर्वथा मौलिकता का तो कोई दावा नहीं किया जा सकता परन्तु साहित्यदर्पणकार के पक्ष को यथाशक्ति प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र के अन्य आचार्यों का मत भी केवल वहीं पर उद्धृत किया गया है जहाँ वह साहित्यदर्पणकार के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए उपयोगी प्रतीत हुआ। प्रत्येक प्रविष्टि के साथ उसका सन्दर्भ भी दे दिया गया है। इसके लिए भारतीय बुक कार्पोरेशन से दो टीकाओं, कविराज के पुत्र अनन्तदासकृत लोचन तथा भट्टाचार्य महेश्वर तर्कालङ्कारकृत विज्ञप्रियासहित 1988 में दो भागों में प्रकाशित संस्करण का उपयोग किया गया है। अन्य भी जिन अनेक ग्रन्थों की सहायता विषय को समझने के लिए ली गयी है, उनके प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। पूज्य गुरुपाद प्रो० व्रजमोहन चतुर्वेदी के पुण्य आशीर्वाद से ही काव्यशास्त्र में मुझे प्रवेश करने का साहस हो पाया है, उनका कृतज्ञ हूँ। प्रारम्भ में आशीर्वाद देकर उन्होंने मुझे उपकृत किया है। पुस्तक को शीघ्र प्रकाशित करने के लिए विद्यानिधि प्रकाशन भी धन्यवादार्ह है।

—रमण कुमार शर्मा

सङ्केताक्षरसूची

अ.को.	अमरकोशः
अ.पु.	अग्निपुराणम्
अ.भा.	अभिनवभारती
अ.शा.	अभिज्ञानशाकुन्तलम्
उ.रा.	उदात्तराघवम्
उ.रा.च.	उत्तररामचरितम्
क.के.	कन्दर्पकेलिः
क.प.	कर्णपराक्रमः
क.म.	कर्पूरमञ्जरी
का.प्र.	काव्यप्रकाशः
कि.	किरातार्जुनीयम्
कु.अ.च.	कुवलयाश्वचरितम्
कु.मा	कुन्दमाला
कु.स.	कुमारसम्भवम्
च.क.	चन्द्रकला नाटिका
च.कौ.	चण्डकौशिकम्
जा.रा.	जानकीराघवम्
धू.च.	धूर्तचरितम्
ना.न.	नागानन्दम्
ना.शा.	नाट्यशास्त्रम्
न्या.कु.	न्यायकुसुमाञ्जलिः
पु.भू.	पुष्पभूषितम्
प्र.र.	प्रशस्तिरत्नावली
प्र.व.	प्रभावती

बा.च	बालचरितम्
बा.रा.	बालरामायणम्
म.च.	महावीरचरितम्
म.भा.	महाभारतम्
मा.अ.	मालविकाग्निमित्रम्
मा.मा.	मालतीमाधवम्
मु.रा.	मुद्राराक्षसम्
मृ.क.	मृच्छकटिकम्
य.वि.	ययातिविजयम्
र.ना.	रत्नावली नाटिका
र.व.	रघुवंशम्
र.वृ.	रङ्गवृत्तम्
रा.	रामायणम्
रा.अ.	राघवाभ्युदयः
रा.अ.ना.	रामाभिनन्दनाटकम्
रा.आ.	राघवानन्दम्
रा.वि.	राघवविलासः
ल.मे.	लटकमेलकम्
वि.उ.	विक्रमोर्वशीयम्
वि.पु.	विष्णुपुराणम्
वे.सं.	वेणीसंहारम्
व्य.वि.	व्यक्तिविवेकः
शृ.ति.	शृङ्गारतिलकम्
स.क.	सरस्वतीकण्ठाभरणम्
सा.द.	साहित्यदर्पणः
से.ब.	सेतुबन्धम्

अकाण्डेछेद:—एक काव्यदोष। जब रस अपने पूर्ण परिपाक पर हो, उसे अचानक विच्छिन्न कर देना अकाण्डेछेद: नामक काव्यदोष है। यथा, म.च. के द्वितीयाङ्क में राम और परशुराम के संवाद मे वीर रस के चरमोत्कर्ष पर पहुँचने पर रामचन्द्र का यह कथन – "कङ्कणमोचनाय गच्छामि"। यह रसदोष है। (7/6)

अकाण्डेप्रथनम्—एक काव्यदोष। विना अवसर के रस का प्रतिपादन अकाण्डेप्रथनम् नामक काव्यदोष है। यथा, वे.सं. के द्वितीयाङ्क में अनेक वीरों के क्षयकारक युद्ध में प्रवृत्त होने पर दुर्योधन का भानुमती के साथ शृङ्गारप्रदर्शन। यह रसदोष है। (7/6)

अक्रमत्वम्—एक काव्यदोष। जहाँ प्रयुक्त किये गये शब्दों का क्रम उचित न हो। यथा, समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम्। शरदि हंसरवा: परुषीकृतस्वरमयूरमयू रमणीयताम्।। यहाँ 'समय एव करोति बलाबलम्' इस पंक्ति का 'इति' पद से परामर्श होता है, अत: इसी के अनन्तर इस पद का प्रयोग होना चाहिए था परन्तु यह 'प्रणिगदन्त:' पद के पश्चात् प्रयुक्त है। इसी प्रकार कु.स. के प्रसिद्ध पद्य, द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिन:। कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी।। में कलावान् के साथ 'त्वम्' पद का समुच्चय है, लोक का नहीं। अत: 'च' पद 'त्वम्' के अनन्तर आना चाहिए। यह वाक्यदोष है। (7/4)

अक्षमा—एक नाट्यालङ्कार। स्वल्प तिरस्कार को भी सहन न करना –अक्षमा सा परिभव: स्वल्पोऽपि न विषह्यते। अ.शा. के पञ्चमाङ्क में शकुन्तला के प्रत्याख्यान के अनन्तर शार्ङ्गरव की उक्तियाँ इसका उदाहरण है। (6/211)

अक्षरसङ्घात:—एक नाट्यलक्षण। विचित्र अर्थ वाले परिमित शब्दों से किया गया वर्णन अक्षरसङ्घात कहा जाता है–वर्णनाक्षरसङ्घातश्चित्रार्थैरक्षरैर्मितै: (6/172)।

अङ्क:—रूपक का एक भेद। इसी की एक अन्य संज्ञा उत्सृष्टिकाङ्क भी है। नाटकादि में भी क्योंकि अङ्कों की योजना होती है, अत: उससे इसका

भेद प्रदर्शित करने के लिए कुछ आचार्य इसकी पृथक् संज्ञा करते है। अन्य आचार्यों का कथन है कि इसमें सृष्टि (जीवन) उत्क्रान्त अर्थात् विपरीत रहती है, अतः इसकी संज्ञा उत्सृष्टिकाङ्क है-उत्क्रान्ता विलोमरूपा सृष्टिर्यत्रेत्युत्सृष्टिकाङ्कः। इसमें कवि अपनी बुद्धि से किसी प्रख्यात घटना का प्रपञ्च एक अङ्क में करता है। सन्धि, वृत्ति और अङ्कयोजना भाण के समान होती है। वाक्कलह और निर्वेद के वचनों का प्रयोग होता है तथा अन्त में जय और पराजय का भी वर्णन होता है। इसके नायक सामान्य मनुष्य होते हैं तथा स्त्रीपात्रों का विलाप प्रदर्शित किया जाता है, अतः करुणरस स्थायी रूप से वर्णित होता है। इसका उदाहरण शर्मिष्ठाययातिः नामक रचना है। (6/261)

अङ्कः–रूपक का एक खण्ड। एक दिन में निर्वर्त्य कथा को प्रायोजित करने वाला रूपक का अंश अङ्क कहा जाता है। यह अनेक प्रकार के संविधानकों से युक्त होता है। इसमें अवान्तर कार्य तो पूर्ण हो जाते हैं परन्तु बिन्दु संलग्न रहता है। कार्यों का बहुत अधिक विस्तार नहीं होता परन्तु आवश्यक सन्ध्यावन्दनादि कार्यों का प्रदर्शन भी अवश्य किया जाता है। बीज का उपसंहार नहीं होता। एक अङ्क में बहुत अधिक पद्यों का प्रयोग भी नहीं करना चाहिए। गूढ़ार्थक शब्दों का प्रयोग नहीं होता। छोटे-छोटे अल्पसमासयुक्त गद्यवाक्य (संवाद के रूप में) प्रयुक्त होते हैं। रस और भाव स्पष्ट रूप से उद्दीप्त होते हैं। नायक का चरित्र प्रत्यक्ष होता है तथा उसके साथ तीन चार अन्य पात्र भी रङ्गमञ्च पर दृष्टिगोचर होते है, वे सभी अङ्क की समाप्ति पर निकल जाते हैं।

अङ्क की शिल्प सम्बन्धी इन स्थापनाओं के साथ आचार्य विश्वनाथ नें मञ्च पर परिहरणीय विषयों का भी उल्लेख किया है। दूर से आह्वान, वध, युद्ध. राज्य में विप्लव, विवाह, भोजन, शाप, मलत्याग, मृत्यु, सम्भोग, दन्तक्षत, नखक्षत, अन्य लज्जास्पद कार्य, शयन, अधरपान, नगरादि का अवरोध, स्नान, चन्दनादि का लेप रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित नहीं किये जाने चाहिएँ। देवी, परिजन, अमात्य, वणिक् आदि के चरितों के वर्णन तथा रसों और भावों की उत्पत्ति दिखायी जानी चाहिए परन्तु वर्णनों का बहुत अधिक विस्तार इष्ट नहीं है। (6/7)

अङ्कमुखम्—अर्थोपक्षेपक का एक भेद। जहाँ एक ही अङ्क में सब अङ्कों की निखिल सूचना दी जाये तथा जो बीजभूत अर्थ का व्यापक हो, उसे अङ्कमुख कहते हैं। यथा मा.मा. के प्रथमाङ्क के प्रारम्भ में ही कामन्दकी और अवलोकिता ने अगली सब घटनाओं की सूचना दे दी। धनिक ने अङ्कास्य का लक्षण अन्य प्रकार से किया है। उनके अनुसार अङ्क के अन्त में प्रविष्ट पात्रों के द्वारा विगत अङ्क से अगली कथा का सूचन इसके द्वारा होता है। यथा म. च. के द्वितीय अङ्क के अन्त में सुमन्त्र नामक पात्र ने प्रवेश करके शतानन्द जनक की कथा को विच्छिन्न करके आगामी अङ्क के आरम्भ की सूचना दी है। कुछ आचार्य इसे अर्थोपक्षेपक का स्वतन्त्र भेद नहीं मानते प्रत्युत उसे अङ्कावतार में ही गतार्थ मान लेते हैं। (6/41, 42)

अङ्कावतारः—अर्थोपक्षेपक का एक भेद। पूर्व अङ्क के अन्त में उसी के पात्रों के द्वारा ही जब अगले अङ्क की सूचना दे दी जाती है तो यह अङ्कावतार कहा जाता है। इसमें पूर्व अङ्क की कथा का विच्छेद किये विना ही आगामी अङ्क की कथा प्रवृत्त होती है। इसका उदाहरण अ.शा. के पञ्चमाङ्क में पात्रों के द्वारा सूचित तथा उससे अविभक्त रूप से अवतीर्ण षष्ठाङ्क है। (6/40)

अङ्कास्यम्—देखें अङ्कमुखम्।

अङ्गस्यातिविस्तृतिः—एक काव्यदोष। अप्रधान वस्तु के अत्यन्त विस्तार में अङ्गस्यातिविस्तृति नामक काव्यदोष होता है, यथा कि० में अप्सराओं के विलास का वर्णन। यह रसदोष है। (7/6)

अङ्गी-अननुसन्धानम्—एक काव्यदोष। प्रधान का विस्मरण हो जाना, यथा र.ना. के चतुर्थ अङ्क में वाभ्रव्य के आ जाने पर उदयन को सागरिका की विस्मृति हो जाती है। यह रसदोष है। (7/6)

अतद्गुणः—एक अर्थालङ्कार। कारण के होने पर भी दूसरी वस्तु के गुणों को ग्रहण न करने पर अतद्गुण अलङ्कार होता है-तद्रूपाननुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः। यथा, हन्त सान्द्रेण रागेण भृतेऽपि हृदये मम। गुण गौरनिषण्णोऽपि कथं नाम न रज्यसि।। इस पद्य में हृदय के राग से युक्त होने पर भी उसमें स्थित नायक रक्त नहीं हो रहा, अतः अतद्गुण अलङ्कार है।

यहाँ वस्तुतः कारण के होने पर भी कार्य के न होने से विशेषोक्ति प्राप्त है परन्तु गुणों का ग्रहण न करने रूप विशिष्ट चमत्कार होने के कारण इसे पृथक् अलङ्कार कहा गया है। (10/118)

अतिशयोक्तिः—एक अर्थालङ्कार। अध्यवसाय के सिद्ध होने पर अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है-सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते। अध्यवसाय से अभिप्राय है-उपमेय के वास्तविक स्वरूप को दबाकर उपमान के साथ उसका अभेद स्थापित करना-विषयस्यानुपादानेऽप्युपादानेऽपि सूरयः। अधःकरणमात्रेण निगीर्णत्वं प्रचक्षते।। यथा, मुखं द्वितीयश्चन्द्रः। यहाँ मुख का निगरण करके चन्द्रमा के साथ उसका अभेद स्थापित किया गया है।

उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय साध्य रहता है जबकि अतिशयोक्ति में वह सिद्ध है।

अतिशयोक्ति के पाँच प्रकार हैं—(1) भेद होने पर अभेदवर्णन। (2) सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्ध कथन। (3) अभेद होने पर भेद वर्णन। (4)असम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध कथन तथा (5) कार्यकारण के पौर्वापर्य का व्यत्यय। (10/66)

अतिहसितम्—हास्य का एक भेद। जहाँ हँसते-हँसते आँख में पानी आने के साथ हाथपैर भी पटके जायें वह अतिहसित कहा जाता है-विक्षिप्ताङ्गं भवत्यतिहसितम्। यह नीच प्रकृति के लोगों का हास्य है। (3/221)

अद्भुतः—एक रस। विस्मयनामक स्थायीभाव जब विभावादि के द्वारा पुष्ट होकर अनुभूति का विषय बनता है तो वह अद्भुत नामक रस होता है। कोई अलौकिक वस्तु उसका आलम्बन, उसके गुणों का वर्णन उद्दीपन, स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, गद्गद-स्वर, सम्भ्रम तथा नेत्रविकासादि इसके अनुभाव होते हैं। वितर्क, आवेग, सम्भ्रान्ति, हर्षादि इसके व्यभिचारीभाव हैं। इसका वर्ण पीत तथा देवता गन्धर्व है। यथा, दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखर-धनुर्दण्डावभङ्गोद्यतष्टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः। द्राक्पर्यस्तक-पालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदरभ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति।। इस पद्य में राम के द्वारा धनुष तोड़ दिये जाने पर लक्ष्मण का विस्मयनामक स्थायीभाव टङ्कारध्वनिरूप आलम्बन, उसकी अत्यन्तदीर्घतारूप

उद्दीपन, उसकी महिमावर्णनरूप अनुभाव तथा हर्षादि व्यभिचारीभावों के द्वारा पुष्ट हुआ है। (3/231)

अधिकम्—एक अर्थालङ्कार। आश्रय तथा आश्रयी में से एक के अधिक होने पर यह अलङ्कार होता है–आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते। इन दोनों रूपों के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं–(1) किमधिकमस्य ब्रूमो महिमानं वारिधेर्हरिर्यत्र। अज्ञात एव शेते कुक्षौ निक्षिप्य भुवनानि।। तथा (2) युगान्तकालप्रतिसंहतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत। तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः।। इनमें से प्रथम पद्य में आश्रयभूत समुद्र का अधिक्य प्रदर्शित है जहाँ भगवान् विष्णु भी सारे संसार को अपनी कुक्षि में समेटकर शयन करते है तथा द्वितीय पद्य में आश्रयी नारदमुनि के आगमन से प्राप्त होने वाले आनन्द का आधिक्य वर्णित है जो भगवान् कृष्ण की देह में समा नहीं पा रहा। (10/94)

अधिकपदता—एक काव्यदोष। यदि अनावश्यक रूप से अधिक शब्द प्रयुक्त हों तो अधिकपदता दोष होता है। यथा–पल्लवाकृतिरक्तोष्ठी। यहाँ 'आकृति' पद अधिक प्रयुक्त है। यथा च–वाचमुवाच कौत्सः। यहाँ 'वाचम्' पद अधिक है। उवाच कौत्सः, इतने मात्र से ही अभिप्राय गृहीत हो जाता है। कहीं कहीं विशेषण देने के लिए अधिक पद का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। यथा, 'उवाच मधुरां वाचम्' यहाँ 'वाचम्' के विना 'मधुरम्' विशेषण का प्रयोग नहीं हो सकता, परन्तु विशेषण का प्रयोग यदि क्रिया–विशेषण के रूप में किया जाना शक्य हो तो भी अधिक पद का प्रयोग नहीं करना चाहिए, यथा–उवाच मधुरम्। यही अधिकपदत्व कभी–2 गुणरूप भी हो जाता है, यथा–आचरति दुर्जनो यत्सहसा मनसोऽप्यगोचरानर्थान्। तन्न न जाने स्पृशति मनः किन्तु नैव निष्ठुरताम्। यहाँ 'तन्न न जाने' इस स्थल पर अधिकपदत्व भी विशिष्ट शोभा उत्पन्न कर रहा है। (7/4)

अधिबलम्—गर्भसन्धि का एक अङ्ग। छल से किसी का अनुसन्धान करना अधिबल कहलाता है–अधिबलमभिसन्धिश्छलेन यः। यथा, र.ना. में काञ्चनमाला के "भट्टिनि! इयं सा चित्रशालिका। वसन्तकस्य संज्ञां करोमि।" इस छल से राजा और विदूषक पकड़े जाते हैं। (6/106)

अधिबलम्–वीथ्यङ्ग। स्पर्धा के कारण एक दूसरे से बढ़कर वाक्यों का कथन अधिबल नामक वीथ्यङ्ग है–अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाधिबलं मतम्। इसका उदाहरण विश्वनाथ की प्र.व. रचना का वह स्थल है जहाँ वज्रनाभ के कथन के अनन्तर प्रद्युम्न की प्रत्युक्ति और भी अधिक तीव्र है। (6/269)

(प्रगल्भा) अधीरा–स्वकीया नायिका का एक भेद। पति के अपराध करने पर जो क्रोध के कारण उसका तर्जन और ताडन करती है–तर्जयेत्ताडयेदन्या। यथा–शोणं वीक्ष्य मुखं विचुम्बितुमहं यातः समीपं ततः, पादेन प्रहृतं तया सपदि तं धृत्वा सहासे मयि। किञ्चित्तत्र विधातुमक्षमतया वाष्पं त्यजन्त्याः सखे, ध्यातश्चेतसि कौतुकं वितनुते कोपोऽपि वामभ्रुवः।। (3/78)

(मध्या) अधीरा–स्वकीया नायिका का एक भेद। कठोर उक्तियों से अपने रोष को व्यक्त करने वाली नायिका (मध्या) अधीरा कही जाती है–अधीरा परुषोक्तिभिः। यथा–सार्धं मनोरथशतैस्तव धूर्त कान्ता सैव स्थिता मनसि कृत्रिमहावरम्या। अस्माकमस्ति नहि कश्चिदिहावकाशस्तस्मात् कृतं चरणपातविडम्बनाभिः।। (3/75)

अधृतिः–प्रवासविप्रलम्भ में काम की एक दशा। कहीं भी मन न लगने की स्थिति को अधृति कहते हैं–सर्वत्रारागिताऽधृतिः। (3/207)

अध्यवसायः–एक नाट्यालङ्कार। प्रतिज्ञा को अध्यवसाय कहते हैं–प्रतिज्ञाध्यवसायः। प्र.व. में वज्रनाभ की उक्ति–अस्य वक्षः क्षणेनैव निर्मथ्य गदयानया। लीलयोन्मूलयाम्येष भुवनद्वयमद्य वः।। इसका उदाहरण है। (6/221)

अनङ्गकीर्त्तनम्–एक काव्यदोष। जो रस में अनुपकारक है, उसका वर्णन अनङ्गकीर्तन नामक काव्यदोष है। यथा क.म. में स्वयम् अपने और नायिका के द्वारा किये गये वसन्तवर्णन की उपेक्षा करके राजा ने बन्दियों के द्वारा किये गये वसन्तवर्णन की प्रशंसा की। (7/6)

अनन्वयः–एक अर्थालङ्कार। एक ही वस्तु के उपमेय और उपमान भी होने पर अनन्वय अलङ्कार होता है। दो वाक्यों में एक ही वस्तु की उपमेयता

और उपमानता रशनोपमा तथा उपमेयोपमा कही गयी हैं अतः उनका एकवाक्यगतत्व अर्थतः गम्य है। एक ही वाक्य में एक ही वस्तु का यह उपमेय और उपमानभाव काल्पनिक माना जाता है। इसका उदाहरण है-राजीवमिव राजीवं, जलं जलमिवाजनि। चन्द्रश्चन्द्र इवातन्द्रः, शरत्समुदयोद्यमे।।

यह क्योंकि मूलतः अर्थालङ्कार है, अतः यह आवश्यक नहीं कि इन दोनों का कथन एक ही पद के द्वारा किया जाये। 'राजीवमिव पाथोजम्' ऐसा कहने पर भी एक ही अर्थ की उपमानोपमेयता बनी रहती है। लाटानुप्रास से इसका विभेदक आधार भी यही है कि उसके मूलतः शब्दालङ्कार होने के कारण उसमें पदपरिवर्तन सह्य नहीं होता। अनन्वय में शब्द का ऐक्य औचित्यमूलक होता है, ताकि उसकी प्रतीति संवेगी बनी रहे जबकि लाटानुप्रास में तो यह साक्षात् प्रयोजक ही है-अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्या-दानुषङ्गिकम्। अस्मिंस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव प्रयोजकम्।। (10/30)

अनवीकृतः–एक काव्यदोष। जहाँ प्रयुक्त पदों में कोई नवीनता न हो, वहाँ अनवीकृत दोष होता है। यथा-सदा चरति खे भानुः, सदा वहति मारुतः। सदा धत्ते भुवं शेषः, सदा धीरोऽविकत्त्थनः।। यहाँ चारों चरणों में 'सदा' पद प्रयुक्त हुआ है जिसमें कोई नवीनता नहीं है। कथन का नवीकरण करके इस दोष का परिहार किया जा सकता है। यथा-भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव, रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति। शेषः सदैवाहितभूमिभारः, षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः।। यहाँ तीनों चरणों में बात का स्वरूप बदल दिया गया है।

कथितपदत्व में यदि पुनः प्रयुक्त पद को हटा दें तो वह दोष समाप्त हो जाता है परन्तु यहाँ यदि कोई पर्याय भी रख दें तो भी विशिष्ट चमत्कार के अभाव में यह दोष बना ही रहता है, इसलिए यह अर्थदोष है। (7/5)

अनालम्बः–प्रवासविप्रलम्भ में काम की एक दशा। मन की शून्यता अनालम्बनता कही जाती है-आनलम्बनता चापि शून्यता मनसः स्मृता। (3/212)

अनियमेनियमत्वम्–एक काव्यदोष। जो वस्तु नियमित रूप से नहीं होती, उसमें नियम का विधान करना अनियमेनियमत्व नामक काव्यदोष है। यथा-आवर्त्त एव नाभिस्ते, नेत्रे नीलसरोरुहे। भङ्गाश्च वलयस्तेन त्वं

लावण्याम्बुवापिका।। वास्तव में 'आवर्त्त एव नाभिः', इस प्रकार 'एव' शब्द के प्रयोग से नियमविधान नहीं करना चाहिए। यह अर्थदोष है। (7/5)

अनुकूलः—नायक का एक भेद। जो नायक एक ही नायिका में अनुरक्त रहे, वह अनुकूल कहा जाता है-अनुकूल एकनिरतः। यथा-अस्माकं सखि वाससी न रुचिरे, ग्रैवेयकं नोज्ज्वलं, नो वक्रा गतिरुद्धतं न हसितं, नैवास्ति कश्चिन्मदः। किन्त्वन्येऽपि जना वदन्ति सुभगोऽप्यस्याः प्रियो नान्यतो, दृष्टिं निक्षिपतीति विश्वमियता मन्यामहे दुःस्थितम्।। (3/44)

अनुकूलः—एक अर्थालङ्कार। यदि प्रतिकूलता ही अनुकूल कार्य सम्पन्न करने लगे तो अनुकूल नामक अलङ्कार होता है- अनुकूलं प्रातिकूल्यमनुकूलानुबन्धि चेत्। यथा-कुपितासि यदा तन्वि निधाय करजक्षतम्। बधान भुजपाशाभ्यां कण्ठमस्य दृढ़ं तदा।। सब अलङ्कारों से विलक्षण चमत्कार होने के कारण इसे स्वतन्त्र अलङ्कार ही मानना चाहिए। (10/84)

अनुक्तसिद्धिः—एक नाट्यलक्षण। प्रकरण विशेष में कही गयी उक्ति से किसी विशिष्ट अभिप्राय का गम्य होना अनुक्तसिद्धि नामक नाट्यलक्षण है-विशेषार्थोहः प्रस्तावेऽनुक्तसिद्धिरुदीर्यते। यथा, विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण को देखकर सीता के प्रति उसकी सखी का यह कथन-दृश्येते तन्वि यावेतौ चारू चन्द्रमसं प्रति। प्राज्ञे कल्याणनामानावुभौ तिष्यपुनर्वसू।। यहाँ उन दोनों से विशिष्ट चन्द्रतुल्यता से प्राकरणिक नेत्रद्वयविशिष्ट मुख का ऊह होता है। (6/205)

अनुचितार्थत्वम्—एक काव्यदोष। सन्दर्भ के अनुसार यदि किसी शब्द से उचित अर्थ की प्रतीति न हो रही हो तो अनुचितार्थ दोष होता है। यथा-शूरा अमरतां यान्ति पशुभूता रणाध्वरे। यहाँ युद्धरूपी यज्ञ में शूरों की तुलना निरीह पशुओं के साथ की गयी है, जो सर्वथा अनुचित है। शूर यज्ञिय पशुओं के समान कातर नहीं होते। (7/3)

अनुनयः—एक नाट्यलक्षण। स्नेहपूर्ण वाक्यों के द्वारा अर्थ के सिद्ध करने को अनुनय कहते हैं-वाक्यैः स्निग्धैरनुनयो भवेदर्थस्य साधनम्। वे.सं. में अश्वत्थामा के प्रति कृपाचार्य की उक्ति "दिव्यास्त्रग्रामकोविदे भारद्वाजतुल्यपराक्रमे किं न सम्भाव्यते त्वयि?" इसका उदाहरण है। (6/194)

अनुप्रासः- एक शब्दालङ्कार। स्वरों की भिन्नता होने पर भी पद, पदांश की समानता को अनुप्रास कहते हैं-अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्। लक्षणवाक्य में 'अपि' पद का प्रयोग यह सूचित करता है कि स्वर की विषमता वैकल्पिक है, व्यञ्जन अवश्य भिन्न होने चाहिएँ, क्योंकि स्वरमात्र की समानता से कोई वैचित्र्य नहीं उत्पन्न होता परन्तु व्यञ्जनों के न्यास के विषय में यह भी शर्त है कि वह रसादि से सर्वथा अनुगत होना चाहिए। अर्थात् जहाँ शृङ्गारादि कोमल रस व्यङ्ग्य हों वहाँ कोमल वर्णों का तथा रौद्रादि रसों की अभिव्यक्ति होने पर टकारादि कठोर वर्णों का न्यास प्रकृष्ट है।

अनुप्रास के पाँच भेद हैं-छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास तथा लाटानुप्रास। (10/3)

अनुभावः-रस का एक अङ्ग। रति आदि स्थायीभाव जब उद्बुद्ध होकर रस के रूप में परिणत होते हैं तो उसकी प्रतिक्रिया के रूप में व्यक्ति के हावभाव बदल जाते हैं तथा वह उसी के अनुरूप कटाक्ष, भुजक्षेप आदि चेष्टायें करने लगता है। यही चेष्टायें अनु पश्चाद् भवन्ति इस व्युत्पत्ति के अनुसार अनुभाव कही जाती हैं। नायिकादि आलम्बन तथा चन्द्रादि उद्दीपन विभावों से रामादि के हृदय में उद्बुद्ध रत्यादि भावों को बाहर प्रकाशित करता हुआ नायक का व्यापार, लोक में जिसे कार्यरूप कहा जाता है, काव्य में उसे ही अनुभाव की अलौकिक संज्ञा प्रदान की गयी है-उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्। लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः।। स्त्रियों के अङ्गज और स्वभावज अलङ्कार, तद्रूप सात्त्विकभाव तथा चेष्टायें अनुभाव कही जाती हैं। (3/141)

अनुमानम्-गर्भसन्धि का एक अङ्ग। किसी हेतु से कुछ ऊह करना अनुमान कहा जाता है-लिङ्गादूहोऽनुमानता। यथा-लीलागतैरपि तरङ्गयतो धरित्रीमालोकनैर्नमयतो द्विषतां शिरांसि। तस्यानुमापयति काञ्चनकान्तिगौरकायस्य सूर्यतनयत्वमधृष्यताञ्च।। जा.रा. के इस पद्य में राम का लीलागतैः आदि हेतुओं से बालक के सूर्यवंशी होने का अनुमान करना। (6/102)

अनुमानम्-एक अर्थालङ्कार। हेतु के द्वारा साध्य के चमत्कारपूर्ण ज्ञान

को अनुमान कहते हैं–अनुमानं तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्। यथा–जानीमहेऽस्या हृदि सारसाक्ष्या विराजतेऽन्तः प्रियवक्त्रचन्द्रः। उत्कान्तिजालैः प्रसृतैस्तदङ्गेष्वापाण्डुता कुड्मलताक्षिपद्मे।। इस पद्य में चमत्कार वक्त्रचन्द्रः तथा अक्षिपद्म के रूपक के कारण निष्पन्न हुआ है।

उत्प्रेक्षा में साध्य का यह ज्ञान अनिश्चित होता है जबकि अनुमान में निश्चित। (10/82)

अनुरागेङ्गितानि–नायिका की अनुरागचेष्टायें। हृदय में मदन–विकार के अवतीर्ण हो जाने पर शरीर के विभिन्न अङ्गों की चेष्टायें, जो उनके हृद्गत भावों को अभिव्यक्त करती हैं, अनुरागेङ्गित कही जाती हैं। इन्हीं चेष्टाओं को देखकर विदग्ध पुरुष उनके मनोभावों को समझते हैं तथा प्रणयव्यापार को आगे बढ़ाते हैं। यथा–मुग्धा नायिकायें और कन्यायें नायक को देखकर लज्जा प्रकट करती है। वे नायक को सामने नहीं देखतीं बल्कि उसे घूमते हुए अथवा जाते हुए को छुपकर देखती हैं। बहुत बार पूछने पर मुख नीचा करके धीरे-2 गद्गद स्वर से प्रिय के साथ बात करती हैं। दूसरों के द्वारा उसकी चर्चा होने पर वे मुँह नीचा करके, दूसरी तरफ देखते हुए परन्तु सावधान होकर सुनती हैं। सभी प्रकार की नायिकायें प्रिय के पास देर तक ठहरने की इच्छा करती हैं। विना अलङ्कार धारण किये उसके सामने नहीं जातीं। कोई–कोई तो केश और वस्त्रादि को संयमित करने के व्याज से अपने स्तन, बाहुमूल और नाभि को साफ–2 दिखा देती हैं। अपनी वाणी से प्रिय के सेवकों को प्रसन्न रखती हैं। उसके मित्रों पर विश्वास करती हैं तथा उनका आदर करती हैं। सखियों में प्रिय के गुणों का कथन करती हैं और अपना धन भी देती हैं। उसके सोने पर सोती हैं, उसके दुःख में दुःखी होती हैं तथा सुख में सुखी होती हैं। प्रिय के दूर से देखते होने पर उसके दृष्टिपथ में रहती हैं। अपनी सखियों के सामने कामविकारों का कथन करती हैं। कुछ भी देखकर यों ही हँस पड़ती हैं। अपने कान खुजाती हैं। चोटी को खोलती और बाँधती हैं। जँभाई लेती हैं, अंगड़ाई लेती हैं। बालक का अलिङ्गन करके उसे चूमती हैं। अपनी सखी के मस्तक पर तिलक लगाती हैं। पैर के अँगूठे से जमीन पर लिखती हैं। तिरछी नज़र से देखती

हैं। अपने अधर को काटती हैं तथा प्रिय के साथ मुँह नीचा करके बात करती हैं। जहाँ से नायक दिखाई देता है उस स्थान को नहीं छोड़तीं। किसी कार्य के बहाने उसके घर आती हैं। प्रिय के द्वारा दी गयी किसी भी वस्तु को धारण करके बार-2 देखती हैं। उससे मिलकर सदा प्रसन्न होती हैं तथा उसके वियोग में मलिन और दुबली हो जाती हैं। उसके स्वभाव को बहुत अच्छा मानती हैं। उसकी प्रिय वस्तु से प्रेम करती हैं। कम मूल्य की वस्तुओं की प्रार्थना करती हैं। शयन में विमुख होकर नहीं सोतीं। उसके सामने आने पर सात्त्विक विकारों को प्राप्त करती हैं तथा प्रिय, सत्य और स्नेहपूर्ण भाषण करती हैं। इनमें से नवविवाहिता की चेष्टायें अधिक लज्जापूर्ण होती हैं, मध्या की कम लज्जापूर्ण होती हैं तथा परकीया, प्रगल्भा और वैश्या की निर्लज्जतापूर्ण होती हैं। नायिका की इन्हीं चेष्टाओं को देखकर नायक प्रणयव्यापार में प्रवृत्त होता है, क्योंकि-आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः। यद्यपि पुरुषविषयक अनुराग भी पहले प्रदर्शित किया जाता हुआ देखा ही गया है तथापि उक्त प्रकार से किया गया वर्णन अधिक हृदयङ्गम होता है। (3/132-34)

अनुवादायुक्तता-एक काव्यदोष। अनुवाद्य विशेषणों के विधि-विरोधी होने पर अनुवादायुक्तता नामक काव्यदोष होता है। यथा-चण्डीशचूडाभरण चन्द्रलोकतमोपह। विरहिप्राणहरण कदर्थय न मां वृथा।। यह विरही की उक्ति है जो चन्द्रमा से पीडित न करने की प्रार्थना कर रहा है परन्तु चन्द्रमा का विशेषण है-विरहिप्राणहरण। यह विशेषण विधिविरोधी होने के कारण अनुवाद्य नहीं है। यह अर्थदोष है। (7/5)

अनुवृत्तिः-एक नाट्यालङ्कार। विनयपूर्वक अनुगमन को अनुवृत्ति कहते हैं-प्रश्रयादनुवर्त्तनमनुवृत्तिः। यथा-अ.शा. में राजा का शकुन्तला से कुशलवचन "अपि तपो वर्धते" पूछने पर शकुन्तला का प्रत्युत्तर-"इदानीमतिथिविशेषलाभेन"।। (6/231)

अन्त्यानुप्रासः-अनुप्रास का एक भेद। प्रथम स्वर के साथ यथावस्थ व्यञ्जन की आवृत्ति होने पर अन्त्यानुप्रास कहा जाता है। यथावस्थ व्यञ्जन से अभिप्राय है कि इसमें अनुस्वार, विसर्ग, स्वर आदि की स्थिति पूर्ववत

रहे-व्यञ्जनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु। आवर्त्यते०। यह प्रायः पाद अथवा पद के अन्त में प्रयुक्त होता है। इन दोनों के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं-1) केशः काशस्तबकविकासः, कायः प्रकटितकरभविलासः। चक्षुर्दग्ध-वराटककल्पं, त्यजति न चेतः काममनल्पम्।। तथा 2) मन्दं श्वसन्तः पुलकं वहन्तः। प्रथम उदाहरण के प्रथम दो चरणों के अन्त में 'आसः' तथा अन्तिम दो चरणों के अन्त में 'अल्पम्' की आवृत्ति हुई है। द्वितीय उदाहरण पदान्तगत अन्त्यानुप्रास का है। यहाँ 'हसन्तः' और 'वहन्तः' इन दो पदों के अन्त में 'अन्तः' पद की आवृत्ति हुई है। अन्त में प्रयुक्त होने के कारण इसकी संज्ञा अन्त्यानुप्रास है। (10/7)

अन्यदनौचित्यम्-एक काव्यदोष। देशकालादि के विरुद्ध वर्णन भी अनौचित्य के अन्तर्गत आता है। यथा, नायिका का पादप्रहारादि, नायक का कोप, मुग्धा नायिका की धृष्टता, प्रौढ़ा और वेश्या की अतिलज्जा, प्रतिनायक के वंश, वीर्यादि का उत्कर्ष वर्णन, देवताओं के अङ्गों का शिर से आरम्भ करके वर्णन करना, मनुष्यों के अङ्गों का पाँव से आरम्भ करके वर्णन करना आदि। इस प्रकार के वर्णन होने पर काव्य असत्य सा प्रतीत होता है तथा सहृदय उसकी ओर उन्मुख नहीं हो पाता। यह रसदोष है। (7/6)

अन्योन्यम्-एक अर्थालङ्कार। दो पदार्थ जब परस्पर एक ही क्रिया को सम्पादित करें तो अन्योन्य अलङ्कार होता है- अन्योन्यमुभयोरेकक्रियायाः करणं मिथः। यथा-त्वया सा शोभते तन्वी, तया त्वमपि शोभसे। रजन्या शोभते चन्द्रश्चन्द्रेणापि निशीथिनी।। यहाँ नायक और नायिका के द्वारा तथा चन्द्रमा और रात्रि के द्वारा परस्पर शोभा उत्पन्न की जा रही है। (10/95)

अपवादः-विमर्श सन्धि का एक अङ्ग। दोष का कथन अपवाद कहा जाता है-दोषप्रख्याऽपवादः स्यात्। यथा, वे.सं. में युधिष्ठिर और पाञ्चालक के मध्य वार्त्तालाप में दुर्योधन का दोषकथन किया गया है। (6/110)

अपवारितम्-नाट्योक्ति का एक प्रकार। जो बात किसी एक पात्र से छुपाकर तथा घूमकर किसी दूसरे पात्र से कही जाये, उसे अपवारित कहते हैं-....तद्भवेदपवारितम्। रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते। (6/161)

अपस्मारः—एक व्यभिचारीभाव। चित्त की विक्षेपावस्था का नाम अपस्मार है जो भूतादि के प्रवेश से उत्पन्न होती है। इसमें पृथ्वी पर गिरना, कम्पन, पसीना आ जाना, मुख से झाग अथवा लार आदि आना होता है-मनः क्षेपस्त्वपस्मारो ग्रहाद्यावेशनादिजः। भूपातकम्पप्रस्वेदफेनलालादिकारकः।। यथा—आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैर्लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम्। फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के। इस पद्य में समुद्र को अपस्मारी पुरुष के समान वर्णित किया गया है। (3/159)

अपहसितम्—हास्य का एक भेद। जहाँ हँसते-2 आँख में पानी भी आ जाये उसे अपहसितं कहते हैं-अपहसितं सास्राक्षम्। यह नीच प्रकृति के लोगों का हास्य हैं। (3/221)

अपह्नुतिः—एक अर्थालङ्कार। उपमेय का प्रतिषेध करके उपमान की स्थापना अपह्नुति अलङ्कार है-प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः। कभी निषेधपूर्वक स्थापना होती है तो कभी उपमान को आरोपित करके फिर निषेध किया जाता है। इस प्रकार इसके दो भेद निष्पन्न होते हैं। इन दोनों प्रकारों के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं-नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः। नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नासौ कलङ्कः शयितो मुरारिः।। तथा, एतद्विभाति चरमाचलचूलचुम्बि हिण्डीरपिण्डरुचि शीतमरीचिबिम्बम्। उज्ज्वालितस्य रजनीं मदनानलस्य धूमं दधेत्प्रकटलाञ्छनकैतवेन।।

अपह्नुति का आचार्य विश्वनाथ ने एक और भी लक्षण प्रस्तुत किया है। किसी गोपनीय बात को पहले प्रकट कर फिर उसे श्लेष अथवा किसी अन्य उपाय से अन्यथा कर दिया जाये, वहाँ भी अपह्नुति अलङ्कार होता है-गोपनीयं कमप्यर्थं द्योतयित्वा कथञ्चन। यदि श्लेषेणान्यथा वाऽन्यथ-येत्साप्यपह्नुतिः।। तद्यथा-काले वारिधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम्। उत्कण्ठितासि तरले, नहि नहि सखि, पिच्छिलः पन्थाः।। यहाँ 'अपतितया' पद में श्लेष का उपयोग करके अभिलषितार्थ को छुपाया गया है। कभी-2 श्लेष के विना भी सादृश्य में अभिप्राय सूचित करके फिर उसका अपह्नव कर दिया जाता है। यथा-इह पुरोनिलकम्पितविग्रहा मिलति का न वनस्पतिना लता। स्मरसि किं सखि कान्तरतोत्सवं नहि घनागमरीतिरुदाहृता।।

वक्रोक्ति में दूसरे के कथन का अन्यथा अर्थ किया जाता है जबकि अपह्नुति में अपनी ही उक्ति के वास्तविक अभिप्राय का अपह्नव होता है। (10/55-56)

अपुष्टत्वम्–एक काव्यदोष। जहाँ कोई पदार्थ मुख्य अर्थ का उपकारी न हो वहाँ अपुष्टत्व दोष होता है। यथा-विलोक्य वितते व्योम्नि विधुं मुञ्च रुषं प्रिये। यहाँ 'वितत' पद का अर्थ मानत्याग रूप प्रधान अर्थ का उपकारी नहीं है। अधिकपदत्व में पदार्थ के अन्वय के साथ ही बाध का ज्ञान हो जाता है जबकि अपुष्टत्व में अन्वय के बाद बाध की प्रतीति होती है। यह अर्थदोष है। (7/5)

अप्रतीतः–एक काव्यदोष। जो किसी एकदेशमात्र में ही प्रसिद्ध हो उसे अप्रतीत दोष कहते हैं। यथा-योगेन दलिताशयः। यहाँ 'आशय' शब्द का अर्थ वासना (सुख-दुःख रूप फल देने के लिए जो अन्तःकरण में स्थित रहे, फलपाक के अनन्तर नष्ट हो जाये) केवल योगशास्त्र में ही प्रसिद्ध है परन्तु वक्ता और श्रोता यदि दोनों ज्ञाता हों तो यह गुणरूप ही होता है। यदि अपने आप से परामर्श अभिप्रेत हो तो भी अप्रतीत गुण हो जाता है। (7/3)

अप्रयुक्तता–एक काव्यदोष। व्याकरणकोशादि से सिद्ध होने पर भी कविसम्प्रदाय में अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग करना अप्रयुक्तत्व दोष है-अप्रयुक्तत्वं यथा प्रसिद्धावपि कविभिरनादृतत्वम्। यथा, पद्म शब्द 'वा पुंसि पद्मं नलिनम्' इस कोश के अनुसार पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त हो सकता है तथापि यह शब्द नपुंसकलिङ्ग में ही प्रसिद्ध है। श्लेषादि में अप्रयुक्तता दोष नहीं है। (7/3)

अप्रस्तुतप्रशंसा–एक अर्थालङ्कार। अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष, अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य, अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण, अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य अथवा अप्रस्तुत समान वस्तु से प्रस्तुत समान वस्तु का व्यञ्जन होने पर अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार होता है। क्वचिद् विशेषः सामान्यात्सामान्यं वा विशेषतः। कार्यान्निमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात्समम्।। अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद् गम्यते पञ्चधा ततः। अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात् . . . .।।

इसके यही पाँच प्रकार हैं। पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति। स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः।। कृष्ण के प्रति कही गयी बलभद्र की इस उक्ति में, 'हमसे धूलि भी अच्छी है,' यह विशेष प्रस्तुत है, जिसका 'अपमानेऽपि स्वस्थाद् देहिनः,' इस सामान्य से व्यञ्जन किया गया है। र.व. के प्रसिद्ध पद्य–स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्। विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया।। यहाँ सामान्य व्यङ्ग्य है जो विष और अमृतरूप विशेष से अभिहित है।

समासोक्ति के समान यहाँ व्यवहार का आरोप आवश्यक है जो कि शब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनि में नहीं होता। अतः यह उससे भिन्न है। उपमाध्वनि तथा समासोक्ति में अप्रस्तुत व्यङ्ग्य रहता है, यहाँ वाच्य भी। श्लेष में दोनों ही वाच्य रहते है, यहाँ एक व्यङ्ग्य रहता है। अतः यह इन सबसे भिन्न है। (10/77)

अभवन्मतसम्बन्धः–एक काव्यदोष। जहाँ वाक्य में प्रयुक्त पदों का परस्पर सम्बन्ध ही न बन सके, वहाँ अभवन्मतसम्बन्ध नामक काव्यदोष होता है। यथा–ईक्षसे यत्कटाक्षेण तदा धन्वी मनोभवः। इस पंक्ति में 'यत्' शब्द के साथ कालवाचक 'तदा' शब्द का अन्वय ही नहीं बनता। उसके स्थान पर 'चेत्' शब्द होना चाहिए। यह वाक्यदोष है। (7/4)

अभिधा–शब्द की एक शक्ति। सङ्केतित अर्थ का बोध कराने वाली शब्द की प्रथम शक्ति अभिधा कही जाती है–सङ्केतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा। यहाँ सङ्केतित का अर्थ 'मुख्य' है, अर्थात् इसके द्वारा शब्द के मुख्यार्थ का बोध होता है। बालक को सर्वप्रथम इसका ज्ञान आवापोद्वाप के द्वारा होता है। उत्तम वृद्ध के द्वारा मध्यम वृद्ध को उद्दिष्ट करके 'गामानय' ऐसा कहने पर बालक इस सम्पूर्ण पदसमूह का अर्थ 'सास्नादिमान् पदार्थविशेष का आनयन' ऐसा समझ लेता है। इसके अनन्तर 'गां बधान' तथा 'अश्वमानय' ऐसा सुनकर वह 'गो' पद का अर्थ सास्नादिमान् पदार्थविशेष, 'आनय' पद का अर्थ 'आनयन क्रिया' तथा इसी प्रकार 'अश्व' और 'बधान' पदों के सङ्केतित अर्थ का भी अवगम कर लेता है। एक शब्द के अनेकार्थक होने पर उसका एक निश्चित अर्थ में सङ्केतग्रह जिन साधनों से होता है, उनका

उल्लेख इस कारिका में किया गया है-शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च। वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः।। इन साधनों से ज्ञात सङ्केतित अर्थ का बोध कराने वाली, किसी दूसरी शक्ति से अव्यवहित शब्द की शक्ति अभिधा कही जाती है। (2/7)

अभिधामूला व्यञ्जना–शाब्दीव्यञ्जना का एक भेद। संयोगादि अर्थनियामकों के द्वारा अनेकार्थक शब्द के एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर भी जिस शक्ति के द्वारा अन्य व्यङ्ग्य अर्थ का ज्ञान होता है, वह अभिधाश्रया व्यञ्जना कही जाती है-अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते। एकत्रार्थेऽन्यधीहेतुर्व्यञ्जना सभिधाश्रया।। संयोगादि अर्थनियामकों का परिगणन इन कारिकाओं में किया गया है-संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः।। सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।। इस कारिका में पठित 'स्वर' वेद में ही विशिष्ट प्रतीति कराने वाला होता है, अतः काव्य में उसकी उपयोगिता नहीं है। आचार्य भरत ने यद्यपि शृङ्गारादि के विषय में स्वरनियम का उल्लेख किया है परन्तु वहाँ ये केवल व्यङ्ग्यार्थ की विशेषता ही बताते हैं, अनेकार्थक शब्दों को एक अर्थ में नियन्त्रित करना इनका कार्य नहीं है। दूसरी ओर श्लेष के प्रकरण में 'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते' ऐसा विधान स्पष्ट रूप से किया गया है। कारिका में 'आदि' पद से 'एतावन्मात्रस्तनी' आदि स्थलों में कमलकोरक आकार वाली हस्तादि की चेष्टाओं का परिगणन किया जाता है।

इसका उदाहरण आचार्य विश्वनाथ के तातपाद द्वारा रचित यह पद्य है- दुर्गालङ्घितविग्रहो मनसिजं सम्मीलयंस्तेजसा, प्रोद्यद्राजकलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभिः। नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढ़ां रुचिं धारयन्, गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः।। इस पद्य में उमादेवी के पति राजा भानुदेव की प्रशस्ति के साथ-2 महादेव का स्तुतिपरक अर्थ भी श्लेष के द्वारा भासित होता है। प्रकरण के अनुसार पद्य में प्रयुक्त द्व्यर्थक पदों के उमादेवी के पति भानुदेव के प्रशस्तिपरक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर उमा के पति महादेव रूप अर्थ व्यञ्जना ही के द्वारा बोधित होता है। अतः यह अभिधामूला व्यञ्जना का उदाहरण है। (2/21)

अभिनयः—नट के द्वारा अनुकार्य रामादि की अवस्था का अनुकरण। नट रङ्गमञ्च पर अनुकार्यभूत राम, युधिष्ठिर आदि की तत्तत् अवस्था को स्वयं पर आरोपित कर लेता है जिससे प्रेक्षक की 'यही राम अथवा युधिष्ठिर है' इस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। नट के द्वारा किया जाने वाला यह अनुकरणात्मक व्यापार ही अभिनय कहा जाता है- भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः। आचार्य भरत का कथन है कि यह अनुकरण वास्तव में रामादि के व्यापार का न होकर लोकव्यवहार का ही अनुवर्तन है-त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्त्तनम्। यहाँ अभिनवगुप्त ने इसके अनुकरण रूप होने का विस्तार से खण्डन किया है तथा भरत के अनुकीर्त्तन शब्द का अर्थ न्यायदर्शन की शब्दावली में 'अनुव्यवसाय' किया है परन्तु स्वयं भरत उस दार्शनिक विस्तार में नहीं गये तथा अन्यत्र उन्होंने स्वयं नाट्य के सन्दर्भ में 'अनुकरण' शब्द का ही प्रयोग किया है-लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्। आचार्य विश्वनाथ ने भरत की ही सरणि में अभिनय को अवस्थाविशेष का अनुकरण कहा है। अभिनय नाट्य का प्राणभूत तत्त्व है, अतएव इसकी एक संज्ञा अभिनेयार्थ भी है।

यह चार प्रकार का होता है-आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। (6/3)

अभिप्रायः—एक नाट्यलक्षण। सादृश्य के कारण असम्भव वस्तु की कल्पना को अभिप्राय कहते हैं-अभिप्रायस्तु सादृश्यादभूतार्थस्य कल्पना। यथा-इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति। ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति।। अ.शा. के इस पद्य में कोमल शरीर को तपस्या के लिए अयोग्य वर्णित किया गया है। (6/181)

अभिमानः—एक नाट्यालङ्कार। अहङ्कार को अभिमान कहते हैं-अभिमानः स एव स्यात्। यथा, वे. सं. में गान्धारी के पाण्डवों को राज्य देने के लिए कहने पर दुर्योधन की उक्ति-मातः किमप्यसदृशं कृपणं वचस्ते। (6/230)

अभिलाषा—पूर्वराग में काम की प्रथम दशा। प्रिय के साथ मिलन की इच्छा को अभिलाषा कहते हैं- अभिलाषः स्पृहा। यथा-प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदयास्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि।

यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणादाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्या नन्दसान्द्रो लयः।। इस पद्य में मालती के साक्षात् दर्शन से उत्पन्न राग वाले माधव की अभिलाषा का वर्णन हुआ है। (3/196)

अभिसारिका–नायिका का एक भेद। काम के वशीभूत होकर जो नायिका सङ्केतस्थल पर नायक को बुलाये अथवा स्वयम् अभिसार करे वह अभिसारिका कही जाती है-अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा। स्वयं वाभिसरत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका।। अभिसार के इन दोनों प्रकारों के उदाहरण इस प्रकार हैं-(1) न च मेऽवगच्छति यथा लघुतां करुणा यथा च कुरुते स मयि। निपुणं तथैनमभिगम्य वदेरभिदूति काचिदिति सन्दिदिशे।। तथा (2) उत्क्षिप्तं करकङ्कणं द्वयमिदं बद्धा दृढ़ं मेखला, यत्नेन प्रतिपादिता मुखरयोर्मञ्जीरयोर्मूकता। आरब्धे रभसान्मया प्रियसखि क्रीडाभिसारोत्सवे, चाण्डालस्तिमिरावगुण्ठनपटक्षेपं विधत्ते विधुः।।

यदि कुलीन स्त्री अभिसरण करे तो वह सिमटती हुई, आभूषणों की ध्वनि शान्त करके, घूँघट निकाल कर जायेगी। वैश्या विचित्र और उज्ज्वल वेष धारण करके, नूपुर और कङ्कणों की ध्वनि करती हुई, आनन्द से मुस्कुराती हुई अभिसरण करती है जबकि दासी मत्त होकर अटपटी बातें करती हुई, हड़बड़ी से प्रफुल्ल नेत्रों वाली, बहकी हुई चाल से अभिसरण करती है।

खेत, वाटिका, टूटा हुआ मन्दिर, दूती का घर, जङ्गल, उद्यान, श्मशान, नदी आदि का तट अथवा कोई भी अन्धकारावृत स्थान सङ्केतस्थल हो सकता है।

अभिहितान्वयवादः–वाक्य के तात्पर्यार्थ का निरूपक सिद्धान्त। अभिहितान्वयवाद से अभिप्राय है, वह सिद्धान्त जिसमें अभिहित पदों का किसी स्वतन्त्र शक्ति के द्वारा परस्पर अन्वय स्थापित किया जाये। आचार्य विश्वनाथ ने पद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसका एक विशेषण 'अनन्वित' दिया है। अतः पदों के पृथक्-2 उपस्थित अर्थों के परस्पर अन्वय के लिए तात्पर्य नामक वृत्ति को मानना अनिवार्य हो जाता है। अभिधा शक्ति के द्वारा एक-एक पदार्थ का बोध कराकर विरत हो जाने पर पदार्थों में परस्पर अन्वय को स्थापित कर वाक्यार्थ का बोध कराने वाली वृत्ति तात्पर्या है। यह मीमांसकों का अभिहितान्वयवाद है। (2/27)

अभूताहरणम्–गर्भसन्धि का एक अङ्ग। कपटयुक्त वचन को अभूताहरण कहते हैं-व्याजाश्रयं वाक्यमभूताहरणम्। यथा वे.सं. में युधिष्ठिर ने 'अश्वत्त्थामा हतः' इतना वाक्य तो स्पष्ट कहा परन्तु 'गजः' इतना धीरे से। इससे द्रोणाचार्य ने शस्त्र और नेत्रजल दोनों को साथ-2 ही छोड़ा। यहाँ युधिष्ठिर का वचन 'अभूताहरण' नामक सन्ध्यङ्ग है। (6/96)

अमतपरार्थत्वम्–एक काव्यदोष। जहाँ कोई अनिष्ट अर्थान्तर प्रतीत होता हो, वहाँ अमतपरार्थत्व नामक दोष होता है। यथा-राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदयेन निशाचरी। गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा।। रामरूपी कामदेव के बाण से ताडित वह राक्षसी (ताडका) दुःसह हृदय के साथ गन्धयुक्त रक्तरूपी चन्दन से उपलिप्त होकर जीवितेश (यमराज) के निवास पर चली गयी। यहाँ प्रकृत सन्दर्भ बीभत्स रस का है, उसमें अनिष्ट शृङ्गार की प्रतीति हो रही है। अतः यहाँ अमतपरार्थत्व दोष है। यह वाक्यदोष है। (7/4)

अमर्षः–एक व्यभिचारीभाव। निन्दा, आक्षेप, अपमानादि से उत्पन्न चित्त का अभिनिवेश अमर्ष (क्रोध) कहा जाता है। आँखें लाल हो जाना, शिर में कम्प उत्पन्न होना, भ्रुकुटि का तन जाना तथा तर्जना आदि इसके अनुभाव हैं-निन्दाक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता। नेत्ररागशिरःकम्पभ्रूभङ्गोत्तर्जनादिकृत्।। यथा-प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात्। न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम्।। इस पद्य में परशुराम के अमर्षभाव का वर्णन हुआ है। (3/163)

अरुचिः–प्रवासविप्रलम्भ में काम की पञ्चम दशा। सब वस्तुओं से वैराग्य हो जाना, जब कुछ भी खाद्य अथवा दृश्य अच्छा न लगे तो अरुचि नामक कामदशा होती है-अरुचिर्वस्तुवैराग्यम्। (3/212)

अर्थप्रकृतिः–नाट्यवस्तु के उपादान। नाट्य के फल के साधन को अर्थप्रकृति कहते हैं-अर्थप्रकृतयः प्रयोजनसिद्धिहेतवः। इसके पाँच भेद हैं-बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। ये पाँच वस्तुतः कथावस्तु के उपादान कारण हैं। (6/46)

अर्थविशेषणम्–एक नाट्यालङ्कार। किसी के द्वारा कही गयी एक बात का अनेक प्रकार से उपालम्भ के रूप में कथन करना अर्थविशेषण कहा जाता है-उक्तस्यार्थस्य यत्तु स्यादुत्कीर्त्तनमनेकधा। उपालम्भस्वरूपेण

तत्स्यादर्थविशेषणम्।। यथा, अ.शा. में राजा के प्रति शार्ङ्गरव का कथन-आः कथमिदं नाम। किमिदमुपन्यस्तमिति। ननु भवानेव नितरां लोकवृत्तान्तनिष्णातः। सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां, जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते। अतः समीपे परिणेतुरिष्यते, प्रियाऽप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः।। (6/227)

अर्थान्तरन्यासः–एक अर्थालङ्कार। सामान्य का विशेष से, विशेष का सामान्य से, कार्य का कारण से तथा कारण का कार्य से साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के द्वारा यदि समर्थन किया जाये तो अर्थान्तरन्यास अलङ्कार होता है-सामान्यं वा विशेषेण, विशेषस्तेन वा यदि। कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते। साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः। इसके यही पूर्वोक्त आठ प्रकार हैं। यथा- बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति। सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा।। इस श्लोक में पूर्वार्ध में उक्त सामान्य कथन का उत्तरार्ध में उक्त विशेष कथन से समर्थन किया गया है। (10/80)

अर्थापत्तिः–एक नाट्यलक्षण। किसी एक अर्थ के कथन से जहाँ अन्य अर्थ की प्रतीति हो, उसे अर्थापत्ति कहते हैं-अर्थापत्तिर्यदन्योर्थोऽर्थान्तरोक्तेः प्रतीयते। यथा-वे.सं. में कर्ण के द्वारा दुर्योधन को यह कहने पर कि द्रोणाचार्य अश्वत्थामा को राजा बनाना चाहते हैं, दुर्योधन उसे साधुवाद देकर, दत्त्वाऽभयं सोऽतिरथो वध्यमानं किरीटिना। सिन्धुराजमुपेक्षेत नैवं चेत्कथमन्यथा।।, इस पद्य से द्रोण के जयद्रथ को न बचा पाने की घटना को अन्यथा व्याख्यायित करते हैं। (6/196)

अर्थापत्तिः–एक अर्थालङ्कार। दण्डापूपिका न्याय से अर्थान्तर की प्राप्ति अर्थापत्ति अलङ्कार है-दण्डापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते। दण्डापूपिका से अभिप्राय है कि मूषक ने यदि दण्ड खा लिया है तो उसके साथ लगे हुए पूए भी अवश्य खा लिये होंगे अर्थात् यदि कठिन कार्य सिद्ध हो गया है तो सुगम कार्य भी अवश्य सिद्ध हो गया होगा। इस प्रकार की प्रतीति अर्थापत्ति है। इसमें कहीं प्राकरणिक (प्रकृत) अर्थ से अप्राकरणिक (अप्रकृत) अर्थ की प्रतीति होती है तो कहीं अप्राकरणिक (अप्रकृत) अर्थ से प्राकरणिक (प्रकृत) अर्थ की। इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं-हारोऽयं हरिणाक्षीणां लुठति स्तनमण्डले। मुक्तानामप्यवस्थेयं के वयं

स्मरकिङ्कराः।। तथा, विललाप स वाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम्। अतितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिणाम्।। इन पद्यों में मुक्तों के इस अवस्था को प्राप्त होने तथा अतितप्त होने पर लोहे के पिघल जाने से अन्यों का सुगमतया वशीभूत हो जाना तथा मृदु हो जाना अर्थापन्न है।

श्लेष से युक्त होने पर यह अलङ्कार अधिक चमत्कारक होता है। (10/108)

अर्थालङ्कारः–अलङ्कार का एक भेद। जहाँ शब्द का परिवर्तन कर देने पर भी अलङ्कार नष्ट न हो, वहाँ अर्थालङ्कार होता है। सा.द. में सत्तर से अधिक अर्थालङ्कारों का विवेचन है।

अर्थोपक्षेपकः–रूपक में सूच्य वस्तु को सूचित करने का प्रकार। जो युद्धादि की कथा अङ्कों में प्रदर्शित नहीं की जा सकती परन्तु उसे बतलाना आवश्यक है, ऐसी दो दिन से लेकर एक वर्ष पर्यन्त घटित होने वाली तथा इसके अतिरिक्त भी कोई अन्य कथा, जो अतिविस्तृत हो, अर्थोपक्षेपक के द्वारा सूचित की जा सकती है। इसके अतिरिक्त जो कार्य दिन के अवसान में सम्पाद्य हो तथा दिन में उसका प्रयोग उपपन्न न हो सके, उसे अङ्कच्छेद करके अर्थोपक्षेपक के द्वारा सूचित करना चाहिए–अङ्केष्वदर्शनीया या वक्तव्यैव च सम्मता। या च स्याद्वर्षपर्यन्तं कथा दिनद्वयादिजा। अन्या च विस्तरा सूच्या सार्थोपक्षेपकैर्बुधैः।। दिनावसाने कार्यं यद्दिनेनैवोपपद्यते। अर्थोपक्षेपकैर्वाच्यमङ्कच्छेदं विधाय यत्।। जो कथावस्तु एक वर्ष से अधिक है, उसे एक वर्ष से कम की बना देना चाहिए। इसका निर्देश स्वयं भरतमुनि के द्वारा दिया गया है। आचार्य भरत का कथन है कि–अङ्कच्छेदे कार्यं मासकृतं वर्षसञ्चितं वापि। तत्सर्वं कर्त्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित्।। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र के चौदह वर्ष के वनवास आदि की घटना को भी रूपक में वर्ष, मास, दिन, प्रहर आदि में ही प्रदर्शित किया जाता है।

अर्थोपक्षेपक पाँच प्रकार का होता है–विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अङ्कावतार, अङ्कमुख। (6/33–36)

अर्धान्तरैकपदत्वम्–एक काव्यदोष। छन्द में दो चरणों की एक इकाई होती है। यदि कोई एक पद दूसरे अर्धभाग में चला जाये तो अर्धान्तरैकपदत्व

नामक दोष होता है। यथा-इन्दुर्विभाति कर्पूरगौरैर्धवलयन्करैः। जगन्मा कुरु तन्वङ्गि मानं पादानते प्रिये।। इस पद्य में 'जगत्' पद पूर्वार्ध में पढ़ा जाना चाहिए। यह वाक्यदोष है। (7/4)

अलङ्कारः–काव्य का उत्कर्षाधायक तत्त्व। अलङ्कार शब्द और अर्थ के माध्यम से रस का उत्कर्ष करते हुए काव्य का उपकार करते हैं। इसका लक्षण है-शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः। रसादीनुपकुर्वन्तोऽ-लङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्।। अङ्गदादि जिस प्रकार शरीर की शोभा का अतिशय करते हुए शरीरी का उपकार करते हैं, उसी प्रकार अनुप्रासोपमादि शब्दार्थ के माध्यम से काव्यसर्वस्वभूत रसभावादि को उपकृत करते हैं। गुण और रीतियों को भी काव्य के उत्कर्षक बताया गया है परन्तु गुण रस में ही अवस्थित होते हैं तथा स्थित होने पर अवश्य साक्षात् रस का उपकार करते हैं परन्तु अलङ्कार शब्द और अर्थ के धर्म हैं, रस के नहीं। अतएव ये परम्परा से शब्दार्थ के माध्यम से रस का उपकार करते हैं। इसके अतिरिक्त गुण काव्य के नित्य धर्म हैं जबकि अलङ्कारों की स्थिति काव्य में अनिवार्य नहीं है। मम्मट ने कहा है-अनलङ्कृती पुनः क्वापि अर्थात् काव्यगत शब्द और अर्थ कभी-2 अनलङ्कृत भी होते हैं। रीति भी काव्यशोभा की उत्कर्षक है तथा काव्य के आत्मभूत रसादि की उपकारक होती है परन्तु वह पदों की सङ्घटना मात्र है, अतः उसकी स्थिति काव्य के अङ्गसंस्थान की तरह है जबकि अलङ्कार शब्द और अर्थरूप काव्यशरीर की शोभा के वर्धक अङ्गदादि आभूषणों के समान हैं।

ये शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। शब्द और अर्थ के रूप में विभाजन का आधार अन्वयव्यतिरेक है। जहाँ शब्द की परिवृत्ति कर देने पर भी अलङ्कारत्व अक्षुण्ण रहे वहाँ अर्थालङ्कार तथा जहाँ शब्द में परिवर्तन करने से अलङ्कारता नष्ट हो जाये वहाँ शब्दालङ्कार होता है। (10/1)

अवपातनम्–आरभटी वृत्ति का एक अङ्ग। प्रवेश, त्रास, निष्क्रमण, हर्ष और विद्रव की उत्पत्ति को अवपातन कहते हैं-प्रवेशत्रासनिष्क्रान्तिहर्ष-विद्रवसम्भवः। अवपातनमित्युक्तम् . . . . ।। यथा, कृत्यरावण के षष्ठाङ्क में खड्गहस्त पुरुष का प्रसङ्ग। (6/159)

अवलगितम्—वीथ्यङ्ग। प्रस्तावना का एक भेद। जहाँ एक प्रयोग में समावेश करके किसी पात्र के प्रवेश रूप अन्य कार्य को सिद्ध किया जाये उसे अवलगित कहते हैं–यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते। प्रयोगे खलु तज्ज्ञेयं नाम्नावलगितं बुधैः।। यथा, अ.शा. में सूत्रधार नटी की प्रशंसा करता हुआ–तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः। एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा।। इस पद्य का प्रयोग करता है तथा इसी के साथ राजा दुष्यन्त का रङ्गमञ्च पर प्रवेश हो जाता है। (6/22)

अवस्यन्दितम्—वीथ्यङ्ग। अपनी सहज उक्ति का अन्यथा व्याख्यान अवस्यन्दित कहा जाता है–व्याख्यानं स्वरसोक्तस्यान्यथावस्यन्दितं भवेत्। इसका उदाहरण छलितराम नामक नाटक का वह प्रसङ्ग है जहाँ सीता लव से 'जात! स खलु युवयोः पिता।' अपने इस स्वाभाविक वाक्य को छुपाती हुई 'मा अन्यथा शङ्केथाम्। न खलु युवयोरेव सकलाया अपि पृथिव्या इति', इस प्रकार अर्थान्तर कर देती है। (6/271)

अवहसितम्—हास्य का एक भेद। जहाँ नेत्रविकास, अधर-स्फुरण, दाँतों के विलक्षित होने और मधुर स्वर के साथ-2 कन्धे और शिर में कुछ-कुछ कम्पन भी प्रतीत हो उसे अवहसित कहते हैं–सांसशिरःकम्पनमवहसितम्। यह मध्यम प्रकृति के लोगों का हास्य है। (3/221)

अवहित्था—एक व्यभिचारीभाव। भय, गौरव, लज्जा आदि के कारण हर्षादि के आकार को छुपाना अवहित्था कहलाता है। इसमें किसी अन्य काम में लग जाना, कुछ अन्य बात करने लगना, इधर-उधर देखना आदि होता है–भयगौरवलज्जादेर्हर्षाद्याकारगुप्तिरवहित्था। व्यापारान्तरसक्त्यन्यथा-भाषणविलोकनादिकरी। यथा–एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी। लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।। कु.स. के इस पद्य में विवाह की चर्चा के समय समीपस्थित पार्वती की अवहित्था का वर्णन है। (3/165)

अवहित्था—शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

अवाचकः—एक काव्यदोष। जो शब्द उस अर्थ का वाचक नहीं है उसमें उसका प्रयोग होने पर अवाचक दोष होता है। यथा–'गीतेषु कर्णमादत्ते।' यहाँ 'कान देना' इस प्रकार देने के अर्थ में आङ्पूर्वक √दा का प्रयोग है जबकि 'आ' उपसर्ग लगने पर इसका अर्थ 'लेना' होता है, अतः यह शब्द इस

अर्थ में अवाचक है। इसी प्रकार 'दिनं मे त्वयि सम्प्राप्ते ध्वान्तच्छन्नापि यामिनी' इस उदाहरण में दिन शब्द 'प्रकाशमय' अर्थ को प्रकट कर रहा है परन्तु यह इस अर्थ का वाचक नहीं है। दिन शब्द का अर्थ होता है-सूर्य से युक्त काल। किसी भी प्रकार के प्रकाश की अवस्था में 'दिन' शब्द का प्रयोग नहीं होता। 'वर्ण्यते किं महासेनो विजेयो यस्य तारकः', यहाँ 'विजेय' में यत् प्रत्यय क्त के अर्थ में है। अतः यह पदांशगत अवाचक का उदाहरण है। (7/3)

अविशेषेविशेषत्वम्–एक काव्यदोष। अविशेष बहुव्यापक होता है, विशेष अल्पव्यापक। अतः बहुव्यापक विषय में अल्पव्यापक शब्द का प्रयोग करना दोष ही है। यथा-हीरकाणां निधेरस्य सिन्धोः किं वर्णयामहे। वस्तुतः समुद्र को रत्ननिधि कहना चाहिए। हीरकों में अल्पव्यापकत्व है, अतः यह अविशेष के स्थान पर विशेष का प्रयोग हुआ। (7/5)

अश्रुः–एक सात्त्विक अनुभाव। क्रोध, दुःख तथा अत्यन्त हर्ष से नेत्रों में जल का आ जाना अश्रु कहा जाता है-अश्रु नेत्रोद्भवं वारि क्रोध-दुःखप्रहर्षजम्। (3/146)

अश्लीलत्वम्–एक काव्यदोष। व्रीडा, घृणा अथवा अमङ्गल रूप असभ्य अर्थ का व्यञ्जक अश्लील कहा जाता है-अश्लीलत्वं व्रीडाजुगुप्सामङ्गलव्यञ्जकत्वात्। यथा-दृप्तारिविजये राजन् साधनं सुमहत्तव, में 'साधन' पद लिङ्ग अर्थ का भी वाचक होने से व्रीडादायक है। प्रससार शनैर्वायुर्विनाशे तन्वि ते तदा, में 'वायु' पद अपानवायु का भी वाचक होने से जुगुप्सादायक तथा 'विनाश' शब्द अमङ्गलसूचक है। पाणिः पल्लवपेलवः, इस पंक्ति में 'पेलव' शब्द के प्रथम दो अक्षरों से लज्जाजनक अश्लीलता की प्रतीति होती है, अतः यह पदांशगत दोष भी है। दो पदों की सन्धि के कारण यदि किसी अश्लील अर्थ की कल्पना होती हो तो वह वाक्यगत अश्लील दोष होता है। यथा-चलण्डामरचेष्टितः। यहाँ चलन् और डामर पदों में सन्धि के कारण घृणावाचक अश्लीलत्व की प्रतीति होती है। अश्लील दोष अर्थविषयक भी होता है। यथा–हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः। यथाशु जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः।। यहाँ शिश्नरूप व्रीडाव्यञ्जक अश्लील अर्थ की प्रतीति होती है। कामगोष्ठी आदि में अश्लीलत्व दोष नहीं होता। (7/3-6)

असङ्गतिः—एक अर्थालङ्कार। कार्य और कारण के अलग-2 स्थान पर होने से असङ्गति अलङ्कार होता है-कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः। यथा-सा बाला वयमप्रगल्भमनसः सा स्त्री वयं कातराः, सा पीनोन्नतिमत्पयोधरयुगं धत्ते सखेदा वयम्। साक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा गन्तुं न शक्ता वयं, दोषैरन्यजनाश्रयैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम्।। इस पद्य में कारण नायिका में विद्यमान हैं तथा उनका फल नायक में दृष्टिगोचर हो रहा है।

यह विरोधालङ्कार का अपवाद है। विरोधालङ्कार में एक देश में स्थित वस्तुओं का विरोध होता है जबकि असङ्गति में वे भिन्न देश में स्थित होती हैं। (10/90)

असत्प्रलापः—वीथ्यङ्ग। असम्बद्ध वाक्य अथवा उत्तर को असत्प्रलाप कहते हैं। न समझते हुए मूर्ख के समक्ष कहे गये हितकारक कथन भी असत्प्रलाप हैं-असत्प्रलापो यद्वाक्यमसम्बद्धं तथोत्तरम्। अगृह्णतोऽपि मूर्खस्य पुरो यच्च हितं वचः।। इसका उदाहरण आचार्य विश्वनाथकृत पद्य 'अलिकुलमञ्जुलकेशी परिमलबहुला रसावहा तन्वी। किसलयपेशलपाणिः कोकिलकलभाषिणी प्रियतमा मे ।। यहाँ प्रद्युम्न आम्रवल्ली को देखकर प्रियतमा की कल्पना करते हुए कामोन्मत्त होकर असम्बद्ध प्रलाप कर रहा है। मूर्ख को कहे गये हितकारी वचन का उदाहरण वे.सं. नाटक में दुर्योधन के प्रति कहे गये गान्धारी के वाक्य हैं। (6/273)

असमर्थः—एक काव्यदोष। जो शब्द किसी अर्थ का वाचक नहीं हो सकता वह उस अर्थ के प्रति असमर्थ होता है। यथा-कुञ्जं हन्ति कृशोदरी। इस पंक्ति में 'हन्ति' पद का प्रयोग 'गच्छति' अर्थ में हुआ है। यद्यपि √हन् गति अर्थ में पठित है तथापि इस अर्थ में हन् धातु का प्रयोग सर्वथा नहीं होता। यह पददोष है। (7/3)

असूया—एक व्यभिचारीभाव। उद्धतता के कारण दूसरों के गुणों व समृद्धि को सहन न करना असूया कही जाती है। दूसरे के दोषों का कथन करना, भ्रूभङ्ग, तिरस्कार, क्रोधादि इसके अनुभाव हैं-असूयान्यगुणर्द्धीनामौद्धत्याद-सहिष्णुता। दोषोद्घोषभ्रूविभेदावज्ञा क्रोधेङ्गितादिकृत्।। यथा-अथ तत्र पाण्डुतनयेन सदसि विहितं मधुद्विषः। मानमसहत न चेदियतिः परिवृद्धिमत्सरि-

मनो हि मानिनाम्।। यहाँ श्रीकृष्ण के सम्मान को सहन न करते हुए शिशुपाल का वर्णन है। (3/175)

असौष्ठवम्–प्रवासविप्रलम्भ में काम की प्रथम दशा। प्रिय के अन्य देश में चले जाने पर नायिका शृङ्गारादि में प्रवृत्त नहीं होती, अतः उसके अङ्गों में मलिनता रहती है। यह असौष्ठवनामक काम की दशा है-असौष्ठवं मलापत्तिः। (3/212)

अस्थानयुक्तता–एक काव्यदोष। जो शब्द जहाँ नहीं प्रयुक्त होने चाहिएँ वहाँ उनका प्रयोग अस्थानयुक्तता है। यथा-आज्ञाशक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं, भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लङ्केति दिव्या पुरी। उत्पत्तिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते, स्याच्चेदेष न रावणः क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः।। बा. रा. में जनक के प्रति शतानन्द की इस उक्ति में 'स्याच्चेदेष न रावणः' पर ही वाक्य समाप्त हो जाता है। इसके बाद का अंश अस्थान में प्रयुक्त है क्योंकि इससे रावण की उपेक्षणीयता कम हो जाती है। यह अर्थदोष है। (7/5)

अस्थानस्थपदता–एक काव्यदोष। अनुचित स्थान में किसी पद को रखने से अस्थानस्थपदत्व दोष होता है। यथा-तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात् प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम्। अयत्नबालव्यजनीबभूवुर्हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः।। यहाँ 'तदीये' में 'तत्' पद से गङ्गा का परामर्श होता है, अतः उसे इससे पूर्व आ जाना चाहिए। यथा च-हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः। यहाँ 'संशृणुते' के साथ नञ् का सम्बन्ध है, अतः नञ् उसी के पूर्व रहना चाहिए। यह वाक्यदोष है। (7/4)

अस्थानस्थसमासता–एक काव्यदोष। अनुचित स्थान में समास करने को अस्थानस्थसमासता कहते हैं। यथा-अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि, स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः। प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात् फुल्लत्कैरवकोषनिस्सरदलिश्रेणीकृपाणं शशी।। यहाँ पूर्वार्ध में क्रोधपूर्ण चन्द्रमा की उक्ति है परन्तु वहाँ समास नहीं किया गया जबकि उत्तरार्ध में कवि की उक्ति में कठोरताद्योतक दीर्घ समास है। यह वाक्यदोष है। (7/4)

आकाशभाषितम्–नाट्य में किसी पात्र के द्वारा दूसरे पात्र के विना

ही, विना कही गयी बात को भी सुनते से हुए जो 'क्या कहते हो', इस प्रकार का कथन किया जाता है उसे आकाशभाषित कहते हैं-किं ब्रवीषीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते। श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभाषितम्।। (6/161)

आक्रन्दः—एक नाट्यालङ्कार। शोक से विलाप करना आक्रन्द कहा जाता है-आक्रन्दः प्रलपितं शुचा। यथा, वे. सं. में कञ्चुकी का, हा देवि कुन्ति! राजभवनपताके! आदि संवाद। (6/209)

आक्षेपः—एक अर्थालङ्कार। विवक्षित वस्तु के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करने के लिए उसका निषेध सा करना आक्षेपालङ्कार कहा जाता है-वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये। निषेधाभास आक्षेपः . . . . .।। यह दो प्रकार का हो सकता है-(1) वक्ष्यमाण वस्तु का निषेध करने पर तथा (2) उक्त वस्तु का निषेध करने पर। वक्ष्यमाणविषय में कभी सामान्य रूप से सूचित सारी वस्तु का निषेध कर दिया जाता है, कभी उसका एक अंश कहकर दूसरे अंश का निषेध होता है। उक्त विषय में भी कहीं वस्तु के स्वरूप का निषेध होता हैं कहीं उसके कथन का। इस प्रकार आक्षेप के चार भेद निष्पन्न होते हैं।

आक्षेपालङ्कार का एक दूसरा रूप भी है जहाँ अनिष्ट का विधान आभासित होता है-अनिष्टस्य तथार्थस्य विध्याभासः परो मतः। यथा—गच्छ गच्छसि चेत्कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः। ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान्।। यहाँ गमन की विधि अन्ततः गमन के निषेध में अवसित होती है। अतः यह विध्याभास है। (10/85-86)

आख्यानम्—एक नाट्यालङ्कार। पूर्व इतिहास का कथन आख्यान कहा जाता है-आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिः। यथा, वे.सं. में अश्वत्थामा की उक्ति-देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन् ह्रदाः पूरिताः।। (6/237)

आख्यायिका—गद्यकाव्य का एक भेद। सामान्य रूप से आख्यायिका कथा के ही समान होती है परन्तु इसमें कवि के पास अवसर होता है कि वह अपने वंश का तथा कहीं-2 अन्य कवियों का वृत्तान्त भी वर्णित करता है। मध्य-2 में कहीं-2 पद्यों का भी निवेश होता है जो आर्या, वक्त्र अथवा

अपरवक्त्र छन्दों में निबद्ध होते हैं। कथांशों का विभाजन आश्वास नाम से किया जाता है। उनके प्रारम्भ में उपर्युक्त छन्दों अथवा अन्योक्ति से भावी कथावस्तु की सूचना दी जाती है –आख्यायिका कथावत्सा कवेर्वंशादिकीर्त्तनम्। अस्यामन्यकवीनाञ्च तथा वृत्तं क्वचित् क्वचित्। कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते। आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येनकेनचित्। अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम्।। इसका उदाहरण हर्षचरित आदि हैं।

भामहादि आचार्यों का मत है कि आख्यायिका में नायक स्वयम् अपनी कथा कहता है-वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम्। परन्तु इसका खण्डन आचार्य दण्डी के द्वारा पहले ही कर दिया गया है–अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्। (6/312)

आङ्गिकः–अभिनय का एक प्रकार। शिर, हाथ, वक्ष, पार्श्व, कटि तथा पैर इन छह अङ्गों तथा नेत्र, भ्रू, नासा, अधर, कपोल तथा चिबुक इन छह उपाङ्गों के द्वारा अनुकार्य रामादि की चेष्टाओं का अनुकरण आङ्गिक अभिनय है। (6/3)

आदानम्–विमर्शसन्धि का एक भेद। समस्त कार्यों को सङ्गृहीत कर देना आदान कहा जाता है–कार्यसङ्ग्रह आदानम्। यथा वे.सं. में–नाहं रक्षो न भूतो रिपुरुधिरजलाक्लेदिताङ्गः प्रकामं, निस्तीर्णोरुप्रतिज्ञाजलनिधिगहनः क्रोधनः क्षत्रियोऽस्मि। भो भो राजन्यवीराः समरशिखिशिखाभुक्तशेषाः कृतं वस्त्रासेनानेन लीनैर्हतकरितुरगान्तर्हितैरास्यते यत्।। इस पद्य में समस्त शत्रुओं का वध सङ्गृहीत किया गया है। (6/121)

आधिकारिकम्–कथावस्तु का एक प्रकार। काव्य के प्रधानफल का स्वामित्व अधिकार कहा जाता है और उस फल का स्वामी अधिकारी होता है। अधिकारी की कथा को ही आधिकारिक वस्तु कहा जाता है– अधिकारः फले स्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः। तस्येतिवृत्तं कविभिराधिकारिकमुच्यते।। यथा, रामायण में राम अधिकारी है, अतः उसकी कथा आधिकारिक कही जायेगी। (6/24)

आनन्दः–निर्वहणसन्धि का एक अङ्ग। अभीष्ट की प्राप्ति को आनन्द

कहते हैं-आनन्दो वाञ्छितागमः। यथा वे.सं. में द्रौपदी का यह कथन- विस्मृतमेतं व्यापारं नाथस्य प्रसादेन पुनरपि शिक्षिष्ये। (6/131)

आमुखम्—रूपक की प्रस्तावना। जहाँ नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्विक स्थापक के साथ अपने कार्य के विषय में विचित्र वाक्यों से इस प्रकार संलाप करें जिससे प्रस्तूयमान वस्तु की सूचना प्राप्त हो जाये, उसे आमुख कहते हैं। इसी की संज्ञा प्रस्तावना भी है-नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा। सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते। चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः। आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा।। लक्षणवाक्य में प्रोक्त सूत्रधार पद से स्थापक का ग्रहण होता है। उसे सूत्रधार के सदृश होने के कारण इस संज्ञा से अभिहित किया गया है।

इसके पाँच भेद होते हैं-उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक तथा अवलगित। (6/16)

आरभटी—नाट्यवृत्ति का एक प्रकार। आरभटी शरीरव्यापाररूपा वृत्ति है। आचार्य भरत ने इसकी उत्पत्ति अथर्ववेद से मानी है। कुछ आचार्य इसका सम्बन्ध शिव के ताण्डव नृत्य के साथ भी जोड़ते है। इसका सम्बन्ध माया, इन्द्रजाल, सङ्ग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्त आदि की चेष्टाओं, वध, बन्धन आदि उद्धत कार्यों से है-मायेन्द्रजालसङ्ग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः। संयुक्ता वधबन्धाद्यैरुद्धतारभटी मता।। इसके चार अङ्ग हैं- वस्तूत्थापन. सम्फेट, संक्षिप्ति और अवपातन। (6/155-56)

आरम्भः—कार्य की प्रथम अवस्था। कथानक के मुख्य फल की सिद्धि के प्रति नायकनायिकादि की उत्सुकता कार्य की आरम्भ नामक अवस्था है-भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये। यथा, र.ना. में रत्नावली को अन्तःपुर में रखने के लिए यौगन्धरायण की उत्कण्ठा। (6/55)

आर्थी—उपमा का एक भेद। जहाँ अर्थ के बल से साम्य का आक्षेप करना पड़ता है। तुल्य, समान आदि पद अथवा तुल्यार्थक वति प्रत्यय अर्थ-बोध के अनन्तर ही उपमानोपमेय में सादृश्यसम्बन्ध को बोधित करते हैं-आर्थी तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थो यत्र वा वतिः। अतः इन शब्दों के होने पर आर्थी उपमा होती है।

यह तद्धित, समास अथवा वाक्य में स्थिति के आधार पर तीन प्रकार

की होती है। यथा-मधुरःसुधावदधरः पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः। चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः।। सुधावत् में 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' से तुल्यार्थक तद्धित वति प्रत्यय है। 'पल्लवतुल्यः' में 'षष्ठी' सूत्र से समास है तथा श्लोक के उत्तरार्ध में वाक्यगत आर्थी पूर्णोपमा है। (10/20)

आर्थीव्यञ्जना-व्यञ्जना का एक भेद। शब्द से इतर अर्थात् वक्ता, बोद्धा, वाक्य, अन्य का संनिधान, अर्थ, प्रकरण, देश, काल, काकु तथा चेष्टा आदि के कारण जो शक्ति अर्थ का बोध कराती है, वह अर्थसम्भवा व्यञ्जना है-वक्तृबोद्धव्यवाक्यानामन्यसन्निधिवाच्ययोः। प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च। वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत्सार्थसम्भवा। यथा-कालो मधुः कुपित एष च पुष्पधन्वा, धीरा वहन्ति रतिखेदहराः समीराः। केलीवनीयमपि वञ्जुलकुञ्जमञ्जुर्दूरे पतिः कथय किं करणीयमद्य।। इस पद्य से प्रच्छन्न कामुक के साथ रमणरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। यह व्यञ्जना वक्ता, वाक्य, प्रकरण, देश तथा काल के वैशिष्ट्य से होती है। निश्शेषच्युतचन्दनादि प्रसिद्ध पद्य से तुम उसी के साथ रमण करने गयीं थीं, इस व्यङ्ग्यार्थ का बोध बोद्धव्य दूती के वैशिष्ट्य से होता है। पश्य निश्चलनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका। निर्मलमरकतभाजनप्रतिष्ठिता शङ्खशुक्तिरिव।। इस पद्य में निश्चल और निस्पन्द बलाका की सन्निधि से क्रमशः उसकी विश्वस्तता, स्थान की निर्जनता, अतएव उसकी सङ्केतस्थानयोग्यता व्यक्त होती है। काकु के द्वारा व्यञ्जना का उदाहरण-गुरुपरतन्त्रतया बत दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम्। अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि! सुरभिसमयेऽसौ।। है। इसमें 'नैष्यति' पद को भिन्न कण्ठध्वनि से पढ़ने पर 'एष्यत्येव' ऐसा व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होने लगता है। सङ्केतकाल-मनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया। हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्।। इस पद्य में नायिका पद्मनिमीलन की चेष्टा से सन्ध्या की सङ्केतकालता द्योतित करती है।

अर्थ क्योंकि वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्यरूप से तीन प्रकार का होता है, अतः सभी प्रकार की आर्थी व्यञ्जनायें भी तीन-2 प्रकार की होती हैं।

इनमें से वाच्यार्थ की व्यञ्जना का उदाहरण निश्शेषच्युतचन्दनम् आदि पद्य तथा व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जना का उदाहरण पश्य निश्चल आदि पद्य है। (2/23)

आलम्बनविभावः—विभाव का एक भेद। जिनका आश्रय लेकर रस की निष्पत्ति होती हो, उन्हें आलम्बन विभाव कहते हैं। नायकादि ही रस के आलम्बन होते हैं। आदि शब्द से नायिका और प्रतिनायक का ग्रहण होता है। (3/34)

आलस्यम्—एक व्यभिचारीभाव। श्रम अथवा गर्भ आदि से उत्पन्न जड़ता का नाम आलस्य है। इसमें जँभाई तथा एक स्थान पर बैठे रहना आदि होता है-आलस्यं श्रमगर्भाद्यैर्जाड्यं जृम्भासितादिकृत्। यथा- न तथा भूषयत्यङ्गं न तथा भाषते सखीम्। जृम्भते मुहुरासीना बाला गर्भभरालसा।। इस पद्य में नायिका के गर्भजन्य आलस्य का वर्णन है। (3/162)

आलस्यम्—शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

आवापोद्वापः—आवाप का अर्थ है पदान्तर का ग्रहण तथा उद्वाप का अर्थ है विद्यमान पद का त्याग। बालक शब्दों का सर्वप्रथम ज्ञान वृद्धव्यवहार को देखकर आवाप और उद्वाप अर्थात् पदों के ग्रहण और त्याग से प्राप्त करता है। उत्तम वृद्ध के द्वारा मध्यम वृद्ध को उद्दिष्ट करके 'गामानय' ऐसा कहे जाने पर मध्यम वृद्ध के द्वारा सास्नादिमान् पदार्थ के आनयन को देखकर बालक इस पद समूह का अर्थ सास्नादिमान् पिण्डविशेष का आनयन समझ लेता है। उसके अनन्तर उत्तम वृद्ध के 'गां बधान', ऐसा कहने पर मध्यम वृद्ध के व्यवहार को देखकर वह 'गाम्' इतने भाग का अर्थ गो नामक पशु-विशेष तथा 'आनय' और 'बधान' पदों का पृथक्-पृथक् अर्थ आनयन और बन्धन क्रिया समझता है। इसी प्रकार उसे अनेक पदों का सङ्केतज्ञान हो जाता है। बालक के द्वारा शब्दज्ञान की इस प्रक्रिया को ही आवापोद्वाप कहा जाता है। (2/7 की वृत्ति)

आवेगः—एक व्यभिचारीभाव। मन की सम्भ्रमात्मक स्थिति को आवेग कहते हैं-आवेगः सम्भ्रमः। यदि यह सम्भ्रम हर्ष से उत्पन्न हो तो उसमें शरीर सङ्कुचित हो जाता है, उत्पात से उत्पन्न आवेग में अङ्ग शिथिल हो जाते

हैं, अग्नि से उत्पन्न आवेग में धूम आदि के कारण व्याकुलता होती है, राजपलायन में शस्त्र और हाथी आदि की तैयारी होती है, हाथी आदि के उत्पात से उत्पन्न आवेग में स्तम्भ, कम्प आदि और वायुजन्य आवेग में धूलि आदि से व्याकुलता होती है। इष्ट की प्राप्ति से होने वाले आवेग में हर्ष तथा अनिष्ट की प्राप्ति से होने वाले आवेग में शोक होते हैं। आदि। भरत ने यह भी कहा है कि उत्तम और मध्यम कोटि के पात्रों का आवेग स्थिरता से तथा नीच कोटि के पात्रों का आवेग उपसर्पण आदि से अभिनीत करना चाहिए। यथा-अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनपेक्ष्य भरताग्रजो यतः। क्षत्रकोपदहनार्चिषं ततः सन्दधे दृशमुदग्रतारकम्।। इस पद्य में परशुराम के आने पर अपने परिजनों से 'अर्घ्यम् अर्घ्यम्' इस प्रकार कहते हुए राजा दशरथ की सम्भ्रमात्मक स्थिति का वर्णन किया गया है। (3/150)

आशंसा–एक नाट्यालङ्कार। आशा करने को आशंसा कहते हैं-आशंसनं स्यादाशंसा। यथा, माधव की मालती के दर्शन की आशा में यह उक्ति -तत्पश्येयमनङ्गमङ्गलगृहं भूयोऽपि तस्या मुखम्। (6/220)

आशंसा–शिल्पक का एक अङ्ग। किसी दुष्प्राप्य वस्तु को पाने की इच्छा आशंसा कही जाती है। (6/295)

आशीः–एक नाट्यालङ्कार। इष्ट जनों के आशीर्वाद को आशीः कहते हैं-आशीरिष्टजनाशंसा। यथा अ.शा. में कण्व का शकुन्तला को ययातेरिव0 इत्यादि आशीर्वाद। (6/208)

आश्रयः–एक नाट्यालङ्कार। अधिक उत्कृट गुणयुक्त कार्य के हेतु का ग्रहण करना आश्रय कहा जाता है-ग्रहणं गुणवत्कार्यहेतोराश्रय उच्यते। यथा, विभीषण के द्वारा राम का आश्रय ग्रहण करना। (6/214)

आश्वासः–शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

आसीनम्–एक लास्याङ्ग। शोक और चिन्ता से युक्त, विना शृङ्गार किये कोई नायिका जब बैठकर विना किसी वाद्य के गाती है तो उसे आसीन कहते हैं-निखिलातोद्यरहितं शोकचिन्तान्वितोऽबला। सुप्रसारितगात्रं यदासीनासीनमेव च।। (6/244)

आहतविसर्गत्वम्–एक काव्यदोष। आहत से अभिप्राय है, विसर्ग का का ओ के रूप में परिणत हो जाना। निरन्तर विसर्ग का ओत्व भी श्रुतिसुखद नहीं लगता। यथा–धीरो वरो नरो याति। यह वाक्यदोष है। (7/4)

आहार्यः–अभिनय का एक प्रकार। इसका सम्बन्ध विशेष रूप से आहरणीय वेषविन्यास आदि से है। इसका प्रयोग नेपथ्य में होता है। (6/3)

ईर्ष्याजन्यमानम्–मानविप्रलम्भ का एक प्रकार। पति की किसी अन्य स्त्री में आसक्ति देख लेने पर, सुन लेने पर अथवा उसका अनुमान हो जाने पर स्त्रियों में ईर्ष्यामान होता है। अन्य नायिका विषयक रति का अनुमान तीन प्रकार से हो सकता है–स्वप्न में अन्य नायिका के सम्बन्ध में बड़बड़ाता हुआ देखकर, नायक में अन्य नायिका के सम्भोगचिह्न देखकर अथवा गोत्रस्खलन से–पत्युरन्यप्रियासङ्गे दृष्टेऽथानुमानिते श्रुते। ईर्ष्यामानो भवेत्स्त्रीणां तत्र त्वनुमितिस्त्रिधा। उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनसम्भवा।। यथा–नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम्। प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन्नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम्।। (3/206)

ईहामृगः–रूपक का एक भेद। ईहामृग से अभिप्राय है जहाँ नायक मृग के समान अलभ्य नायिका की कामना करता है–नायको मृगवदलभ्यां नायिकामत्रेहते वाञ्छतीतीहामृगः। इसका कथानक इतिहास अथवा कल्पना का मिश्रण होता है। कुल चार अङ्कों में मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण सन्धियों का प्रयोग होता है। नायक और प्रतिनायक प्रसिद्ध धीरोद्धत नर अथवा दिव्य कोटि के पात्र होते हैं। दस उद्धत देव अथवा मनुष्य पताकानायक होते हैं। प्रतिनायक अपने में अनासक्त किसी दिव्य स्त्री के हरण आदि की इच्छा से प्रच्छन्न रूप से पापाचरण करता है। ऐसे अवसर पर कुछ-2 शृङ्गाराभास भी प्रदर्शित किया जाना चाहिए। युद्ध की पूर्ण सम्भावना हो जाती है परन्तु वह किसी व्याज से निवृत्त हो जाता है। महात्मा के वध की स्थिति में होने पर भी उसका वध नहीं होता। कुछ आचार्यों का मत है कि इसमें देवता, नायक तथा एक अङ्क का भी विधान है। अन्य आचार्यों का यह भी कथन है कि इसमें छह नायक होते हैं तथा दिव्य स्त्री के कारण युद्ध होता है। इसका उदाहरण कुसुमशेखरविजयः है। (6/260)

उक्तप्रत्युक्तम्–एक लास्याङ्ग। उक्ति-प्रत्युक्तियों से युक्त, उपालम्भ के सहित, अलीक के समान प्रतीत होने वाला विलासपूर्ण अर्थ से सम्पन्न गीत उक्तप्रत्युक्त कहा जाता है-उक्तिप्रत्युक्तिसंयुक्तं सोपालम्भमलीकवत्। विलासान्वितगीतार्थमुक्तप्रत्युक्तमुच्यते।। (6/251)

उग्रता–एक व्यभिचारीभाव। स्वभाव की प्रचण्डता को उग्रता कहते हैं जो शत्रु के शौर्य अथवा अपराध आदि से उत्पन्न होती है। पसीना आ जाना, शिर में कम्पन, तर्जन और ताडन आदि इसके अनुभाव हैं-शौर्यापराधादिभवं भवेच्चण्डत्वमुग्रता। तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः।। यथा-प्रणयिसखीसलीलपरिहासरसाधिगतैर्ललितशिरीषपुष्पहननैरपि ताम्यति यत्। वपुषि वधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपतः पततु शिरस्यकाण्डयमदण्ड इवैष भुजः।। (3/155)

उच्छ्वासः–शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

उत्कण्ठा–शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

उत्कलिकाप्रायः–गद्य का एक प्रकार। दीर्घसमासयुक्त गद्यरचना उत्कलिकाप्राय कही जाती है-अन्यद् (उत्कलिकाप्रायम्) दीर्घसमासाढ्यम्। यथा-अणिसविसअणिसिदसरविसरविदलितपरिहगदपरबल। सुबन्धु आदि की रचनाओं में इस प्रकार का गद्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। (6/310)

उत्कीर्त्तनम्–एक नाट्यालङ्कार। अतीत कार्य के आख्यान को उत्कीर्त्तन कहते हैं-भूतकार्याख्यानमुत्कीर्त्तनं मतम्। यथा बालरामायण का यह पद्य-अत्रासीत्फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे। गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः ।। (6/232)

उत्तमोत्तमकम्–एक लास्याङ्ग। कोप अथवा प्रसाद से उत्पन्न होने वाला, आक्षेप-वचनों से युक्त, रसवत्, हाव और हेला से संयुक्त, विचित्र पद्यरचना से मनोहर गान उत्तमोत्तमक कहा जाता है-उत्तमोत्तमकं पुनः, कोपप्रसादजमधिक्षेपयुक्तं रसोत्तरम्। हावहेलान्वितं चित्रश्लोकबन्धमनोहरम्। (6/250-51)

उत्तरम्–एक अर्थालङ्कार। उत्तर से यदि प्रश्न की प्रतीति हो तो उत्तर नामक अलङ्कार होता है–उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुन्नयो यदि। यथा नायिका के इस उत्तर-वीक्षितुं न क्षमा श्वश्रूः, स्वामी दूरतरं गतः। अहमेकाकिनी बाला, तवेह वसतिः कुतः।। से पथिक के प्रश्न की प्रतीति हो जाती है।

प्रश्न होने पर यदि अनेक बार असम्भाव्य उत्तर दिया जाये तो भी यही अलङ्कार होता है–यच्चासकृदसम्भाव्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरम्। यथा–का विषमा देवगतिः किं लब्धव्यं जनो गुणग्राही। किं सौख्यं सुकलत्रं किं दुर्ग्राह्यं खलो लोकः।।

यहाँ अन्य पदार्थों के अपोह में वक्ता का तात्पर्य नहीं रहता, इसलिए यह परिसङ्ख्या से भिन्न है। यह अनुमान भी नहीं है क्योंकि अनुमान में साध्यसाधन दोनों का निर्देश आवश्यक होता है। यह काव्यलिङ्ग में भी अन्तर्हित नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ उत्तर प्रश्न का हेतु नहीं होता। (10/107)

उत्तेजनम्–एक नाट्यालङ्कार। अपना कार्य सिद्ध करने के लिए दूसरे को प्रेरित करने वाली कठारेवाणी उत्तेजन कही जाती है–उत्तेजनमितीष्यते, स्वकार्यसिद्धयेऽन्यस्य प्रेरणाय कठोरवाक्। यथा–इन्द्रजिच्चण्डवीर्योऽसि नाम्नैव बलवानसि। धिक्धिक् प्रच्छन्नरूपेण युध्यसेऽस्मद्भयाकुलः।। इस पद्य में मेघनाद का अन्तर्धान भङ्ग करने के लिए लक्ष्मण के द्वारा कठोर वाणी का प्रयोग किया गया है क्योंकि इसके विना उसपर कोई प्रहार किया जा पाना सम्भव नहीं था। (6/224)

उत्थापकः–सात्वती वृत्ति का एक अङ्ग। शत्रु की उत्तेजित करने वाली वाणी उत्थापक कही जाती है–उत्तेजनकरी शत्रोर्वागुत्थापक उच्यते। यथा म.च. में राम के प्रति परशुराम की यह उक्ति–आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा, वैतृष्ण्यं तु कुतोऽद्य सम्प्रति मम त्वद्दर्शने चक्षुषः। यन्माङ्गल्यसुखस्य नास्मि विषयः किं वा बहु व्याहतैरस्मिन्विस्मृतजामदग्न्यविजये पाणौ धनुर्जृम्भताम्।। (6/151)

उत्प्रासनम्–एक नाट्यालङ्कार। स्वयं को साधु मानने वाले असाधु का उपहास उत्प्रासन कहा जाता है–उत्प्रासनं तूपहासो योऽसाधौ साधुमानिनि।

यथा अ.शा. में दुष्यन्त के प्रति शार्ङ्गरव की यह उक्ति–राजन्! अथ पुनः पूर्ववृत्तान्तमन्यसङ्गाद् विस्मृतो भवान्, तत्कथमधर्मभीरोर्दारपरित्यागः। (6/215)

उत्प्रेक्षा–एक अर्थालङ्कार। उपमेय की उपमान के रूप में सम्भावना को उत्प्रेक्षा कहते हैं-भवेत्सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना। यथा–ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः। गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव।। यदि इसके मूल में कोई अन्य अलङ्कार हो तो वह अधिक चमत्कारक होती है। मन्ये, शङ्के, ध्रुवं, प्रायः, नूनम्, जाने आदि पद उत्प्रेक्षा के वाचक होते हैं।

प्रधानरूप से यह वाच्या और प्रतीयमाना के रूप में दो प्रकार की होती है। जहाँ इवादि उत्प्रेक्षावाचक शब्दों का प्रयोग हो, वहाँ यह वाच्या तथा जहाँ इनका प्रयोग न हो वहाँ प्रतीयमाना होती है। पुनः वाच्योत्प्रेक्षा के 112 तथा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के 64 भेद मिलाकर इसके कुल 176 भेद निष्पन्न होते हैं।

भ्रान्तिमान् अलङ्कार में उपमेय का ज्ञान ही नहीं होता परन्तु उत्प्रेक्षा में सम्भावना करने वाले को उपमेय के वास्तविक स्वरूप का भी ज्ञान रहता है। सन्देह में ज्ञान की दोनों कोटियाँ समकक्ष प्रतीत होती हैं परन्तु उत्प्रेक्षा में सम्भाव्य कोटि उत्कृष्ट रहती है। अतिशयोक्ति में उपमान पहले ज्ञात हो जाता है, फिर उसकी असत्यता प्रतीत होती है परन्तु यहाँ पहले से ही असत्यता ज्ञात रहती है। (10/58-59)

उत्साहः–वीररस का स्थायीभाव। कार्यों के आरम्भ में उत्कट आवेश उत्साह है-कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते। यहाँ इसका एक विशेषण 'स्थेयान्' भी है, जिसका अर्थ है-स्थिरतर। यह धर्ममूलक है, अतः पूर्वप्रोक्त रति, हास, शोक और क्रोध के कामार्थमूलक होने के कारण उनकी अपेक्षा स्थिरतर है। (3/186)

उदात्तम्-एक अर्थालङ्कार। लोकोत्तर सम्पत्ति के वर्णन में उदात्त अलङ्कार होता है। यदि महापुरुषों का चरित्र प्रस्तुत वस्तु का अङ्ग हो, तब भी यह अलङ्कार होता है-लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते। यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत्।। इन दोनों रूपों के उदाहरण क्रमशः इस

प्रकार हैं-(1)अधः कृताम्भोधरमण्डलानां यस्यां शशाङ्कोपलकुट्टिमानाम्। ज्योत्स्नानिपातात्क्षरतां पयोभिः केलीवनं वृद्धिमुरीकरोति।। तथा (2) नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन, संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा। अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते।। प्रथम श्लोक में लोकोत्तर सम्पदा का वर्णन है तथा दूसरे पद्य में समुद्रवर्णन के अङ्ग के रूप में विष्णु का चरित्र वर्णित हुआ है। (10/123)

उदाहरणम्–गर्भसन्धि का एक अङ्ग। उत्कर्षयुक्त वचन को उदाहरण कहते हैं-उदाहरणमुत्कर्षयुक्तं वचनमुच्यते। वे. सं. में अश्वत्थामा की उक्ति -यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां, यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा। यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः, क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्।। इसका उदाहरण है। (6/99)

उदाहरणम्–एक नाट्यलक्षण। जहाँ अभिमत अर्थ समान अर्थ वाले वाक्य के प्रदर्शन से साधित किया जाता है, उसे उदाहरण कहते हैं-यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनातिप्रदर्शनात्। साध्यतेऽभिमतश्चार्थस्तदुदाहरणं मतम्।। यथा-अनुयान्त्या जनातीतं कान्तं साधु त्वया कृतम्। इस अभिमत अर्थ को समान अर्थ वाले वाक्यों 'का दिनश्रीर्विनार्केण' तथा 'का निशा शशिना विना' इन वाक्यों के प्रदर्शन से साधित किया गया है। (6/174)

उद्घात्यकः–वीथ्यङ्ग। प्रस्तावना का भेद। जहाँ अप्रतीतार्थक पदों को उनके अर्थबोध के लिए अन्य पदों के साथ जोड़ देते हैं, उसे उद्घात्यक कहते हैं-पदानि त्वगतार्थानि तदर्थगतये नराः। योजयन्ति पदैरन्यैः स उद्घात्यक उच्यते।। यथा, मु. रा. में सूत्रधार के द्वारा प्रयुक्त 'क्रूरग्रहः स केतुश्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमिदानीम्। अभिभवितुमिच्छति बलात्.....।। इस वाक्य को सुनकर चाणक्य अपने हृदयस्थ अर्थ के साथ सङ्गति बिठाता हुआ क्रूरग्रह को राक्षस, केतु को मलयकेतु, चन्द्र को चन्द्रगुप्त, असम्पूर्णमण्डलम् को जिसका राज्य अभी पूर्णरूप से स्थिर नहीं हुआ, इन अर्थों में सङ्क्रान्त करके रङ्गमञ्च पर प्रवेश करता है। (6/18)

उद्दीपनविभावः–विभाव का एक भेद। जो रस को उद्दीप्त करते हैं

उन्हें उद्दीपन विभाव कहते हैं-उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये। इनमें आलम्बन की चेष्टायें आदि तथा देशकाल आदि का समावेश होता है-आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा। चेष्टाद्याः में आदि पद से उसका रूप अलङ्करण आदि तथा 'कालादयः' में आदि पद से चन्द्रमा, कोकिलों का आलाप तथा भ्रमरों की झङ्कार आदि का ग्रहण होता है। (3/139-40)

उद्भेदः-मुखसन्धि का एक अङ्ग। बीजभूत अर्थ के प्रकट हो जाने को उद्भेद कहते हैं-बीजार्थस्य प्ररोहः स्यादुद्भेदः। यथा-वे.सं. में "नाथ पुनरपि त्वया समाश्वासयितव्या", द्रौपदी के इस प्रकार कहने पर भीम के "भूयः परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम्। अनिःशेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम्।।" इस कथन से बीज का प्ररोहण हुआ है, अतः यह उद्भेद नामक मुखसन्ध्यङ्ग है। (6/78)

उद्यमः-एक नाट्यालङ्कार। कार्य का आरम्भ करने को उद्यम कहते हैं-कार्यस्यारम्भ उद्यमः। यथा कुम्भ नाटक में रावण की, 'पश्यामि शोकविवशोऽन्तकमेव तावत्', यह उक्ति। (6/213)

उद्वेगः-पूर्वराग में काम की पञ्चम दशा। प्रिय से समागम न हो पाने के कारण कहीं मन न लगना उद्वेग कहा जाता है। यथा-श्वासान्मुञ्चति भूतले विलुठति त्वन्मार्गमालोकते, दीर्घं रोदिति विक्षिपत्यत इतः क्षामां भुजावल्लरीम्। किञ्च प्राणसमान कांक्षितवती स्वप्नेऽपि ते सङ्गमं, निद्रां वाञ्छति न प्रयच्छति पुनर्दग्धो विधिस्तामपि।। इस पद्य में उद्विग्न नायिका की मनःस्थिति का वर्णन है। (3/195)

उद्वेगः-गर्भसन्धि का एक अङ्ग। राजा आदि से उत्पन्न भय को उद्वेग कहते हैं-नृपादिजनिता भीतिरुद्वेगः परिकीर्तितः। इसका उदारहण वे.सं. का यह पद्य है-प्राप्तावेकरथारूढौ पृच्छन्तौ त्वामितस्ततः। स कर्णारिः स च क्रूरो वृककर्मा वृकोदरः।। (6/107)

उद्वेगः-शिल्पक का एक अङ्ग। अपने बान्धवों के वियोग से उत्पन्न होने वाला क्लेश उद्वेग कहा जाता है। (6/295)

उन्मादः–एक व्यभिचारीभाव। काम, शोक, भय आदि के द्वारा चित्त का व्यामोह उन्माद है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के सोचसमझकर कार्य करने की शक्ति समाप्त हो जाती है तथा वह अनुचित कार्यों, यथा–विना कारण के हँसना, रोना, गाना, प्रलाप आदि करना प्रारम्भ कर देता है–चित्तसंमोह उन्मादः कामशोकभयादिभिः। अस्थानहासरुदित-गीतप्रलपनादिकृत्।। यथा– भ्रातर्द्विरेफ भवता भ्रमता समन्तात् प्राणाधिका प्रियतमा मम वीक्षिता किम्। (झङ्कारमनुभूय सानन्दम्) ब्रूषे किमोमिति सखे कथयाशु तन्मे किं किं व्यवस्यति कुतोऽस्ति च कीदृशीयम्।। यहाँ नायिका को ढूँढते हुए नायक की उन्माददशा का वर्णन है। (3/167)

उन्मादः–पूर्वराग में काम की सप्तम दशा। जड़ और चेतन के विषय में विवेकशून्य हो जाना उन्माद कहलाता है–उन्मादश्चा-परिच्छेदश्चेतनाचेतनेष्वपि। यथा–भ्रातर्द्विरेफ भवता भ्रमता समन्तात्प्राणाधिका प्रियतमा मम वीक्षिता किम्। (झङ्कारमनुभूय सानन्दम्) ब्रूषे किमोमिति सखे कथयाशु तन्मे किं किं व्यवस्यति कुतोऽस्ति च कीदृशीयम्।। यहाँ उन्मत्त होकर भ्रमर से नायिकाविषया सूचना प्राप्त करने का प्रयास वर्णित है। (3/196)

उन्मादः–प्रवासविप्रलम्भ में काम की अष्टम दशा। जड़ और चेतन के विषय में विवेकशून्य हो जाना उन्माद कहा जाता है। (3/211)

उपक्षेपः–मुखसन्धि का एक अङ्ग। काव्यार्थ की समुत्पत्ति को उपक्षेप कहते हैं–काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपक्षेप इति स्मृतः। यहाँ काव्यार्थ से अभिप्राय इतिवृत्त रूप प्रस्तुत अभिधेय से है, अर्थात् यहाँ इतिवृत्तरूप काव्यार्थ का संक्षेप में उपक्षेपण किया जाता है। यथा वे. सं. का यह पद्य–लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्यः। आकृष्य पाण्डववधूः परिधानकेशान् स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः।। इस पद्य में पूर्वघटना के उल्लेख के साथ-2 भवत् तथा प्रस्तुत दशा का भी सूचन किया गया है। (6/69)

उपगूहनम्–निर्वहण सन्धि का एक अङ्ग। अद्भुत वस्तु की सम्प्राप्ति को उपगूहन कहते हैं-तद्भवेदुपगूहनं, यत्स्याददद्भुतसम्प्राप्तिः। यथा प्र. व. में नारद को देखकर प्रद्युम्न का यह कथन--दधद्विद्युल्लेखामिव कुसुममालां परिमलभ्रमद् भृङ्गश्रेणीध्वनिभिरुपगीतां तत इतः। दिगन्तं ज्योतिर्भिस्तुहिनकरगौरैः शवलयन्नितः कैलासाद्रेः पतति वियतः किं पुनरिदम्।। यहाँ आकाश से नारद का अवतरण अद्भुत की सृष्टि कर रहा है। (6/133)

उपदिष्टम्–एक नाट्यलक्षण। शास्त्रानुसारी मनोहर वाक्य को उपदिष्ट कहते हैं-उपदिष्टं मनोहारि वाक्यं शास्त्रानुसारतः। यथा अ.शा. में कण्व का शकुन्तला को दिया गया यह उपदेश-शुश्रूषस्व गुरून्कुरुप्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने, भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः। भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी, यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः।। (6/185)

उपदेशनम्–एक नाट्यालङ्कार। शिक्षा देने को उपदेशन कहते हैं-शिक्षा स्यादुपदेशनम्। यथा, अ.शा. में प्रियंवदा के परिहास से खीझकर जाती हुई शकुन्तला के प्रति अनसूया का शिक्षाप्रद कथन "सखि न युक्तमाश्रमवासिनो जनस्याकृतसत्कारमतिथिविशेषमुज्झित्वा स्वच्छन्दतो गमनम्।" (6/240)

उपन्यासः–प्रतिमुखसन्धि का एक अङ्ग। प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं-उपन्यासः प्रसादनम्। यथा र. ना. में सुसङ्गता की उक्ति--भर्तः! अलं शङ्कया। मयापि भर्त्र्याः प्रसादेन क्रीडितमेवैतैः। तत्किं कर्णाभरणेन। अतोऽपि मे गुरुतरः प्रसाद एष यत्त्वयाहमत्रालिखितेति कुपिता मे प्रियसखी सागरिका। एषैव प्रसाद्यताम्।

अन्य आचार्य इसका लक्षण इस प्रकार करते हैं-उपपत्तिकृतो ह्यर्थ उपन्यासः स कीर्तितः अर्थात् किसी अर्थ को युक्तियुक्त करना उपन्यास कहा जाता है। यथा र. ना. की "अतिमुखरा खलु सा गर्भदासी" यह उक्ति। (6/93)

उपन्यासः–भाणिका का एक अङ्ग। किसी प्रसङ्ग से कार्य का कथन करना उपन्यास कहा जाता है-उपन्यासः प्रसङ्गेन भवेत्कार्यस्य कीर्त्तनम्। (6/300)

उपपत्तिः—एक नाट्यालङ्कार। अर्थसिद्धि के लिए हेतु के उपन्यास को उपपत्ति कहते हैं–उपपत्तिर्मता हेतोरुपन्यासोऽर्थसिद्धये। यथा, ना.न. के निम्न पद्य में नायक जीमूतवाहन सर्प की माता की प्राणरक्षारूप अर्थसिद्धि के लिए 'रक्षात्मानं ममासुभिः' रूप हेतु का उपन्यास करता है–म्रियते म्रियमाणे या त्वयि जीवति जीवति। तां यदीच्छसि जीवन्तीं रक्षात्मानं ममासुभिः।। (6/219)

उपमा—एक अर्थालङ्कार। अनेक अर्थालङ्कारों का उपजीव्य होने के कारण यह उनमें प्रधान है। एक ही वाक्य में दो पदार्थों के विधर्मरहित साम्य को उपमा कहते हैं–साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः। लक्षणवाक्य में 'वाच्य' पद के उपादान से रूपक, दीपक आदि से उसका भेद प्रतिपादित किया गया है, जहाँ वाक्य व्यङ्ग्य होता है। 'अवैधर्म्य' पद के प्रयोग से व्यतिरेक से इसका भेद प्रदर्शित किया गया है, वहाँ वैधर्म्य का भी कथन होता है। उपमेयोपमा में दो वाक्य होते हैं, 'वाक्यैक्य' पद के प्रयोग से इससे उपमा का वैशिष्ट्य प्रकट होता है। अनन्वय में साम्योक्ति एक ही पदार्थ में होती है, 'द्वयोः' पद का प्रयोग उपमा को अनन्वय से विशिष्ट करता है। इसका उदाहरण है–मधुरः सुधावदधरः, पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः। चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः।।

यदि उपमा में सामान्यधर्म, औपम्यवाची शब्द, उपमेय और उपमान ये चारों वाच्य हों तो वह पूर्णा उपमा होती है। श्रौती और आर्थी दो प्रकार की पूर्णोपमा तद्धित, समास अथवा वाक्य में स्थिति के आधार पर पुनः तीन-2 प्रकार की होने के कारण छह प्रकार की हो जाती है। सामान्य धर्म आदि किसी एक, दो अथवा तीन के लुप्त होने पर लुप्तोपमा होती है। इसके इक्कीस भेद हैं–दस प्रकार की सामान्यधर्मलुप्ता, दो प्रकार की उपमानलुप्ता, दो प्रकार की वाचकशब्दलुप्ता, दो प्रकार की सामान्यधर्म उपमानलुप्ता, दो प्रकार की सामान्यधर्म वाचकशब्दलुप्ता तथा उपमेयलुप्ता, सामान्यधर्मोपमेयलुप्ता और त्रिलुप्ता। इस प्रकार उपमा के कुल सत्ताईस भेद निष्पन्न होते हैं।

उपमा के जिन भेदों में साधारणधर्म लुप्त नहीं होता, वहाँ कहीं तो वह उपमेय और उपमान में एकरूप होता है, यथा–मधुरः सुधावदधरः इत्यादि

पद्य में उपमेय अधर और उपमान सुधा में मधुर नामक सामान्यधर्म एकरूप ही है तथा कहीं यह उपाधिभेद से भिन्न भी हो जाता है। यह भेद उसी प्रकार का है जैसे दुग्ध, शङ्ख और हिम की शुक्लता में परस्पर भेद है। कहीं तो यह भेद शब्दमात्र का ही होता है (यथा-स्मेरं विधाय नयनं विकसितमिव नीलमुत्पलं मयि सा। कथयामास कृशाङ्गी मनोगतं निखिलमाकूतम्।। इस पद्य में स्मेरत्व और विकसितत्व रूप सामान्यधर्म वस्तुतः एक ही है) और कहीं उनमें परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव रहता है (यथा-मल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम्। तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव।। इस पद्य में उपमेय सिर का धर्म श्मश्रुलत्व और उपमान क्षौद्रपटल का धर्म सरघाव्याप्तत्व है तथापि श्यामत्वसामान्य से इन दोनों में परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव प्रतीत होता है)। (10/18-34)

उपमानम्–उपमा का एक अङ्ग। जिसके साथ उपमेय की तुलना की जाये। इस प्रकार इसका उत्कृष्ट गुणों से युक्त होना लोकसिद्ध होता है। इसे ही अन्य, अप्रस्तुत, अप्रकृत आदि भी कहा जाता है। 'मुखं चन्द्र इव मनोहरम्' आदि उपमावाक्यों में चन्द्र उपमान है-उपमानं चन्द्रादि। (10/19 की वृत्ति)

उपमेयम्–उपमा का एक अङ्ग। उपमान के साथ जिसकी तुलना की जाए। इसे प्रकृत, प्रस्तुत, वर्णनीय, विषय आदि नामों से भी कहा गया है। 'मुखं चन्द्र इव मनोहरम्' आदि उपमावाक्यों में मुख उपमेय है-उपमेयं मुखादि। (10/19 की वृत्ति)

उपमेयोपमा–एक अर्थालङ्कार। जो एक वाक्य में उपमान हो वह अगले वाक्य में उपमेय तथा जो प्रथम वाक्य में उपमेय हो, वह द्वितीय वाक्य में उपमान हो जाये तो उपमेयोपमा अलङ्कार होता है-पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता। स्वाभाविक रूप से इसमें दो वाक्यों की अपेक्षा होती है। इसका उदाहरण यह पद्य है-कमलेव मतिर्मतिरिव कमला तनुरिव विभा विभेव तनुः। धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी सततं विभाति बत यस्य।। (10/39)

उपादानलक्षणा–लक्षणा का एक भेद। रूढ़ि और प्रयोजनवती लक्षणा के उपादान तथा लक्षणलक्षणा के रूप में दो-दो भेद होते हैं। उपादान का अर्थ है-ग्रहण करना। वाक्यार्थ में अन्वय की सिद्धि के लिए जहाँ अन्य

अर्थ का आक्षेप कर लिया जाता है वहाँ मुख्यार्थ के साथ-2 अपना भी ग्रहण कराने से उपादान लक्षणा होती है-मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये। स्यादात्मनोऽप्युपादानादेषोपादानलक्षणा। अतएव इसे ही अजहत्स्वार्था भी कहते हैं क्योंकि यहाँ लक्षक पद इतर का आक्षेप करता हुआ अपने अर्थ का त्याग नहीं करता।

रूढ़िगत उपादानलक्षणा का उदाहरण 'श्वेतो धावति' तथा प्रयोजनवती उपादानलक्षणा का उदाहरण 'कुन्ताः प्रविशन्ति' है। यहाँ केवल श्वेत और कुन्त शब्दों से धावन और प्रवेशन क्रियाओं का अन्वय उपपन्न नहीं होता। अतएव उनसे सम्बद्ध अश्व और पुरुष शब्दों का आक्षेप करके अर्थ की सिद्धि की जाती है। 'श्वेतो धावति' में कोई प्रयोजन न होने के कारण रूढ़ि प्रधान है। 'कुन्ताः प्रविशन्ति' में कुन्तधारियों की अत्यन्त गहनता व्यञ्जित करना इसका प्रयोजन है। वैयाकरणाचार्य 'श्वेत' शब्द से रसादिभ्यश्च 5/2/95 से मतुप् प्रत्यय करके पुनः 'गुणवचनेभ्यो लुगिष्टः' से इसका लुक् कर देते हैं। अतः 'श्वेत' शब्द का अर्थ श्वेत और श्वेत वर्णवाला दोनों ही है। अ.को. में भी इन शब्दों को गुण और गुणी दोनों ही अर्थों का वाचक बताया गया है परन्तु नैयायिक इस लुक् को स्वीकार नहीं करते। (2/10)

उपेक्षा-नायिका का मान भङ्ग करने का एक उपाय। साम, भेद, दान और नति इन चारों उपायों के निष्फल हो जाने पर और उपाय न करके चुपचाप बैठ जाना उपेक्षा कहा जाता है-सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम्। (3/209)

उभयालङ्कारः-अलङ्कार का एक भेद। जहाँ कहीं तो शब्द का परिवर्त्तन सह्य हो तथा कहीं असह्य हो वहाँ शब्दार्थोभयमूलक अलङ्कार होता है। इसका उदाहरण पुनरुक्तवदाभास है। भुजङ्गकुण्डली व्यक्तशशिशुभ्रांशुशीतगुः। जगन्त्यपि सदापायादव्याच्चेतोहरः शिवः।। इस पद्य में पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार है। अलङ्कार के स्थल 'भुजङ्गकुण्डली' में 'भुजङ्ग' शब्द में परिवर्तन होने पर भी अलङ्कार बना रहता है परन्तु 'कुण्डली' पद में परिवर्तन सह्य नहीं है। इसी उदाहरण में 'हरः शिवः' में द्वितीय पद में

परिवर्तन सह्य है। शशिशुभ्रांशु में दोनों ही पद बदले जा सकते हैं जबकि एक अन्य उदाहरण 'भाति सदानत्यागः' में दोनों ही पद (दान और त्याग) अपरिवर्त्तनीय हैं। अतः कहीं पदपरिवृत्तिसहत्व तथा कहीं अपरिवृत्तिसहत्व होने के कारण यह उभयालङ्कार है। (10/2)

उल्लाप्यम्–उपरूपक का एक भेद। एक अङ्क में दिव्य कथावस्तु से युक्त, सङ्ग्राम और अस्त्रगीत से मनोहर, शिल्पक के सत्ताइस अङ्गों से युक्त, हास्य, शृङ्गार और करुण रसों से सम्पन्न उल्लाप्य नामक नाट्यप्रकार होता है। कुछ आचार्यों का मत है कि इसमें चार नायिकायें और तीन अङ्क होते हैं–उदात्तनायकं दिव्यवृत्तमेकाङ्कभूषितम्। शिल्पकाङ्गैर्युतं हास्यशृङ्गारकरुणै रसैः। उल्लाप्यं बहुसङ्ग्राममस्त्रगीतिमनोहरम्। चतस्रो नायिकास्तत्र त्रयोऽङ्का इति केचन।। इसका उदाहरण देवीमहादेवम् है।(6/287)

उल्लेखः–एक नाट्यालङ्कार। किसी कार्य का निर्देश करने को उल्लेख कहते हैं–कार्यदर्शनमुल्लेखः। यथा अ.शा. में राजा के प्रति तपस्वियों का यह कथन कि–समिदाहरणाय प्रस्थिता वयम्। न चेदन्यकार्यातिपातः, प्रविश्य गृह्यतामतिथिसत्कारः। यहाँ राजा के साथ न जा पाने के हेतु के रूप में समिदाहरण कार्य का निर्देश किया गया है। (6/223)

उल्लेखः–एक अर्थालङ्कार। ग्रहीता अथवा विषय के भेद से एक वस्तु का अनेक प्रकार से उल्लेख करना उल्लेख अलङ्कार है–क्वचिद्भेदाद्ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्। एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते। इस अलङ्कार में वस्तु के एक ही होने पर भी रुचि, अर्थित्व अथवा व्युत्पत्ति के अनुसार उसका ज्ञान भिन्न हो जाता है। तद्यथा–प्रिय इति गोपवधूभिः शिशुरिति वृद्धैरधीश इति देवैः। नारायण इति भक्तैर्ब्रह्मेत्यग्राहि योगिभिर्देवः।।

उदाहृत पद्य में एक ही कृष्ण ग्रहीता के भेद से प्रिय, शिशु, स्वामी, नारायण और ब्रह्म समझे जा रहे हैं। ये सभी धर्म कृष्ण में वास्तविक हैं, आरोपित नहीं, अतः यह मालारूपक नहीं है। इसके अतिरिक्त मालारूपक

में एक ही ज्ञाता रहता है जबकि यहाँ प्रत्येक ज्ञान का ग्रहीता भिन्न है। इस पद्य में भ्रान्तिमान् की सम्भावना भी नहीं है क्योंकि गोपियों आदि को कृष्ण में सादृश्य के कारण भ्रमवश प्रियत्वज्ञान नहीं हो रहा प्रत्युत वे यथार्थ में ही उसे प्रिय मानती हैं। 'अभेद में भेद' रूप अतिशयोक्ति में भी अन्य (अभिन्न) वस्तु को अन्य (भिन्न) रूप में माना जाता है परन्तु गोपियों आदि का प्रियत्वज्ञान तात्त्विक है, अन्य में अन्य रूप से अध्यवसित नहीं है।

कुछ आचार्य इस अलङ्कार को नियत रूप से 'अलङ्कारान्तरविच्छित्तिमूलक' मानते हैं, अर्थात् इसके मूल में अन्य अलङ्कार का चमत्कार विद्यमान रहता है। उदाहृत पद्य में अतिशयोक्तितत्त्व भी वर्तमान है परन्तु ज्ञातृ अथवा विषयभेद से एक वस्तु का अनेक प्रकार से उल्लेख होना यहाँ इस अलङ्कार का आधायक है। परिणाम, रूपकादि भी इसके साथ संयुक्त हो सकते हैं। (10/54)

ऊर्जस्वी—एक अर्थालङ्कार। जहाँ रसाभास और भावाभास किसी अन्य के अङ्ग बनकर उपस्थित हों वहाँ ऊर्जस्वी अलङ्कार होता है—अनौचित्यप्रवृत्तौ तदत्रास्तीत्यूर्जस्वी। ऊर्जा का अर्थ है-बल। यहाँ यह ऊर्जा अनौचित्य से प्रवृत्त होती है। यथा—वनेऽखिलकलासक्ताः परिहृत्य निजस्त्रियः। त्वद्वैरिवनितावृन्दे पुलिन्दाः कुर्वते रतिम्।। इस पद्य में शृङ्गाराभास राजविषयक रतिभाव का अङ्ग है। (10/124 पर वृत्ति)

एकदेशविवर्तिन्युपमा—एक अर्थालङ्कार। जहाँ किसी का साधारण धर्म वाच्य हो और किसी का गम्य (प्रतीयमान) वहाँ एकदेशविवर्तिन्युपमा होती है—एकदेशविवर्तिन्युपमा वाच्यत्वगम्यत्वे। भवेतां यत्र साम्यस्य। यथा—नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैर्मुखैरिव सरःश्रियः। पदे पदे विभान्ति स्म चक्रवाकैः स्तनैरिव।। इस पद्य में नेत्रादि और नीलकमलादि का सादृश्य वाच्य है जबकि सरोवर की लक्ष्मियों का नायिकाओं के साथ साम्य प्रतीयमान है। (10/35)

एकावली—एक अर्थालङ्कार। पूर्व पूर्व के प्रति उत्तरोत्तर को विशेषण के रूप में स्थापित करें अथवा उसका निषेध करें तो यह दो प्रकार का एकावली अलङ्कार होता है—पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम्। स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत् स्यात्तदैकावली द्विधा।। इनके उदाहरण क्रमशः इस

प्रकार हैं–(1) सरो विकसिताम्भोजमम्भोजं भृङ्गसङ्गतम्। भृङ्गा यत्र ससङ्गीता सङ्गीतं सस्मरोदयम्।। तथा (2) न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं, न पङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम्। न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः।। पूर्व पद्य में विकसित कमल तालाब के, भ्रमरसंयोग विकसित कमल के, सङ्गीत से युक्त होना भ्रमरों के तथा काम का उद्दीपक होना सङ्गीत के विशेषक के रूप में स्थापित है जबकि उत्तर पद्य में उत्तरोत्तर के विशेषकत्व का निषेध है।

कहीं-कहीं विशेष्य भी उत्तरोत्तर विशेषण के रूप में स्थापित अथवा निषिद्ध किया जाता है। (10/101)

ओजः–एक गुण। चित्त की विस्ताररूप दीप्ति ओज गुण है–ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते। यह गुण रौद्र, बीभत्स और वीर रसों में प्रवृद्ध रहता है। वर्गों के प्रथम अक्षर से मिला हुआ द्वितीय अक्षर तथा तृतीय अक्षर से मिला हुआ उसी वर्ग का चतुर्थ अक्षर, टवर्ग, ऊपर, नीचे अथवा दोनों ओर रेफ से मिले हुए अक्षर, दीर्घ समास तथा उद्धत रचना ओजगुण की व्यञ्जक होती है। यथा–चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात- सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य। स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः।। (8/6–7)

औत्सुक्यम्–एक व्यभिचारीभाव। इष्ट की प्राप्ति में काल का व्यवधान सहन न कर पाना औत्सुक्य कहा जाता है। चित्त का सन्ताप, जल्दबाजी, पसीना, दीर्घ निश्वास आदि इसके अनुभाव हैं–इष्टानवाप्तेरौत्सुक्यं कालक्षेपासहिष्णुता। चित्ततापत्वरास्वेददीर्घनिश्वसितादिकृत्।। यथा–यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपास्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः। सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ, रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते।। मम्मट ने इस पद्य में रस की प्रधानता मानी है। (3/166)

औदार्यम्–नायक का सात्त्विक गुण। प्रियभाषण सहित दान तथा शत्रु और मित्र में समता औदार्य है–दानं सप्रियभाषणमौदर्यं शुत्रुमित्रयोः समता। (3/67)

औदार्यम्–नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। सदा विनय से युक्त रहना औदार्य कहलाता है–औदार्यं विनयः सदा। यथा– न ब्रूते परुषां गिरं वितनुते न भ्रूयुगं भङ्गुरं, नोत्तंसं क्षिपति क्षितौ श्रवणतः सा मे स्फुटेऽप्यागसि। कान्ता गर्भगृहे गवाक्षविवरव्यापारिताक्ष्या बहिः, सख्या वक्त्रमभिप्रयच्छति परं पर्यश्रुणी लोचने।। (3/112)

औपम्यवाची–उपमा का एक अङ्ग। दो पदार्थों में सादृश्य के वाचक इवादि पदों को औपम्यवाची कहा जाता है–औपम्यवाचकमिवादि। आदि से यथा, तुल्य, सदृश, सम, वत् आदि का ग्रहण होता है। (10/19 की वृत्ति)

कथा–गद्यकाव्य का एक भेद। इसमें रसयुक्त कथानक का निर्माण गद्य में ही किया जाता है। कहीं-कहीं आर्या, वक्त्र, अपरवक्त्र, छन्दों का भी प्रयोग होता है। इसके प्रारम्भ में पद्यबद्ध नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण होता है तथा खलादिकों के चरित का निबन्धन किया जाता है–कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्। क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद् वक्त्रापवक्त्रके। आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्त्तनम्।। यथा, कादम्बरी आदि। (6/311)

कथितपदत्वम्–एक काव्यदोष। कहे हुए पद का ही पुनः प्रयोग कथितपदत्व दोष है। इसे ही पुनरुक्ति कहते हैं। यथा–रतिलीलाश्रयं भिन्ते सलीलमनिलो वहन्। यहाँ 'लीला' शब्द पुनरुक्त है। जहाँ पूर्वविहित का अनुवाद करना हो अथवा विषाद, विस्मय, क्रोध, दैन्य, लाटानुप्रास, अनुकम्पा, दूसरे को प्रसन्न करने, अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि, हर्ष और निश्चय में यह दोष न होकर गुण ही हो जाता है। यह वाक्यदोष है। (7/4)

कथोद्घातः–प्रस्तावना का एक भेद। सूत्रधार के द्वारा प्रोक्त वाक्य अथवा उसके अर्थ को लेकर कोई पात्र प्रवेश करे, उसे कथोद्घात कहते हैं–सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमस्य वा। भवेत्पात्रप्रवेशश्चेत् कथोद्घातः स उच्यते।। यथा र.ना. में सूत्रधार द्वारा पठित द्वीपादन्यस्मादपि० आदि पद्य को ही "एवमेतत्" कहकर पुनः पढ़ता हुआ यौगन्धरायण प्रवेश करता है। सूत्रधार द्वारा प्रोक्त वाक्य के अर्थ को लेकर पात्र के प्रवेश करने का उदाहरण वे.सं. में है। यहाँ निर्वाणवैरदहना० इत्यादि पद्य को सुनकर 'स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः' से उद्दीप्त हुआ भीमसेन "आः दुरात्मन्! वृथा

मङ्गलपाठक! कथं स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः" इस प्रकार कहता हुआ रङ्गमञ्च पर प्रवेश करता है। (6/19)

कनिष्ठा—स्वकीया नायिका का एक भेद। नायक के प्रणय की न्यूनता से युक्त मध्या और प्रगल्भा नायिका कनिष्ठा कही जाती है। यथा—दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरादेकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः। ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकप्रेमोल्लसन्मानसामन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति।। इस पद्य में जिस नायिका के नयन पिहित किये गये हैं, वह कनिष्ठा नायिका है। (3/79)

कन्यका—परकीया नायिका का एक प्रकार। अविवाहिता, लज्जावती, नवयौवना कन्या कही जाती है—कन्या त्वजातोपयमा सलज्जा नवयौवना। पिता आदि पर आश्रित होने के कारण वह परकीया कही जाती है। यथा मा.मा. आदि में मालती आदि। (3/83)

कपटम्—एक नाट्यालङ्कार। जहाँ मायादि के कारण अन्य ही रूप आभासित हो उसे कपट कहते हैं—कपटं मायया यत्र रूपमन्यद् विभाव्यते। यथा कुलपत्यङ्क का यह पद्य—मृगरूपं परित्यज्य विधाय कपटं वपुः। नीयते रक्षसा तेन लक्ष्मणो युधि संशयम्।। (6/210)

करणम्—मुखसन्धि का एक अङ्ग। प्रकृत कार्य के आरम्भ का नाम करण है—करणं पुनः प्रकृतार्थसमारम्भः। यथा वे.सं. में भीम का "देवि! गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयाय" यह कथन। (6/79)

करम्भकम्—विविध भाषाओं में निर्मित रचना को करम्भक कहते हैं—करम्भकं तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम्। इसका उदाहरण स्वयं विश्वनाथरचित प्रशस्तिरत्नावली है जिसमें सोलह भाषाओं का प्रयोग हुआ है। (6/315)

करुणः—एक रस। यह इष्ट के नाश तथा अनिष्ट की प्राप्ति से निष्पन्न होता है। इसका स्थायीभाव शोक है। इसका वर्ण कपोत तथा देवता यम है। शोच्य व्यक्ति इसका आलम्बन तथा उसकी दाहादिक अवस्थायें उद्दीपन होती हैं। भाग्य की निन्दा, भूमि पर गिरना, चिल्लाना, विवर्णता, उच्छ्वास, निश्वास, स्तम्भ और प्रलाप इसके अनुभाव होते हैं तथा निर्वेद, मोह,

अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जडता, उन्माद, चिन्ता आदि इसके व्यभिचारीभाव होते हैं। यथा–विपिने क्व जटानिबन्धनं तव चेदं क्व मनोहरं वपुः। अनयोर्घटना विधेः स्फुटं ननु खड्गेन शिरीषकर्त्तनम्।। (रा. वि.) इस पद्य में राम के वनवास से उत्पन्न होने वाले शोक से पीडित दशरथ की भाग्यनिन्दा वर्णित है। इसका परिपोष म.भा. के स्त्रीपर्व आदि में दृष्टिगोचर होता है।

करुण रस में शोक स्थायी होता है जबकि करुणविप्रलम्भ में फिर से समागम की आशा बनी रहने के कारण रति का भाव स्थायी होता है–शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रसः। विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनः सम्भोगहेतुकः।। (3/223-25)

करुणविप्रलम्भः–विप्रलम्भ का एक भेद। नायक और नायिका में से किसी एक के मर जाने पर दूसरा जो सन्ताप भोगता है उसे करुणविप्रलम्भ कहते हैं परन्तु यह तभी होता है यदि परलोकगत व्यक्ति के इसी जन्म में और इसी देह से पुनः मिलने की आशा हो–यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये। विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुणविप्रलम्भाख्यः।। कादम्बरी में पुण्डरीक और महाश्वेता का वृत्तान्त इसका उदाहरण है क्योंकि वहाँ पुण्डरीक लोकान्तर को प्राप्त हो चुका है पुनरपि आकाशवाणी के प्रामाण्य से इसी जन्म में महाश्वेता की इसी देह से उससे मिलने की आशा भी बनी हुई है।

आचार्य धनञ्जय का यह मत है कि आकाशवाणी के अनन्तर ही यहाँ शृङ्गार की सम्भावना बन पाती है क्योंकि तभी रतिभाव अङ्कुरित होता है। इससे पूर्व तो करुण रस का स्थायीभाव शोक ही प्रधानरूप से व्यक्त हुआ है। आकाशवाणी से बाद के वृत्तान्त को प्रवासविप्रलम्भ नहीं मानना चाहिए क्योंकि यहाँ मरण नामक एक विशेष दशा उत्पन्न हो चुकी है तथा प्रवास के किसी भी भेद में नायक नायिका में से अन्यतर की मृत्यु वर्णित नहीं होती। (3/214)

कलहान्तरिता–नायिका का एक भेद। चाटुकारिता करते हुए प्रिय को भी जो क्रोध के कारण परे हटा दे और फिर पश्चात्ताप करे वह कलहान्तरिता

नायिका होती है–चाटुकारमपि प्राणनाथं रोषादपास्य या। पश्चात्तापमवाप्नोति कलहान्तरिता तु सा।। यथा–नो चाटु श्रवणं कृतं न च दृशा हारोऽन्तिके वीक्षितः, कान्तस्य प्रियहेतवो निजसखीवाचोऽपि दूरीकृताः। पादान्ते विनिपत्य तत्क्षणमसौ गच्छन्मया मूढ़या, पाणिभ्यामवरुध्य हन्त सहसा कण्ठे कथं नार्पितः।। (3/95)

कलापकम्–वाक्यार्थ यदि चार पद्यों में पूर्ण हो तो वह पद्य का कलापक नामक भेद होता है–कलापकं चतुर्भिश्च। (6/302)

कष्टत्वम्–एक काव्यदोष। जहाँ सन्धि के कारण दुःश्रवता उत्पन्न हो जाए वहाँ कष्टत्व नामक दोष होता है। यथा–उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः। परन्तु कोई वैयाकरण यदि वक्ता अथवा श्रोता हो तो यह गुण भी हो जाता है। यह वाक्यदोष है। (7/4)

काकुः–कण्ठध्वनिविकार। वक्ता के द्वारा कहे गये वाक्य को श्रोता भिन्न कण्ठध्वनि के द्वारा सर्वथा विपरीत रूप में कल्पित कर लेता है। भिन्नकण्ठध्वनि के द्वारा इस विशेष प्रकार की उच्चारणप्रणाली को ही काकु कहा जाता है–भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते। (10/11)

कान्तिः–नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। कामदेव के उन्मेष से बढ़ी हुई शोभा को ही कान्ति कहते हैं–सैव कान्तिर्मन्मथाप्यायितद्युतिः। (देखें-शोभा) यथा–नेत्रे खञ्जनगञ्जने सरसिजप्रत्यर्थि पाणिद्वयं, वक्षोजौ करिकुम्भविभ्रमकरीमत्युन्नतिं गच्छतः। कान्तिः काञ्चनचम्पकप्रतिनिधिर्वाणी सुधास्यन्दिनी, स्मेरेन्दीवरदामसोदरवपुस्तस्याः कटाक्षच्छटा।। (3/108)

कामदशा–उत्कट अनुराग के होने पर भी नायक और नायिका का समागम न होने पर उनकी जो दशा होती है, उसे कामशास्त्र आदि के ग्रन्थों में कामदशा के नाम से वर्णित किया गया है। यद्यपि महाकवियों की कृतियों में उनके अनन्त प्रकार वर्णित किये गये हैं तथापि आचार्यों ने प्रायः दस ही स्थितियों का वर्णन किया है यद्यपि कहीं-कहीं उनकी संख्या, नाम तथा क्रम के विषय में व्यत्यय भी दृष्टिगोचर होता है। ये इस प्रकार हैं–अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसम्प्रलापाश्च। उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः।। इनमें से प्रत्येक बाद वाली अवस्था पूर्व अवस्था से अधिक कष्ट देने वाली है। (3/195)

कारणमाला–एक अर्थालङ्कार। अगले-अगले के प्रति यदि पूर्व-पूर्व की कारणता होती जाये तो वह कारणमाला नामक अलङ्कार होता है–परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता। तदा कारणमाला स्यात्...।। यथा–श्रुतं कृतधियां सङ्गाज्जायते विनयः श्रुतात्। लोकानुरागो विनयान्न किं लोकानुरागतः।। इस पद्य में बुद्धिमानों का संसर्ग शास्त्र का, शास्त्र विनय का, विनय लोकानुराग का तथा लोकानुराग समस्त प्राप्तियों का कारण निरूपित किया गया है। (10/99)

कार्यजन्यविप्रलम्भः–प्रवासविप्रलम्भ का एक प्रकार। किसी कार्यविशेष से नायक के किसी अन्य देश में चले जाने पर होने वाला वियोग कार्यजन्य होता है। यह क्योंकि विचारपूर्वक किया जाता है, अतः यह वर्त्तमान, भूत और भविष्य इन तीनों कालों में हो सकने के कारण तीन प्रकार का होता है–भावी, भवत्, भूत। (6/210-13)

कार्यम्–एक अर्थप्रकृति। जो वस्तु के साध्य के रूप में अपेक्षित है, जिसके लिए सब उपाय प्रारम्भ किये जाते हैं तथा जिसकी सिद्धि के लिए सारे साधन एकत्र किये जाते हैं, वह कार्य कहा जाता है–अपेक्षितन्तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः। समापनन्तु यत्सिद्ध्यै तत्कार्यमिति सम्मतम्।। यथा, रामचरित में रावणवध। (6/53)

कार्यावस्था–नाट्यकार्य की स्थिति। नाट्य में फलप्राप्ति हेतु नायक द्वारा जो व्यापार किया जाता है, प्रारम्भ से लेकर समाप्ति पर्यन्त उसकी पाँच स्थितियों की कल्पना की गयी है, उन्हें कार्यावस्था कहा जाता है–अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः। 'फलार्थिभिः' पद से नायक, प्रतिनायक तथा उनके सहायक आदि का ग्रहण होता है। ये पाँच अवस्थायें हैं–आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। (6/54)

काव्यप्रयोजनम्–काव्यशास्त्र के आद्य आचार्य भामह की परम्परा में सा.द.कार ने चतुर्वर्ग की प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन सिद्ध किया है। आचार्य भामह ने कीर्ति और प्रीति के साथ-साथ धर्मार्थकाममोक्ष तथा कलाओं में वैचक्षण्य को काव्य के प्रयोजन के रूप में प्रतिष्ठापित किया था। भामह के द्वारा ऐसा स्वीकार किये जाने के पीछे यह तर्क था कि वे अलङ्कारशास्त्र

को विद्वत्सभाओं में न्याय और व्याकरण जैसे शास्त्रों के समकक्ष मान्यता दिलाना चाहते थे परन्तु विश्वनाथ के समक्ष इस प्रकार की कोई परिस्थिति नहीं थी पुनरपि उन्होंने एक कदम और आगे बढ़कर तर्कपूर्वक यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि वास्तव में काव्य ही धर्मादि की प्राप्ति का सरल और सार्वजनिक उपाय है–चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि। काव्यादेव....।।

काव्य से धर्मादि की प्राप्ति भगवान् नारायण के चरणारविन्द की स्तुति के द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध होती है, इसके अतिरिक्त शब्द भी इस विषय में प्रमाण है–एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति। अर्थात् काव्य की रचना तथा उसका अनुशीलन दोनों ही धर्मोत्पादक हैं क्योंकि काव्य से बढ़कर और शब्द का सुन्दर प्रयोग कहाँ प्राप्त हो सकता है। काव्य से अर्थ की प्राप्ति का उल्लेख आचार्य मम्मट ने भी किया है। इसका उदाहरण उनके समक्ष प्रत्यक्ष था कि हर्षादि राजाओं से धावक आदि कविओं को प्रभूत धन की प्राप्ति हुई थी। अर्थ से कामभोगों की प्राप्ति भी सर्वथा सम्भव ही है। काव्य से मानव के परम पुरुषार्थरूप मोक्ष की प्राप्ति को लेकर विवाद अवश्य हो सकता है परन्तु इसका समाधान भी असम्भव नहीं, यदि इसे लोकोत्तर रसवती प्रतिष्ठा में अन्तर्भूत मान लिया जाये। आचार्य विश्वनाथ ने इसका समाधान इस प्रकार किया है कि धर्मजन्य फल के परित्याग से (तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः) यह भी सुलभ है। अथवा मोक्षोपयोगी उपनिषदादि के वाक्यों में व्युत्पत्ति का आधान करने से काव्य की मोक्ष के प्रति कारणता भी बनती ही है।

वेदादि से भी चतुर्वर्ग की प्राप्ति सुतरां सम्भव है परन्तु नीरस होने के कारण उनका सम्यक् ज्ञान दुष्कर है। दूसरे, स्त्री और शूद्र का वेद में अधिकार भी नहीं–स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्। अतः यह उपाय केवल कुछ परिपक्व बुद्धिसम्पन्न सहृदयों के लिए ही है जबकि काव्य से आविद्वदङ्गनाबाल सभी को धर्मादि की प्राप्ति हो सकती है। अतएव अ.पु. में इसकी उपादेयता इन शब्दों में प्रतिपादित की गयी है–नरत्वं दुर्लभं लोके, विद्या तत्र सुदुर्लभा। कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।। वहीं इसे त्रिवर्ग का साधन भी बताया गया है–त्रिवर्गसाधनं नाट्यम्। वि.पु. में

भी काव्यगीतादि को भगवान् विष्णु के अंश कहा गया है–काव्यालापाश्च ये केचिद्गीतकान्यखिलानि च। शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः।। (1/2)

काव्यम्–एक कथा के निरूपक पद्यों में संस्कृत अथवा प्राकृतादि भाषा में निबद्ध सर्गबद्ध रचना काव्य कही जाती है। इसमें सभी सन्धियाँ नहीं होतीं–भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुत्थितम्। एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धिसामग्र्यवर्जितम्।। इसका उदाहरण भिक्षाटनम् तथा आर्याविलासः है। (6/307)

काव्यम्–उपरूपक का एक भेद। यह मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण सन्धि से युक्त एकाङ्की रचना है। इसमें आरभटी वृत्ति का प्रयोग नहीं होता। हास्य रस से सङ्कुलित, खण्डमात्रा, द्विपदिका और भग्नताल गीतों से युक्त, वर्णमात्रा और छगणिका छन्दों से युक्त, शृङ्गारभाषित से सम्पन्न तथा उदात्त नायक और नायिका से युक्त होता है–काव्यमारभटीहीनमेकाङ्कं हास्यसङ्कुलम्। खण्डमात्राद्विपदिकाभग्नतालैरलङ्कृतम्। वर्णमात्राछगणिकायुतं शृङ्गारभाषितम्। नेता स्त्री चाप्युदात्तात्र सन्धी आद्यौ तथान्तिमः। इसका उदाहरण यादवोदयः है। (6/288-89)

काव्यलक्षणम्–वेदादि के होते हुए भी काव्य से ही चतुर्वर्ग की प्राप्ति का समर्थन आचार्य विश्वनाथ ने किया है, अतः उसके स्वरूप का निरूपण भी सर्वथा प्रासङ्गिक ही है परन्तु अपना काव्यलक्षण प्रस्तुत करने से पूर्व अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के मत की समीक्षा करना भी आवश्यक है क्योंकि यदि उन्हीं के द्वारा प्रदत्त लक्षण निर्दुष्ट हैं तो फिर एक नवीन लक्षण प्रस्तुत करने की आवश्यकता ही क्या है, अतः स्वाभिमत प्रस्तुत करने से पूर्व मम्मट आदि आचार्यों के काव्यलक्षण, जो उस समय तक पर्याप्त प्रसिद्धि को प्राप्त कर चुके थे, का खण्डन किया गया है। सर्वप्रथम मम्मट के द्वारा प्रदत्त लक्षण "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि" में प्रतिपद दूषणता का प्रतिपादन किया गया है।

उपर्युक्त लक्षण में 'अदोषौ' पद के विषय में आचार्य विश्वनाथ का कथन है कि यदि सर्वथा दोषरहित रचना में ही काव्यत्व स्वीकार किया

जाये तो न्यक्कारो ह्ययमेव मे० इत्यादि पद्य विधेयाविमर्शदोष से युक्त होने के कारण काव्य नहीं रहेगा परन्तु ध्वनि का सद्भाव होने के कारण इसे उत्तम काव्य का निदर्शन माना जाता है। अतः यह लक्षण अपने ही लक्ष्य में गतार्थ न हो पाने के कारण अव्याप्ति दोष से दूषित है। इसके समाधान में यह नहीं कहा जा सकता कि इस श्लोक का कुछ भाग ही दूषित है, सारा पद्य नहीं, अतः जहाँ ध्वनि है उसे उत्तम काव्य तथा जिस अंश में दोष है, उसे अकाव्य मान लिया जाये क्योंकि ऐसी स्थिति में तो यह दोनों ओर से खींचा जाता हुआ काव्य अथवा अकाव्य कुछ भी न रहेगा। दूसरे, श्रुतिदुष्टादि काव्य के किसी एक अंश को दूषित नहीं करते अपितु समग्र काव्य को ही दूषित करते हैं क्योंकि दोष वही है जो काव्यात्मभूत रस का अपकर्ष करे और रस आत्मा की तरह सारे काव्य में व्याप्त रहता है। जो दोष काव्यात्मभूत रस को दूषित करते हैं उनसे सारे काव्य का ही दूषण होता है, उसके किसी एक अंश का नहीं। काव्य में नित्यदोष और अनित्यदोष की व्यवस्था का आधार भी यही है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने कहा है कि श्रुतिदुष्ट आदि अनित्य दोष हैं क्योंकि ये शृङ्गारादि रसों का ही अपकर्ष करते हैं परन्तु वीरादि रसों में इस प्रकार की रचना गुण ही है। इस प्रकार जहाँ कहीं दोष से रस का अपकर्ष होता है वहाँ सम्पूर्ण काव्य ही दूषित होता है, उसका कोई अंशमात्र नहीं। इसके अतिरिक्त सर्वथा दोषरहित रचना का मिलना असम्भव ही है। लक्षणवाक्य में ऐसा विशेषण रखने से तो काव्य का विषय ही अत्यन्त विरल हो जायेगा।

अदोषौ पद में स्थित नञ् को ईषदर्थक मानने पर 'ईषद् दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्' यह वाक्य बनेगा, अतः सर्वथा निर्दोष रचना काव्यत्व से वञ्चित हो जायेगी। 'सति सम्भवे' पद का निवेश करके, दोषों की सम्भावना होने पर ईषद् दोष वाले शब्दार्थ काव्य हों यह मत भी आचार्य विश्वनाथ को अमान्य है। वस्तुतः काव्यलक्षण में तो 'अदोषौ' विशेषण की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि दोष काव्य के स्वरूप का आधान नहीं करते, यह तो काव्यत्व से पूर्व की अनुवीक्षा है। यह काव्य का परिहरणीय तत्त्व है, उसका आधायक नहीं। अतएव वामन ने 'काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते', ऐसा कहते हुए दोषों को काव्यलक्षण में स्थान नहीं दिया

था। दोषों की स्थिति तो काव्य में उसी प्रकार की है जिस प्रकार रत्नादि में कीटानुवेध आदि को परिहरणीय माना जाता है। कीटानुविद्ध रत्न रत्नत्व से च्युत नहीं हो जाता अपितु उसकी उपादेयता में तारतम्य हो जाता है—कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता। दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः।। इस प्रकार 'अदोषौ' पद के प्रयोग से लक्षण में अव्याप्ति दोष आ जाता है।

शब्दार्थ का सगुणत्व विशेषण भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि गुण रस के धर्म हैं, शब्दार्थ के नहीं। स्वयम् आचार्य मम्मट ने "ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः," ऐसा स्पष्ट रूप से कहा है। स्वाश्रयरसाभि-व्यञ्जकत्वसम्बन्ध से शब्दार्थ में भी उपचार से गुणों की स्थिति होने पर भी इस प्रकार का विशेषण सर्वथा उपयुक्त नहीं है क्योंकि शब्दार्थ में यदि रस है तो गुण भी अवश्य होंगे और यदि रस वहाँ नहीं है तो गुण भी नहीं होंगे क्योंकि गुण अन्वयव्यतिरेक से रस का अनुगमन करते हैं। यदि इस विशेषण के द्वारा काव्य का रसवत्त्व ही प्रतिपादित करना है तो फिर साक्षात् 'रसवन्तौ' पद का ही प्रयोग करना चाहिए क्योंकि लक्षणवाक्य अवश्य ही स्पष्ट होना चाहिए। 'प्राणिमन्तो देशाः' के स्थान पर 'शौर्यादमिन्तो देशाः' वाक्य का प्रयोग नहीं ही किया जाता। यदि इसका अभिप्राय यह है कि काव्य में गुणाभिव्यञ्जक शब्दार्थ का प्रयोग किया जाना चाहिए तो काव्यस्वरूप का निरूपण करते हुए इसका कथन समुचित नहीं है क्योंकि गुण काव्य में उत्कर्ष का आधान करते हैं, वे इसके स्वरूपाधायक नहीं हैं। शब्दार्थ काव्य के शरीर हैं, रसादि उसकी आत्मा, गुण शौर्यादि के समान, दोष काणत्वादि के समान, रीतियाँ अवयवसंस्थान के समान तथा अलङ्कार कटककुण्डलादि के समान हैं। इस विवेचन से मम्मट के ही काव्यलक्षण का एक अन्य विशेषण "अनलङ्कृती पुनः क्वापि" भी अपास्त हो जाता है क्योंकि अलङ्कृत शब्दार्थ भी काव्य के उत्कर्षक मात्र हैं, वे उसके स्वरूप को निष्पन्न नहीं करते। इस सन्दर्भ में का.प्र.कार ने अस्फुटालङ्कार का जो उदाहरण—यः कौमारहरः॰ आदि दिया है उसमें भी विभावना-विशेषोक्तिमूलक सन्देहसङ्करालङ्कार स्फुट है। नवीनतारूप कारण के न होने पर भी उत्कण्ठारूप कार्य की उत्पत्ति होने के कारण यहाँ विभावना तथा

अनवीनतारूप कारण के होने पर भी उत्कण्ठाभावरूप कार्य की उत्पत्ति न होने के कारण विशेषोक्ति का लक्षण भी उपलब्ध है परन्तु इनमें से किसी एक का निर्णायक हेतु उपलब्ध न होने के कारण तन्मूलक सन्देहसङ्करालङ्कार है।

इसी से कुन्तकाचार्य के "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" का भी खण्डन हो जाता है क्योंकि वक्रोक्ति भी वस्तुतः एक अलङ्कार ही है। इसी ग्रन्थ से स.क. आदि ग्रन्थों के "अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्। रसान्वितम्...।।" आदि लक्षण भी खण्डित हो जाते हैं। वामन का लक्षण "रीतिरात्मा काव्यस्य" भी अतएव अस्वीकार्य है।

सा.द.कार के समक्ष काव्य का एक अन्य प्रसिद्ध आत्मपरक लक्षण आचार्य आनन्दवर्धन का था जो ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते थे–काव्यस्यात्मा ध्वनिः। परन्तु वस्त्वलङ्काररसरूप त्रिविध ध्वनि को यदि काव्य की आत्मा माना जाये तो प्रहेलिका आदि में भी काव्य का लक्षण अतिव्याप्त हो जायेगा क्योंकि प्रहेलिका में भी वस्तुध्वनि होती ही है और यदि रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना जाये तो कोई विप्रतिपत्ति ही नहीं है, सिद्धान्ती की भी यही प्रतिज्ञा है। श्वश्रूरत्र निमज्जति॰ आदि पद्यों में तो काव्यव्यवहार रसाभास से युक्त होने के कारण बनता है। वस्तुमात्र के व्यङ्ग्य होने पर तो 'देवदत्तो ग्रामं याति' इत्यादि वाक्य भी काव्य हो जायेगा क्योंकि यहाँ भी तद्भृत्यानुगमनरूप वस्तु ध्वनित हो रही है परन्तु रसवत्त्व का अभाव होने के कारण उसे काव्य नहीं माना जा सकता। भरतमुनि आदि चिरन्तन आचार्यों के अनेक कथन यहाँ प्रमाणरूप में उद्धृत किये जा सकते हैं। रसास्वादनपुरस्सर कान्तासम्मित पद्धति से कृत्य और अकृत्य में प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति के उपदेश द्वारा वेदशास्त्र विमुख, सुकुमारमति राजपुत्रादिकों को शिक्षित करना काव्य का प्रयोजन है। अ.पु. में "वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्" कथन के द्वारा इसका समर्थन किया गया है। व्य.वि.कार महिमभट्ट के अनुसार भी रस के काव्यात्म होने के विषय में कोई विमति नहीं है–काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः। स्वयं ध्वनिकार ने एक स्थल पर कहा है कि केवल इतिवृत्तमात्र के निर्वाह से कवित्व निष्पन्न नहीं हो जाता क्योंकि यह तो इतिहासादि से भी सिद्ध हो जाता है–न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मलाभः।

इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः। ध्वनिकार ने वाच्य तथा प्रतीयमान के रूप में जो काव्य के दो भेद किये हैं, उनमें से वाच्यात्मत्व का निरसन उन्हीं के सिद्धान्त 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' से हो जाता है।

उपर्युक्त रीति से पूर्वाचार्यों के द्वारा प्रतिपादित प्रमुख काव्यलक्षणों का निरसन हो जाता है। विशेष रूप से आचार्य मम्मट के द्वारा प्रदत्त परिभाषा का खण्डन अत्यन्त सन्नद्धतापूर्वक किया गया है परन्तु ये तर्क भी का.प्र. की ही एक टीका से उद्धृत किये गये हैं जिसके लेखक आचार्य चण्डीदास हैं। यहाँ 'शब्दार्थौ' के प्रत्येक विशेषण में दूषणीयता प्रतिपादित की गयी है परन्तु इस विशेष्यपद का कोई ऊहापोह नहीं किया गया यद्यपि यह प्रश्न संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रारम्भ से ही अत्यन्त विवादग्रस्त रहा है। दक्षिण भारतीय आचार्य सुन्दर पदविन्यास में ही काव्यत्व मानते रहे हैं जिसका प्रबल समर्थन पण्डितराज जगन्नाथ ने भी किया है तथा स्वयम् आचार्य विश्वनाथ के लक्षण में भी इसके लिए 'वाक्य' पद का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार इस विषय पर एक महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ सा.द. में उपलब्ध नहीं होता। अस्तु।

अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षण में दूषणता का प्रतिपादन करने के अनन्तर आचार्य विश्वनाथ ने स्वाभिमत काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। इस लक्षण में 'काव्यम्' यह लक्ष्य पद तथा 'वाक्यम्' लक्षण पद है जिसका विशेषण है—रसात्मकम् अर्थात् रस जिसका आत्मा अर्थात् साररूप होने के कारण जीवनाधायक है। यहाँ 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति से रस, भाव, तदाभासादि आठों का ग्रहण हो जाता है। आचार्य विश्वनाथ का यह लक्षण काव्य की आत्मपरक परिभाषा है। रस को आत्मस्थानीय मानकर तथा उसे काव्यलक्षण में स्थान देकर उन्होंने रस को सर्वाधिक गौरव प्रदान किया है। रस काव्य की आत्मा है तो वाक्य उसका शरीर। दोष काणत्व, खञ्जत्व आदि के समान पहले शरीर को दूषित करते हुए पश्चात् उसमें रहने वाले रसरूप आत्मा की हीनता को सूचित करते हैं—दोषास्तस्यापकर्षकाः। गुण, अलङ्कार और रीतियाँ काव्य के उत्कर्षक हेतु हैं—उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः। गुण शौर्यादि के समान, अलङ्कार कटककुण्डलादि के समान तथा रीतियाँ अवयवसंस्थान की तरह हैं। ये भी

शरीरस्थानीय शब्द के द्वारा आत्मस्थानीय रस का उत्कर्ष सूचित करते हैं। गुण यद्यपि रस के धर्म हैं तथापि उपर्युक्त कारिका में गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ का बोध भी गुण शब्द से लक्षणा के द्वारा होता है। (1/3)

काव्यलिङ्गम्–एक अर्थालङ्कार। वाक्यार्थ अथवा पदार्थ यदि किसी का हेतु हो तो काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है–हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते। इन दोनों प्रकारों के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं–(1) यत्त्वन्नेत्रसमानकान्तिसलिले मग्नं तदिन्दीवरं, मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी। येऽपि त्वद्गमनानुसारिगतयस्ते राजहंसा गतास्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते।। तथा (2) त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलीपटलपङ्किलाम्। न धत्ते शिरसा गङ्गां भूरिभारभिया हरः।। प्रथम श्लोक में प्रथम तीन चरणों के वाक्य चतुर्थ चरण के वाक्य के प्रति हेतु हैं तथा द्वितीय श्लोक में पूर्वार्ध का पद उत्तरार्ध के प्रति हेतु है।

कुछ आचार्य कार्यकारणरूप अर्थान्तरन्यास को वाक्यार्थगत काव्यलिङ्ग में ही गतार्थ मानते हैं। आचार्य विश्वनाथ को यह अभिमत नहीं है। ज्ञापक, निष्पादक और समर्थक के रूप में हेतु तीन प्रकार का होता है। इनमें से ज्ञापक हेतु अनुमान का, निष्पादक काव्यलिङ्ग का तथा समर्थक हेतु अर्थान्तरन्यास का विषय है। (10/81)

काव्यसंहारः–निर्वहणसन्धि का एक अङ्ग। नायकादि को वरदान की प्राप्ति काव्यसंहार कही जाती है–वरप्रदानसम्प्राप्तिः काव्यसंहार इष्यते। यथा नाटक के अन्त में प्रायः सर्वत्र 'किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि' आदि कथन। (6/136)

किलकिञ्चितम्–नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। प्रिय के मिलने से उत्पन्न हर्ष से मुस्कुराहट, शुष्करुदित, हसित, भय, क्रोध, श्रमादि का सङ्कर किलकिञ्चित् कहलाता है–स्मितशुष्करुदितहसितत्रासक्रोधश्रमादीनाम्। साङ्कर्यं किलकिञ्चितमभीष्टतमसंगमादिजाद्धर्षात्।। यथा–पाणिरोधमवरोधितवाञ्छं भर्त्सनाश्च मधुरस्मितगर्भाः। कामिनः स्म कुरुते करभोरूर्हारि शुष्करुदितं च सुखेऽपि।। (3/118)

कुट्टमितम्—नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। केश, स्तन, अधरादि के ग्रहण करने पर हर्ष होने पर भी घबराहट के कारण शिर, कर आदि के परिचालन को कुट्टमित कहते हैं—केशस्तनाधरादीनां ग्रहे हर्षेऽपि सम्भ्रमात्। आहुः कुट्टमितं नाम शिरःकरविधूननम्।। यथा—पल्लवोपमिति साम्यसपक्षं दष्टवत्यधरबिम्बमभीष्टे। पर्यकूजि सरुजेव तरुण्यास्तारलोलवलयेन करेण।। प्रिय के अधरपल्लव पर दन्तक्षत को देखकर उसका सपक्षी करपल्लव कङ्कण की ध्वनि के माध्यम से मानो कूजन करने लगा। (3/120)

कुतूहलम्—नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। सुन्दर वस्तु को देखकर चञ्चल होना कुतूहल कहलाता है—रम्यवस्तुसमालोके लोलता स्यात्कुतूहलम्। यथा—प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव। उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान।। यह अज के पुरी में प्रविष्ट होने पर उसे देखने के कौतूहल से युक्त नायिका का वर्णन है जो महावर लगे गीले ही पैर को झटककर झरोखे तक चली गयी और इस प्रकार सारे मार्ग को लाक्षारस से अङ्कित कर दिया। (3/128)

कुलकम्—जहाँ वाक्यार्थ की परिसमाप्ति पाँच पद्यों में होती है उसे कुलक कहते हैं—पञ्चभिः कुलकं मतम्। (6/302)

कुसुम्भरागः—पूर्वराग का एक प्रकार। जो प्रेम बहुत अधिक चमक दिखाये परन्तु धीरे-धीरे जाता भी रहे, वह कुसुम्भराग होता है—कुसुम्भरागं तत्प्राहुर्यदपैति च शोभते। (3/202)

कृतिः—निर्वहणसन्धि का एक अङ्ग। प्राप्त किये गये अर्थ के द्वारा शोकादि का शमन कृति कहा जाता है—लब्धार्थशमनं कृतिः। यथा, वे.सं. में कृष्ण की "एते भगवन्तो व्यासवाल्मीकिप्रभृतयोऽभिषेकं धारयन्ति" इस उक्ति में अभिषेक से स्थिरता की सूचना दी गयी है। (6/129)

कृशता—प्रवासविप्रलम्भ में काम की चतुर्थ दशा। विरहजन्य सन्ताप में अङ्गों का कृश हो जाना कृशता नामक कामदशा है। (3/211)

केलिः—नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। प्रिय के साथ विहार में क्रीडा को केलि कहा जाता है—विहारे सह कान्तेन क्रीडितं केलिरुच्यते।

यथा–व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलैरपारयन्तं किल पुष्पजं रजः। पयोधरेणोरसि काचिदुन्मनाः प्रियं जघानोन्नतपीवरस्तनी।। (3/131)

कैशिकी–एक नाट्यवृत्ति। कैशिकी प्रधानतः शरीरव्यापाररूपा वृत्ति है, जिसकी उत्पत्ति सामवेद से हुई। विष्णु ने युद्ध में विचित्र अङ्गविक्षेपों से अपने केशों को बाँधा तो कैशिकी वृत्ति की उत्पत्ति हुई, अतएव इसका सम्बन्ध नाट्य में सौन्दर्य और लालित्य को उत्पन्न करने वाले व्यापारों से है। यह मनोरञ्जक नेपथ्यविधान से युक्त, स्त्रियों से व्याप्त, नृत्य और गीत से परिपूर्ण, काम और उपभोग को उत्पन्न करने वाले उपचार से युक्त, सुन्दर विलासों से युक्त वृत्ति कैशिकी कही जाती है–या श्लक्ष्णा नेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसङ्कुला पुष्कलनृत्यगीता। कामोपभोगप्रभवोपचारा सा कैशिकी चारुविलास-युक्ता।।

इसके चार अङ्ग हैं–नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्भ। (6/144)

कोषः–काव्य का एक प्रकार। परस्पर निरपेक्ष श्लोकसमूह को कोष कहते हैं–कोषः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः। इसका उदाहरण मुक्तावली है। इस प्रकार यह मुक्तक छन्दों का सङ्ग्रह है जो आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार एक अथवा अनेक कविओं के द्वारा रचित भी हो सकता है। आचार्य विश्वनाथ का कथन है कि यदि इसमें समान विषय वाले श्लोकों को एक स्थल पर सन्निविष्ट किया जाये तो वह अत्यन्त सुन्दर होता है–व्रज्याक्रमेणरचितः स एवातिमनोरमः। (6/309)

क्रमः–गर्भसन्धि का एक अङ्ग। अन्य के भाव का ज्ञान प्राप्त करना क्रम कहा जाता है–भावतत्त्वोपलब्धिस्तु क्रमः स्यात्। यथा, अ.शा. में दुष्यन्त का विरहगीत की रचना करती हुई शकुन्तला को देखकर यह कथन–स्थाने खलु विस्मितनिमिषेण चक्षुषा प्रियामवलोकयामि। तथा हि–उन्नमितैक-भ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः। पुलकाञ्चितेन कथयति मय्यनुरागं कपोलेन।। (6/100)

क्रोधः–रौद्र रस का स्थायीभाव। प्रत्येक प्रतिकूल वृत्ति की प्रतिक्रिया के रूप में तीक्ष्णता का अवबोधक भाव क्रोध कहा जाता है–प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधकः क्रोध इष्यते। (3/186)

क्लिष्टम्—एक काव्यदोष। अर्थ की प्रतीति में व्यवधान का उपस्थित हो जाना क्लिष्ट दोष कहा जाता है—क्लिष्टमर्थप्रतीतेर्व्यवहितत्वम्। यथा—क्षीरोदजावसतिजन्मभुवः प्रसन्नाः। क्षीरोद=क्षीरसागर, उसमें उत्पन्न स्त्री लक्ष्मी, उसके निवासस्थान कमल की जन्मभूमि जल प्रसन्न हैं। जलरूप अर्थ को बताने के लिए 'क्षीरोदजावसतिजन्मभुवः' शब्द का प्रयोग क्लिष्ट है। यह पददोष समास में ही होता है।

यह दोष वाक्य में भी रहता है, यथा—धम्मिलस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाक्ष्याः। रज्ज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम्।। यहाँ अनेक पदों का सम्बन्ध जो दूर-दूर स्थित है, क्लेशपूर्वक स्थापित करना पड़ता है।

जहाँ अर्थप्रतीति अत्यन्त कष्टकर हो वहाँ अर्थगत कष्टत्व दोष होता है। यथा—वर्षत्येतदहर्पति न तु घनो धामस्थमच्छं पयः, सत्यं सा सवितुः सुता सुरसरित्पूरो यथा प्लावितः। व्यासस्योक्तिषु विश्वसत्यपि न कः श्रद्धा न कस्य श्रुतौ, न प्रत्येति तथापि मुग्धहरिणी भास्वन्मरीचिष्वपः।। (7/3, 4, 5)

क्षिप्तिः—गर्भसन्धि का एक अङ्ग। रहस्य के भेदन को क्षिप्ति कहते है—रहस्यार्थस्य तूद्भेदः क्षिप्तिः स्यात्। यथा वे.सं. में, एकस्यैव विपाकोऽयं दारुणो भुवि वर्त्तते। केशग्रहे द्वितीयेऽस्मिन् नूनं निःशेषिताः प्रजाः।। यह उक्ति।। (6/104)

क्षोभः—एक नाट्यालङ्कार। आक्षेपकारी वचन कहलाने वाले चित्तविक्षोभ को क्षोभ कहते हैं—अधिक्षेपवचःकारी क्षोभः प्रोक्तः स एव तु। यथा—त्वया तपस्विचाण्डाल प्रच्छन्नवधवर्तिना। न केवलं हतो वाली स्वात्मा च परलोकतः।। राम के प्रति कहा गया रावण का यह वाक्य क्षोभ का उदाहरण है। (6/217)

खण्डकाव्यम्—काव्य का एक भेद। काव्य के एक भाग का अनुसरण करने वाली रचना खण्डकाव्य कही जाती है—खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च। महाकाव्य में जहाँ सम्पूर्ण जीवन का वर्णन होता है, यहाँ केवल उसकी एक घटना अथवा एक पक्ष का ही निरूपण सम्भव हो पाता है। इसका आकार लघु होता है तथा सभी नाट्यसन्धियों का भी निर्वाह नहीं होता। यथा मेघदूतम्। (6/308)

खण्डिता–नायिका का एक भेद। अन्य स्त्री के सम्भोग से चिह्नित होकर नायक जिसके पास जाये, वह ईर्ष्या से कलुषित नायिका खण्डिता कही जाती है–पार्श्वमेति प्रियो यस्य अन्यसम्भोगचिह्नितः। सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता।। यथा–तदवितथमवादीर्यन्मम त्वं प्रियेति, प्रियजनपरिभुक्तं यद्दुकूलं वसानः। मदधिवसतिमागाः कामिनां मण्डनश्रीर्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन।। यहाँ अन्य स्त्री के दुकूल को धारण करके नायक खण्डिता नायिका के पास गया है। (3/89)

खेदः–विमर्शसन्धि का एक अङ्ग। मन तथा शरीर से उत्पन्न श्रम खेद नाम से कहा जाता है–मनश्चेष्टासमुत्पन्नः श्रमः खेद इति स्मृतः। यथा–मा. मा. में प्राप्य पद्य-दलति हृदयं गाढ़ोद्वेगो द्विधा न तु भिद्यते, वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्। ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्, प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्।। यह पद्य मनःसमुत्पन्न खेद का उदाहरण है। चेष्टासमुत्पन्न खेद का उदाहरण अ.शा. में वृक्षों के सेचन से थकी हुई शकुन्तला के वर्णन में है। (6/117)

ख्यातिविरुद्धम्–एक काव्यदोष। जहाँ लोकप्रसिद्धि के विरुद्ध बात कही जाये वहाँ ख्यातिविरुद्ध दोष होता है। यथा–ततश्चचार समरे सितशूलधरो हरिः। विष्णु का शूलधारण लोक में प्रसिद्ध नहीं है, जैसा कि यहाँ वर्णित हुआ है। यथा वा, पादाघातादशोकस्ते सञ्जाताङ्कुरकण्टकः। यह कथन कविसमयख्यातिविरुद्ध है क्योंकि स्त्रियों के पादाघात से अशोक पर पुष्प आते हैं, अङ्कुर और कण्टक नहीं। कविसम्प्रदाय में जो बातें प्रसिद्ध होती हैं, उनमें ख्यातविरुद्धता गुण ही होती है। यह अर्थदोष है। (7/5)

गण्डम्–एक वीथ्यङ्ग। प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध रखने वाला त्वरायुक्त अन्यार्थक वाक्य गण्ड कहलाता है–गण्डं प्रस्तुतसम्बन्धि भिन्नार्थं सत्वरं वचः। यथा वे.सं. में दुर्योधन रानी से ज्यों ही "अध्यासितं तव चिराज्जघनस्थलस्य पर्याप्तमेव करभोरु ममोरुयुग्मम्" ऐसा कहता है, उसी समय कञ्चुकी "देव! भग्नं भग्नम्" इस प्रकार कहता हुआ प्रवेश करता है। यद्यपि उसका आशय रथ की ध्वजा के भङ्ग होने से है तथापि वह

उक्ति उरुभङ्ग के अर्थ के साथ सम्बद्ध हो जाती है। पाश्चात्य नाटकों में इसी प्रकार की स्थिति को **Dramatic Irony** कहा जाता है। (6/270)

गद्यम्–काव्य का एक प्रकार। छन्द के बन्धन से मुक्त रचना गद्य कही जाती है–वृत्तगन्धोज्झितं गद्यम्। उसमें यद्यपि छन्द का आग्रह नहीं होता तथापि वामन ने इसे पद्य की अपेक्षा दुर्बन्ध माना था। यह चार प्रकार का होता है–मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक।

गर्भः–तृतीय सन्धि। मुख और प्रतिमुख सन्धियों में किञ्चित् प्रकट हुए फलप्रधान उपाय का जहाँ ह्रास और अन्वेषण से युक्त विकास बार-बार प्रदर्शित किया जाये वहाँ गर्भ नामक सन्धि होती है–फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन। गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान्मुहुः।। कथानक के फल को गर्भ के समान अपने भीतर धारण करने के कारण इसकी गर्भ संज्ञा है। र.ना. के द्वितीय और तृतीय अङ्क की घटनायें गर्भसन्धि का उदाहरण हैं। सा.द.कार के अनुसार इसके 13 अङ्ग हैं–अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, सङ्ग्रह, अनुमान, प्रार्थना, क्षिप्ति, तोटक, अधिबल, उद्वेग और विद्रव। इनमें से प्रार्थना का ग्रहण उन आचार्यों के अनुरोध से किया गया है जो निर्वहण सन्धि में प्रशस्ति को सन्ध्यङ्ग नहीं मानते। द.रू.कार ने यहाँ 12 अङ्ग माने हैं जिनमें विद्रव की गणना नहीं की गयी। कुछ आचार्यों के अनुसार इनमें से अभूताहरण, मार्ग, तोटक, अधिबल, और क्षिप्ति प्रमुख हैं। अन्यों की स्थिति यादृच्छिक है। (6/65, 95)

गर्भाङ्कः–रूपक के एक अङ्क के मध्य प्रविष्ट दूसरा अङ्क गर्भाङ्क कहा जाता है। रङ्गद्वार और आमुख आदि इसके अङ्ग होते हैं तथा बीज और फल का भी स्पष्ट आभास होता है–अङ्कोदरप्रविष्टो यो रङ्गद्वारामुखादिमान्। अङ्कोऽपरः स गर्भाङ्कः सबीजः फलवानपि। इसका उदाहरण बा.रा. का सीतास्वयंवर नामक गर्भाङ्क है। (6/8)

गर्भितता–एक काव्यदोष। यदि एक वाक्य में दूसरा वाक्य अनुप्रविष्ट हो जाये तो गर्भितत्व दोष होता है। यथा–रमणे चरणप्रान्ते प्रणतिप्रवणेऽधुना। वदामि सखि ते तत्त्वं कदाचिन्नोचिताः क्रुधः।। इस पद्य में 'वदामि सखि ते तत्त्वम्' यह वाक्यान्तर बीच में प्रविष्ट हो गया है। कभी-कभी यह गुणरूप भी हो जाता है। यह वाक्यदोष है। (7/4)

गर्वः–एक व्यभिचारीभाव। अपने प्रभाव, ऐश्वर्य, विद्या, कुलीनता आदि से उत्पन्न होने वाला घमण्ड गर्व कहा जाता है। अन्य जनों की अवज्ञा, विलाससहित अपने अङ्गों का प्रदर्शन करना (अंगूठा भुजा आदि का दिखाना) तथा अविनय इसके अनुभाव हैं–गर्वो मदः प्रभावश्रीविद्यासत्कुलादिजः। अविद्या सविलासाङ्गदर्शनाविमयादिकृत्।। यथा–धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः। यद्वा न सिद्धमस्त्रेण मम तत्केन साध्यताम्।। इस पद्य में कर्ण के शौर्यजनित गर्व का वर्णन है। (3/160)

गर्वः–एक नाट्यालङ्कार। अहङ्कार से निकले वाक्य को गर्व कहते हैं–गर्वोऽवलेपजं वाक्यम्। यथा, अ.शा. के षष्ठाङ्क में दुष्यन्त की उक्ति, "ममापि तावत्सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः"।(6/212)

गर्हणम्–एक नाट्यलक्षण। दोषकथन करते समय की गयी भर्त्सना को गर्हण कहते हें–दूषणोद्घोषणायां तु भर्त्सना गर्हणं तु तत्। यथा, वे.सं. में कर्ण के प्रति अश्वत्थामा का यह कथन–निर्वीर्यं गुरुशापभाषितवशात्किं मे तवेवायुधम्, सम्प्रत्येव भयाद् विहाय समरं प्राप्तोऽस्मि किं त्वं यथा। जातोऽहं स्तुतिवंशकीर्त्तनविदां किं सारथीनां कुले, क्षुद्रारातिकृताप्रिय प्रतिकरोम्यस्त्रेण नास्रेण यत्।। (6/197)

गाम्भीर्यम्–नायक का सात्त्विक गुण। भय, शोक, क्रोध, हर्षादि के उपस्थित होने पर भी निर्विकार रहना गाम्भीर्य है–भीशोकक्रोधहर्षाद्यैर्गाम्भीर्यं निर्विकारता। यथा–आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च। न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः।। यहाँ राम के गाम्भीर्य का वर्णन है। (3/65)

गुणः–काव्य का एक तत्त्व। शौर्य आदि जैसे आत्मा के धर्म हैं, उसी प्रकार अङ्गीरूप रस के धर्म गुण कहे जाते हैं–रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा। गुणाः....।। ये आत्मभूत रस का उपकार करते हुए काव्य का उत्कर्ष सिद्ध करते हैं। रसनिष्ठ होने के कारण इनकी काव्य में अचल स्थिति होती है। गुण रस के धर्म होते हुए अपने व्यञ्जक वर्णों में भी काव्यत्व की सिद्धि करते हैं। जैसे शौर्यादि आत्मा के धर्म होते हुए भी लक्षणा से शरीर के धर्म माने जाते हैं उसी प्रकार रसनिष्ठ होते हुए भी ये लक्षणा से शब्दगुण कहे जाते हैं।

ये गुण तीन हैं—माधुर्य, प्रसाद और ओज। प्राचीन आचार्यों के द्वारा जो दशदश शब्द और अर्थगुणों का विवेचन किया गया है, उनमें से श्लेष, प्रसाद, उदारता और समाधि नामक शब्दगुण ओज में अन्तर्भूत हो जाते हैं। अर्थव्यक्ति का प्रसाद में ग्रहण हो जाता है। कान्ति और सुकुमारता ग्राम्य और दुःश्रवत्व नामक दोषों के परित्याग से ही सम्पन्न हो जाते हैं जबकि समता तो वास्तव में गुण न होकर दोषरूप ही है। अर्थगुणों में प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, उदारता और ओज़ वास्तव में दोषाभाव रूप ही हैं। अर्थ-व्यक्ति का स्वभावोक्ति अलङ्कार में तथा कान्ति का रसादि में ग्रहण हो जाता है। श्लेष केवल विचित्रतामात्र ही है जबकि समाधि कोई गुण नहीं है। इस प्रकार वास्तव में कुल तीन ही गुण निष्पन्न होते हैं। (8/1, 10-20)

गुणकथनम्—पूर्वराग में काम की चतुर्थ दशा। वियोगदशा में प्रिय के गुणों का वर्णन गुणकथन कहलाता है। यथा—नेत्रे खञ्जनगञ्जने सरसिजप्रत्यर्थिपाणिद्वयं, वक्षोजौ करिकुम्भविभ्रमकरीमत्युन्नतिं गच्छतः। कान्तिः काञ्चनचम्पकप्रतिनिधिर्वाणी सुधास्यन्दिनी, स्मेरेन्दीवर-दामसोदरवपुस्तस्याः कटाक्षच्छटा।। इस पद्य में नायिका के सौन्दर्यादि गुणों का वर्णन हुआ है। (3/195)

गुणकीर्त्तनम्—एक नाट्यलक्षण। गुणों के वर्णन को गुणकीर्त्तन कहते हैं—गुणानां वर्णनं यत्तु तदेव गुणकीर्त्तनम्। यथा च. क. नाटिका में यह पद्य—नेत्रे खञ्जनगञ्जने सरसिजप्रत्यर्थि पाणिद्वयं, वक्षोजौ करिकुम्भविभ्रमकरीमत्युन्नतिं गच्छतः। कान्तिः काञ्चनचम्पकप्रतिनिधिर्वाणी सुधास्यन्दिनी, स्मेरेन्दीवरदाम-सोदरवपुस्तस्याः कटाक्षच्छटा।। (6/202)

गुणातिपातः—एक नाट्यलक्षण। गुणों के विपरीत कार्य को गुणातिपात कहते हैं—गुणातिपातः कार्यं यद्विपरीतं गुणान्प्रति। यथा च.क. नाटिका के इस पद्य—त्वया संह्रियते तमो गृह्यते सकलैस्ते पादः। वससि शिरसि पशुपतेस्तथापि हा, स्त्रिया जीवनं हरसि।। में स्त्री के जीवन का हरण चन्द्रमा के उक्त गुणों के विपरीत है। (6/186)

गुणातिशयः—एक नाट्यलक्षण। सामान्य गुणों के उत्कर्ष को गुणातिशय कहते हैं—योऽसामान्यगुणोद्रेकः स गुणातिशयो मतः। च.क.

नाटिका में नायिका के मुख को देखकर राजा की यह उक्ति–असावन्तश्चञ्च-द्विकचनवनीलाब्जयुगलस्तलस्फूर्जत्कम्बुर्विलसदलिसङ्घात उपरि। विना दोषासङ्गं सततपरिपूर्णाखिलकलः, कुतः प्राप्तश्चन्द्रो विगलितकलङ्कः सुमुखि ते।। (6/187)

गेयपदम्–एक लास्याङ्ग। वीणा आदि को आगे रखकर आसनस्थ पुरुष अथवा स्त्री के शुष्क गान को गेयपद कहते हैं–तन्त्रीभाण्डं पुरस्कृत्योपविष्टस्यासने पुरः। शुष्कं गानं गेयपदम्।। यथा, गौरीगृह में वीणा के साथ मलयवती का यह गान–उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते। मम हि गौरि! अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति युष्मत्प्रसादेन।। (6/242)

गोत्रस्खलनम्–नायक के मुख से नायिका के सामने अचानक किसी अन्य नायिका का नाम निकल जाना गोत्रस्खलन कहा जाता है।

गोष्ठी–उपरूपक का एक भेद। गोष्ठी एकाङ्की उपरूपक है। इसमें गर्भ और विमर्श सन्धियों का प्रयोग नहीं होता। यह नौ अथवा दश प्राकृत पुरुषों तथा पाँच अथवा छः स्त्रियों से युक्त होती है। कैशिकी वृत्ति और काम तथा शृङ्गार प्रधान होते हैं। इसमें उदात्त वचनों का प्रयोग नहीं होता–प्राकृतैर्नवभिः पुंभिर्दशभिर्वाप्यलङ्कृता। नोदात्तवचना गोष्ठी कैशिकी वृत्तिशालिनी। हीना गर्भविमर्शाभ्यां पञ्चषड्योषिदन्विता। कामशृङ्गारसंयुक्ता स्यादेकाङ्कविनिर्मिता।। यथा, रैवतमदनिका। (6/283)

गौडी–रीति का एक प्रकार। ओज गुण को प्रकाशित करने वाले वर्णों से युक्त उद्भट बन्ध तथा दीर्घ समासों से युक्त रचना गौडी कही जाती है–ओजः प्रकाशकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका। समासबहुला गौडी। आचार्य पुरुषोत्तम ने इसमें अनुप्रास, यमकादि शब्दालङ्कारों के प्रयोग पर भी बल दिया है। यथा–चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य। स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः।। (9/4)

गौणीलक्षणा–लक्षणा का एक भेद। चार प्रकार की सारोपा तथा चार प्रकार की साध्यवसाना, यह आठ प्रकार की लक्षणा सादृश्यसम्बन्ध से युक्त होने पर गौणी कही जाती है–सादृश्यात्तु मता गौण्यः। इस प्रकार गौणी लक्षणा आठ प्रकार की होती है–(1) रूढ़िउपादानसारोपागौणी–एतानि तैलानि हेमन्ते

सुखानि–तिल के अतिरिक्त सरसों आदि के स्नेह में भी तैल शब्द रूढ़ है, अतः रूढ़िलक्षणा है। तिलभव स्नेह के साथ–साथ सरसों आदि के स्नेह का भी उपादान होने से उपादानलक्षणा है। 'एतत्' शब्द से विषय का निर्देश होने के कारण सारोपा है तथा तिलभव तैल का अन्य तैलों के साथ सादृश्य प्रतिपादित होने के कारण गौणी लक्षणा है। (2) रूढ़िलक्षण सारोपागौणी–राजा गौडेन्द्रः कण्टकं शोधयति। यहाँ 'कण्टक' शब्द क्षुद्र शत्रु के अर्थ में रूढ़ है तथा इस वाक्य में क्षुद्र शत्रुरूप अर्थ का उपलक्षणमात्र है, अतः लक्षणलक्षणा भी है। गौडेन्द्र शब्द से विषय का पृथक् निर्देश होने के कारण सारोपा तथा कण्टक शब्द का काँटे की तरह दुःख देने वाले क्षुद्र शत्रु के साथ सादृश्य सम्बन्ध है, अतः गौणी भी है। (3) रूढ़िउपादान साध्यवसानागौणी–तैलानि हेमन्ते सुखानि। इसका वैशिष्ट्य प्रथम उदाहरण के ही समान है, केवल एतत् पद से विषय का पृथक् निर्देश न होने के कारण यह साध्यवसाना है। (4) रूढ़िलक्षणसाध्यवसानागौणी–राजा कण्टकं शोधयति। इसका द्वितीय उदाहरण से केवल इतना ही वैशिष्ट्य है कि यहाँ 'गौडेन्द्र' शब्द से विषय का पृथक् निर्देश नहीं है। (5) प्रयोजन उपादानसारोपागौणी–एते राजकुमारा गच्छन्ति। एक राजकुमार के साथ उसके सदृश अन्य कुमारों के गमन करने पर यह वाक्य प्रयुक्त हुआ है। अन्य कुमारों का भी राजकुमार के तुल्य ही वैशिष्ट्यप्रतिपादन इस लक्षणा का प्रयोजन है। राजकुमारों के साथ अन्य कुमारों का भी उपादान होता है तथा एतत् पद से विषय का पृथक् निर्देश होने से आरोप भी है। राजकुमार का अन्य कुमारों के साथ सादृश्य भी प्रतिपादित होता है, अतः गौणी लक्षणा भी है। (6) प्रयोजनलक्षणसारोपागौणी–गौर्वाहीकः। वाहीक में गौ के समान जाड्यमान्द्य आदि की प्रतीति कराना इसका प्रयोजन है। गौ पद जाड्यमान्द्य आदि गुणों का उपलक्षण मात्र है तथा वाहीक पद से विषय का पृथक् निर्देश होने के कारण आरोप भी है। गौ का वाहीक के साथ सादृश्यसम्बन्ध प्रतिपादित होने के कारण गौणी भी है। (7) प्रयोजनउपादानसाध्यवसानागौणी–राजकुमारा गच्छन्ति। पञ्चम उदाहरण से इसका वैशिष्ट्य केवल इतना है कि यहाँ एतत् पद से विषय का पृथक् निर्देश नहीं है। (8) प्रयोजनलक्षणसाध्यवसानागौणी–गौर्जल्पति। वाहीक रूप विषय का पृथक् निर्देश न होने से यह साध्यवसाना

है, शेष वैशिष्ट्य षष्ठ उदाहरण के ही समान है। केवल 'गौः' कहने से लक्षणा की प्रतीति नहीं होती अतएव 'जल्पति' इस क्रियापद का भी निर्देश है। जल्पन क्रिया का गौः के साथ अर्थ उपपन्न नहीं होता, अतः मुख्यार्थबाध होता है। सादृश्यसम्बन्ध से गोशब्द वाहीक अर्थ में स्वयं को समर्पित कर देता है, अतः यह लक्षणा का उदाहरण बनता है।

गुणों (जडत्वादि) का योग (सम्बन्ध) होने के कारण इसकी गौणी संज्ञा अन्वर्थिका है। उपचार ही गौणीलक्षणा का मूल है जहाँ सादृश्यातिशय के कारण दो नितान्त असम्बद्ध पदार्थों में भेदप्रतीति नहीं रहती। यथा-अग्निर्माणवकः, इस उदाहरण में परस्पर अत्यन्त असम्बद्ध अग्नि और बालक में गुणों के सादृश्य के कारण भेद की प्रतीति दब गयी है। 'शुक्लः पटः' में शुक्ल और पट भिन्न होकर भी नितान्त असम्बद्ध नहीं हैं, अतः यहाँ शुद्धा लक्षणा है। (2/14)

ग्रथनम्–निर्वहण सन्धि का एक अङ्ग। कार्य के उपक्षेप को ग्रथन कहते हैं–उपन्यासस्तु कार्याणां ग्रथनम्। वे.सं. में भीम का पाञ्चाली के प्रति "पाञ्चालि! न खलु मयि जीवति संहर्त्तव्या दुःशासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिभ्याम्। तिष्ठ स्वयमेवाहं संहरामीति", यह कथन इसका उदाहरण है क्योंकि इसके द्वारा कार्य का उपसंहार किया गया है। (6/126)

ग्रथनम–शिल्पक का एक अङ्ग।

ग्राम्यम्–एक काव्यदोष। जो शब्द असभ्य पुरुषों में व्यवहृत होते हैं, वे ग्राम्य कहे जाते हैं। यथा 'कटिस्ते हरते मनः', यहाँ कटि शब्द का प्रयोग ग्राम्य है। अधम कोटि के पात्रों की उक्तियों में यह दोष नहीं होता। 'स्वपिहि त्वं समीपे में स्वपिम्येवाधुना प्रिये', यहाँ अर्थ ग्राम्य है। (7/3, 5)

ग्लानिः–एक व्यभिचारीभाव। रति, परिश्रम, मनस्ताप, क्षुधा, प्यास आदि से उत्पन्न निर्बलता को ग्लानि कहते हैं। इसमें कम्पन, कार्य के प्रति अनुत्साह आदि होते हैं–रत्यायासमनस्तापक्षुत्पिपासादिसम्भवा। ग्लानिर्निष्प्राणताकम्पकार्यानुत्साहतादिकृत्।। यथा–किसलयमिव मुग्धं बन्धनाद् विप्रलूनं, हृदयकुसुमशोषी दारुणो दीर्घशोकः। ग्लपयति परिपाण्डु क्षाममस्याः

शरीरं, शरदिज इव धर्मः केतकीगर्भपत्रम्।। यहाँ राम द्वारा परित्यक्त वन में निवास करती हुई सीता की मनस्तापजन्य ग्लानि का वर्णन किया गया है। (3/179)

चकितम्—नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। प्रिय के आगे अकारण ही भय और सम्भ्रम प्रकट करना चकित कहा जाता है—कुतोऽपि दयितस्याग्रे चकितं भयसम्भ्रमः। यथा—त्रस्यन्ती चलशफरीविघट्टितोरूर्वामोरूरतिशयमाप विभ्रमस्य। क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतोर्लीलाभिः किमु सति कारणे तरुण्यः।। यहाँ जलविहार के समय छोटी सी मछली के जाँघ से टकरा जाने पर नायिका भयभीत हो रही है। (3/130)

चपलता—एक व्यभिचारीभाव। मात्सर्य, द्वेष, रागादि के कारण चित्त का अनवस्थित हो जाना चपलता है। इसमें व्यक्ति भर्त्सना, कठोर शब्दों का प्रयोग, स्वच्छन्द आचरण आदि में प्रवृत्त हो जाता है—मात्सर्यद्वेष-रागादेश्चापल्यं त्वनवस्थितिः। तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः।। यथा—अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्गलोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु। मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमालिकायाः।। यहाँ भृङ्ग के व्याज से किसी चपल नायक को उपालम्भ दिया गया है जो मुग्धा तथा अजातरजसा नायिका का उपमर्द करना चाहता है। (3/178)

चमत्कृतिः—शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

चम्पूः—श्रव्यकाव्य का भेद। गद्य और पद्य दोनों से मिश्रित काव्य को चम्पू कहा जाता है—गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते। यथा, देशराजचरितम्। (6/313)

चर्वणा—रसास्वादन की प्रक्रिया को चर्वणा कहते हैं। विभावानुभावव्यभिचारीभाव के संयोग से चर्वणा नामक व्यापार की निष्पत्ति होती है। उसी का उपचार से रस में भी प्रयोग कर देते हैं, इसीलिए 'रस की उत्पत्ति' जैसे प्रयोग भी बन जाते हैं। रस से अभिन्न होने के कारण यद्यपि उसमें भी कार्यत्व नहीं है तथापि, क्योंकि वह कभी-कभी ही होती है, सदा नहीं रहती अतः अनित्यत्वरूप साधारणधर्म होने के कारण उसमें कार्यत्व उपचरित होता है

चित्रम्–एक शब्दालङ्कार। वर्णों का कमल, खड्ग, मुरज, चक्र, गोमूत्रिका आदि के स्वरूप में परिणत हो जाना चित्र कहा जाता है। इस प्रकार यद्यपि यह वैचित्र्य केवल लेख में उत्पन्न होता है तथापि इन आकारनिष्ठ वर्णों का श्रोत्रग्राह्य शब्दों के साथ लक्षणा से अभेद मान लेने पर उनमें भी काव्यत्व उत्पन्न हो जाता है। कमलबन्ध का उदाहरण आचार्य ने स्वरचित पद्य के रूप में प्रस्तुत किया है–मारमासुषमाचारुरुचामारवधूत्तमा। मात्तधूर्त्ततमावासा सा वामा मेऽस्तु मारमा॥



चिन्ता–एक व्याभिचारीभाव। चित्त की एकाग्रता अथवा एकतानता रूप ध्यान चिन्ता है। यह भाव हितकर वस्तु के प्राप्त न होने पर उत्पन्न होता है तथा इसमें बुद्धि और इन्द्रियों की विकलता, श्वास तथा ताप उत्पन्न होते हैं–ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः शून्यता श्वासतापकृत्। यथा–कमलेन विकसितेन संयोजयन्ती विरोधिनं शशिबिम्बम्। करतलपर्यस्तमुखी किं चिन्तयसि सुमुखि अन्तराहितहृदया॥ यहाँ करतल पर मुख को रखकर बैठी हुई नायिका की चिन्तादशा का वर्णन हुआ है। (3/180)

चिन्ता–पूर्वराग में काम की द्वितीय दशा। प्रिय के साथ मिलन के उपाय के विषय में विचार करना चिन्ता है–चिन्ता प्राप्त्युपायादिचिन्तनम्। यथा–कथमीक्षे कुरङ्गाक्षीं साक्षाल्लक्ष्मीं मनोभुवः। इति चिन्ताकुलः कान्तो निद्रां नैति निशीथिनीम्॥ यहाँ नायिका की प्राप्ति के विषय में इन्द्रजाल को देखने से उत्पन्न अनुराग वाले नायक की चिन्ता अभिव्यक्त हुई है। (3/196)

चूर्णकम्—गद्य का एक प्रकार। अल्पसमासयुक्त रचना को चूर्णक कहा जाता है—तुर्यं (चूर्णकम्) चाल्पसमासकम्। इसका उदाहरण स्वयं विश्वनाथरचित—गुणरत्नसागर! जगदेकनागर! कामिनीमदन! जनरञ्जन! इत्यादि पंक्ति है। (6/310)

चूलिका—अर्थोपक्षेपक का एक भेद। जवनिका में स्थित पात्रों के द्वारा दी गयी कथावस्तु की सूचना चूलिका कही जाती है—अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका। यथा म.च. के चतुर्थाङ्क में "भो भो वैमानिकाः, प्रवर्त्तन्तां रङ्गमङ्गलानि। रामेण परशुरामो जितः।" यह नेपथ्य से पात्रों के द्वारा सूचित किया जाता है। (6/39)

चेटः—नायक का सहायक। यह नायक का दास होता है। सा.द. में इसे नीच कोटि का सहायक माना गया है—तथा शकारचेटाद्या अधमाः परिकीर्तिताः। यहाँ उसका लक्षण भी नहीं किया गया, केवल प्रसिद्ध कहकर छोड़ दिया गया है—चेटः प्रसिद्ध एव। भानुदत्त ने उसे नायकनायिका को मिलाने में चतुर कहा है—सन्धानचतुरश्चेटकः। स्पष्ट है, यह केवल शृङ्गार में ही नायक की सहायता करता है। (3/57)

च्युतसंस्कारता—एक काव्यदोष। च्युतसंस्कारत्व का अर्थ है—व्याकरण के संस्कार से हीन पद का प्रयोग करना। यथा—गाण्डीवीकनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः। व्याकरण के नियम के अनुसार आङ्पूर्वक हन् धातु का प्रयोग आत्मनेपद में तभी होता है जब उसका कर्म स्वाङ्ग हो परन्तु यहाँ 'आजघ्ने' क्रिया का कर्म शङ्कर का वक्षःस्थल है और उसका कर्त्ता अर्जुन। अतः यहाँ आत्मनेपद का प्रयोग संस्कारहीनता है। परस्मैपद में 'आजघान' पद प्रयुक्त होना चाहिए। यह पददोष है। (7/3)

छलम्—एक वीथ्यङ्ग। प्रिय लगने वाले अप्रिय वाक्यों से लोभ दिखाकर छलने में छल नामक वीथ्यङ्ग होता है—प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्यच्छलना छलम्। यथा वे.सं. में यह वाक्य—कर्त्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी, कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः। राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रं, क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः।।

आचार्य विश्वनाथ ने यहाँ कुछ अन्य आचार्यों का मत भी उद्धृत किया है जो दूसरे के किसी कार्य को उद्दिष्ट करके वञ्चना, हास्य तथा रोष को उत्पन्न करने वाले कथन के विन्यास को छल नामक वीथ्यङ्ग मानते हैं–अन्ये त्वाहुश्छलं किञ्चित्कार्यमुद्दिश्य कस्यचित्। उदीर्यते यद्वचनं वञ्चनाहास्यरोषकृत्।। इस प्रकार का लक्षण सागरनन्दी के ना.ल.र.को. में भी प्राप्त होता है–छलं स्याद्वाच्यमन्यार्थं हास्यरोषातिसन्धिकृत्। (6/266-68)

छादनम्–विमर्शसन्धि का एक अङ्ग। अपने कार्य की सिद्धि के लिए अपमानादि का सहन करना छादन कहा जाता है–तदाहुश्छादनं पुनः। कार्यार्थमपमानादेः सहनं खलु यद्भवेत्।। यथा वे.सं. में अर्जुन का भीम के प्रति यह कथन–अप्रियाणि करोत्येष, वाचा शक्तो न कर्मणा। हतभ्रातृशतो दुःखी, प्रलापैरस्य का व्यथा। यहाँ दुर्योधन के अपमान करने वाले प्रलापों से भीम को व्यथित न होने के लिए कहा गया है। (6/122)

छेकानुप्रासः–अनुप्रास का एक भेद। व्यञ्जनसमुदाय की एक ही बार अनेक प्रकार से आवृत्ति को छेकानुप्रास कहते हैं–छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा। 'अनेकधा' पद के प्रयोग के द्वारा स्वरूपतः और क्रमतः दोनों ही प्रकार की समानता अभीष्ट है। रसः और सरः में समान वर्णों का प्रयोग हुआ है परन्तु क्रम भिन्न हो जाने के कारण यह इस अलङ्कार का विषय नहीं बनता। इसके उदाहरण के रूप में आचार्य विश्वनाथ ने अपने पिता के द्वारा निर्मित पद्य को उद्धृत किया है–आदाय बकुलगन्धानन्धीकुर्वन्पदे पदे भ्रमरान्। अयमेति मन्दमन्दं कावेरीवारिपावनः पवनः।। यहाँ 'गन्धानन्धी', 'कावेरीवारि' तथा 'पावनः पवनः' अलङ्कार के स्थल हैं। छेक अर्थात् विदग्धजनों के द्वारा प्रयोज्य होने के कारण इसकी संज्ञा अन्वर्थिका है। (10/4)

जडता–एक व्यभिचारीभाव। यह स्थिति इष्ट अथवा अनिष्ट के दर्शन तथा श्रवण से उत्पन्न होती है और वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर चुपचाप निर्निमेष देखता रहता है–अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः। अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णींभावादयस्तत्र।। यथा–केवलन्तद्युवयुगलमन्योन्य-निहितसजलमन्थरदृष्टि। आलेख्यार्पितमिव क्षणमात्रं तत्र स्थितमासन्नकम्।। यहाँ इष्टदर्शन से उत्पन्न जडता का वर्णन है। (3/154)

जडता—पूर्वराग में काम की नवम दशा। अङ्गों तथा मन का चेष्टाशून्य हो जाना जडता है—जडता हीनचेष्टत्वमङ्गानां मनसस्तथा। यथा—बिसिनीदलशयनीये निहितं सर्वमपि निश्चलमङ्गम्। दीर्घो निश्वासभर एष साधयति जीवतीति परम्।। यहाँ दीर्घनिश्वास से ही नायिका के जीवित होने की प्रतीति होती है, अन्यथा शरीर तो एकदम निश्चल हो गया है। (3/197)

जनान्तिकम्—नाट्योक्ति का एक प्रकार। त्रिपताक कर के द्वारा दूसरों को बचाकर कथानक के मध्य में ही दो पात्रों के मध्य जो परस्पर बातचीत होती है, उसे जनान्तिक कहते हैं—रहस्यन्तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते। त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम्। अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्।

इसमें अङ्गुष्ठ के द्वारा अनामिका अङ्गुलि को दबाकर शेष तीन अङ्गुलियों को मुँह से लगाकर बात की जाती है—ऊर्ध्वसर्वाङ्गुलिनामितानामिकं त्रिपताकलक्षकरम्। अपि च—पताके तु यदा वक्राऽनामिका त्वङ्गुलिर्भवेत्। त्रिपताकः स विज्ञेयः। (6/161)

जुगुप्सा—बीभत्स रस का स्थायीभाव। दोषदर्शनादि के कारण वस्तु से उत्पन्न घृणा को जुगुप्सा कहते हैं—दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विषयोद्भवा। हेमचन्द्र के अनुसार यह चित्त के सङ्कोच की स्थिति है। (3/186)

ज्येष्ठा—स्वकीया नायिका का एक भेद। नायक के प्रणय की अधिकता से युक्त मध्या और प्रगल्भा नायिका ज्येष्ठा कही जाती है। यथा—दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरादेकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः। ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मान-सामन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति।। इस पद्य में जिस नायिका का चुम्बन किया गया है, वह ज्येष्ठा नायिका है। (3/79)

डिमः—रूपक का एक भेद। डिम का अर्थ है—विप्लव। अतएव ऐतिहासिक कथावस्तु वाली इस नाट्यविधा में माया, इन्द्रजाल, सङ्ग्राम, क्रोध तथा उन्मत्तादिकों की चेष्टाओं का बाहुल्य रहता है। सूर्य और चन्द्रग्रहणों का सद्भाव तथा कैशिकी वृत्ति और विमर्शसन्धि का अभाव होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार इसमें चार दिन की घटनाओं का उल्लेख होता है।

चार अङ्कों की इस रचना में विष्कम्भक और प्रवेशक का प्रयोग वर्जित है। रौद्र रस का अङ्गी तथा शान्त, हास्य और शृङ्गार के अतिरिक्त छः रसों का अङ्गरूप में विधान है। सोलह नायक अत्यन्त उद्धत प्रकृति के देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, महासर्प, भूत, प्रेत, पिशाचादिक होते हैं–मायेन्द्रजालसङ्ग्राम-क्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः। उपरागैश्च भूयिष्ठो डिमः ख्यातेतिवृत्तकः। अङ्गी रौद्ररसस्तत्र सर्वेऽङ्गानि रसाः पुनः। चत्वारोऽङ्काः मता नेह विष्कम्भकप्रवेशकौ। नायका देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः। भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः। वृत्तयः कैशिकीहीना निर्विमर्शाश्च सन्धयः। दीप्ताः स्युः षड्रसाः शान्त-हास्यशृङ्गारवर्जिताः।। आचार्य भरत के अनुसार इसका उदाहरण त्रिपुरदाह है। (6/259)

तद्गुणः–एक अर्थालङ्कार। अपने गुणों को छोड़कर अत्युत्कृष्ट वस्तु के गुणों को ग्रहण करने में तद्गुण अलङ्कार होता है–तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः। यथा–जगाद वदनच्छद्मपद्मपर्यन्तपातिनः। नयन्मधुलिहः श्वैत्यमुदग्रदशनांशुभिः।। इस पद्य में बलभद्र के मुखकमल के निकट घूमने वाले भ्रमरों का उनके दाँतों की प्रभा से श्वेत होने का वर्णन है।

मीलित अलङ्कार में प्रकृत वस्तु अन्य वस्तु से आच्छादित हो जाती है, यहाँ वह अन्य वस्तु के गुणों से आक्रान्त होती है। (10/117)

तन्मयता–प्रवास विप्रलम्भ में काम की अष्टम दशा। भीतर बाहर सब ओर प्रिय का ही दृष्टिगोचर होना तन्मयता कही जाती है–तन्मयं तत्प्रकाशो हि बाह्याभ्यन्तरस्तथा। (3/212)

तपनम्–नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। प्रिय के वियोग में कामोद्वेग की चेष्टाओं को तपन कहते हैं–तपनं प्रियविच्छेदे स्मरावेगोत्थचेष्टितम्। यथा–श्वासान्मुञ्चति भूतले विलुठति त्वन्मार्गमालोकते, दीर्घं रोदिति विक्षिपत्यत इतः क्षामां भुजावल्लरीम्। किञ्च प्राणसमान काङ्क्षितवती स्वप्नेऽपि ते सङ्गमं, निद्रां वाञ्छति न प्रयच्छति पुनर्दग्धो विधिस्तामपि।। (3/125)

तर्कः–शिल्पक का एक अङ्ग। किसी तथ्य को निश्चित करने के लिए किया गया आत्मपरीक्षण तर्क कहा जाता है। (6/295)

तात्पर्या—वाक्य की एक वृत्ति। अभिधा शक्ति के द्वारा एक एक पद के अर्थ का बोध कराकर विरत हो जाने पर पदार्थों के परस्पर अन्वय के द्वारा सम्पूर्ण वाक्य का अर्थबोध कराने वाली वृत्ति तात्पर्या कही जाती है तथा उसके द्वारा बोध्य अर्थ तात्पर्यार्थ होता है। इस तात्पर्यार्थ का बोध वाक्य से होता है—तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने। तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे।।

यह मत कुमारिलभट्ट आदि अभिहितान्वयवादियों का है। इनके अनुसार पहले अभिधादि वृत्तियों के द्वारा पदार्थ का बोध होता है, पुनः तात्पर्यावृत्ति के द्वारा उन पदार्थों का परस्पर अन्वय होकर उससे वाक्यार्थ का बोध होता है। मीमांसकों का एक दूसरा पक्ष अन्विताभिधानवादियों का है। प्रभाकर आदि इन आचार्यों के अनुसार पदार्थ परस्पर सम्बद्ध ही उपस्थित होते हैं, अतः इस वृत्ति की आवश्यकता नहीं है। विश्वनाथ आचार्य को प्रथम मत ही मान्य है। अतएव उन्होंने पद के लक्षण में अनन्वित शब्द का प्रयोग किया है। (2/27)

तापः—प्रवासविप्रलम्भ में काम की द्वितीय दशा। विरहज्वर को ताप कहते हैं—तापस्तु विरहज्वरः। (3/212)

तापः—शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

तापनम्—प्रतिमुखसन्धि का एक अङ्ग। उपाय का न मिलना तापन नामक सन्ध्यङ्ग है—उपायादर्शनं यत्तु तापनं नाम तद्भवेत्। यथा—र.ना. में सागरिका का यह कथन—'दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवशः आत्मा। प्रियसखि! विषमः प्रेमा मरणं शरणं केवलमेकम्।। (6/85)

तुल्यतर्कः—एक नाट्यलक्षण। प्रकृत पदार्थ के द्वारा (समानता बतलाने वाले) तर्क प्रस्तुत करना तुल्यतर्क कहलाता है—तुल्यतर्को यदर्थेन तर्कः प्रकृतिगामिना। यथा वे.सं. में दुर्योधन की यह उक्ति—प्रायेणैव हि दृश्यन्ते कामं स्वप्नाः शुभाशुभाः। शतसंख्या पुनरियं सानुजं स्पृशतीव माम्।। यहाँ भानुमती के द्वारा दृष्ट स्वप्न में नकुल के द्वारा सौ सर्पों के मारे जाने से अपने सौ भाइयों के साम्य की आशङ्का से दुर्योधन भीत सा है। (6/178)

तुल्ययोगिता—एक अर्थालङ्कार। केवल प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत पदार्थों

का एक ही धर्म के साथ सम्बन्ध तुल्ययोगिता है–पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्। एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता।। यह धर्म गुण अथवा क्रियारूप होता है। यथा–अनुलेपनानि कुसुमान्यबलाः कृतमन्यवः पतिषु दीपदशाः। समयेन तेन सुचिरं शयितप्रतिबोधितस्मरमबोधिषत।। इस उदाहरण में अनेक प्रस्तुत पदार्थ अनुलेपन, कुसुम, पतियों पर क्रुद्ध स्त्रियाँ तथा दीपों की पंक्तियाँ कामदेव को जगाने रूपी एक ही क्रिया के साथ सम्बद्ध हैं। तदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते। मालती शशभृल्लेखाकदलीनां कठोरता।। यहाँ मालती आदि अप्रस्तुत पदार्थों का एक ही कठोरता रूप गुण से सम्बन्ध है। (10/66)

तेजः–नायक का सात्त्विक गुण। अन्य के द्वारा किये गये अपमानादि का प्राण जाने पर भी सहन न करना तेज है–अधिक्षेपापमानादेः प्रयुक्तस्य परेण यत्। प्राणात्ययेऽप्यसहनं तत्तेजः समुदाहृतम्।। (3/67)

तोटकम्–गर्भसन्धि का एक अङ्ग। अधीरतापूर्ण वचन को तोटक कहते हैं–तोटकं पुनः संरब्धवाक्। यथा च.कौ.में "आः, पुनः कथमद्यापि न सम्भूताः स्वर्गदक्षिणाः", आदि उक्ति। (6/105)

त्रासः–एक व्यभिचारीभाव। वज्रपात, विद्युत्, तारा टूटने आदि से उत्पन्न मन की व्यग्रता त्रास कही जाती है। इसमें कम्प आदि होते हैं–निर्घातविद्युदुल्काद्यैस्त्रासः कम्पादिकारकः। यथा–परिस्फुरन्मीनविघट्टितोरवः सुराङ्गनास्त्रासविलोलदृष्टयः। उपाययुः कम्पितपाणिपल्लवाः सखीजनस्यापि विलोकनीयताम्।। यहाँ जलविहार करती हुई सुराङ्गनाओं के उरुप्रदेश से मछलियों के टकरा जाने पर उनके त्रास की स्थिति वर्णित की गयी है। (3/172)

त्रिकपटः–स्वाभाविक, कृत्रिम और दैवज–यह तीन प्रकार का कपट होता है–कपटः पुनः स्वाभाविकः कृत्रिमश्च दैवजः। इनमें से प्रथम प्रकार का कपट कथावस्तु के सहज क्रम में परिस्थितिवश आ जाता है। कृत्रिम कपट दूसरे पुरुषों के द्वारा किसी को सुख अथवा दुःख आदि देने की भावना से प्रयुक्त किया जाता है तथा दैवी कपट किसी अदृश्य शक्ति से प्राप्त होता है। (6/258)

त्रिगतम्–वीथ्यङ्ग। श्रुति की समानता के कारण अनेक अर्थों की कल्पना त्रिगत नामक वीथ्यङ्ग होता है–त्रिगतं स्यादनेकार्थयोजनं श्रुतिसाम्यतः। धनञ्जय के अनुसार इस नाम की सार्थकता नट, नटी तथा पारिपार्श्विक के द्वारा सम्पादित होने में है–नटादित्रितयालापः। वि.उ. नाटक में राजा अपने ही द्वारा कहे गये वाक्य "सर्वक्षितिभृतां नाथ, दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी। रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन्मया विरहिता त्वया"।। की प्रतिध्वनि सुनकर 'मया विरहिता त्वया दृष्टा' के स्थान पर 'त्वया विरहिता मया दृष्टा' इस प्रकार अन्वय करके उसे उत्तर वाक्य समझ लेता है तथा उन्मत्त की भाँति, "कथं दृष्टेत्याह" इस प्रकार कहता है, यह त्रिगत का उदाहरण है। (6/265)

त्रिगूढ़कम्–एक लास्याङ्ग। स्त्रीवेशधारी पुरुषों का श्लक्ष्ण नाट्य त्रिगूढ़क कहा जाता है–स्त्रीवेषधारिणां पुंसां नाट्यं श्लक्ष्णं त्रिगूढकम्। यथा मा.मा. में मकरन्द का मालती बन जाना–एषोऽस्मि मालती संवृत्तः। (6/247)

त्रिविद्रवः–अचेतन, चेतन तथा चेतनाचेतन के द्वारा किया जाने वाला तीन प्रकार का विद्रव होता है। अचेतन विद्रव अग्नि, वायु आदि के द्वारा तथा चेतन युद्ध आदि के द्वारा उत्पन्न होता है। चेतनाचेतन से अभिप्राय गजादि के द्वारा उत्पन्न किये जाने वाले विद्रव से है। (6/258)

त्रिशृङ्गारः–शृङ्गार तीन प्रकार का होता है–धर्मशृङ्गार, अर्थशृङ्गार और कामशृङ्गार–धर्मार्थकामैस्त्रिविधः शृङ्गारः। आत्मकल्याण के लिए व्रत आदि धार्मिक कार्यों का आचरण धर्मशृङ्गार है। इसका उदाहरण पुष्पदूषितक में नन्दयन्ती के द्वारा ब्राह्मणभोजन कराया जाना है। उदयन का अपने राज्य की पुनः प्राप्ति के लिए पद्मावती के साथ विवाह करना अर्थशृङ्गार है क्योंकि यह स्वार्थपूर्ति के निमित्त किया गया है। स्त्री के साथ मिलन के लिए उन्माद आदि के द्वारा होने वाला व्यवहार कामशृङ्गार है, यथा उदयन का प्रणयवश वासवदत्ता से विवाह। इनमें से कामशृङ्गार प्रथम अङ्क में ही होता है, शेष के लिए कोई नियम नहीं है। (6/258)

त्रोटकम्–उपरूपक का एक भेद। सात, आठ, नौ अथवा पाँच अङ्कों से युक्त तथा देवताओं और मनुष्यों से संश्रित नाट्यविधा त्रोटक कही जाती है। इसके प्रत्येक अङ्क में विदूषक का प्रवेश होता है, अतः यह शृङ्गार रस

से युक्त होता है—सप्ताष्टनवपञ्चाङ्कं दिव्यमानुषसंश्रयम्। त्रोटकं नाम तत्प्राहुः प्रत्यङ्कं सविदूषकम्।। सात अङ्कों वाला त्रोटक स्तम्भितरम्भम् तथा पाँच अङ्कों का विक्रमोर्वशीयम् है। (6/282)

दक्षिणः—नायक का एक भेद। अनेक नायिकाओं में समान अनुराग रखने वाला दक्षिण नायक कहा जाता है—एषु त्वनेकमहिलासमरागो दक्षिणः कथितः। यथा—स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वाराङ्गराजस्वसुः, द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया, देवी प्रसाद्याद्य च। इत्यन्तःपुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते, देवेनाप्रतिपत्तिमूढ़मनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः।। (3/42)

दयावीरः—वीर रस का एक भेद। दयामूलक उत्साह नामक स्थायीभाव जहाँ विभावादि के द्वारा परिपुष्ट होकर रस के रूप में अनुभूति का विषय बने वहाँ दयावीर रस होता है। यथा—शिरामुखैः स्यन्दत एष रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति। तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत् किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन्।। जीमूतवाहन की इस उक्ति में नाग आलम्बन, उसकी कातरता उद्दीपन विभाव, आनन्द अनुभाव तथा धैर्य नामक व्यभिचारीभाव से पुष्ट होकर दयामूलक उत्साह नामक स्थायीभाव दयावीर रस के रूप में परिणत हो रहा है। (3/228)

दाक्षिण्यम्—एक नाट्यलक्षण। चेष्टा और वाणी के द्वारा एक दूसरे के चित्त का अनुवर्त्तन दाक्षिण्य कहा जाता है—दाक्षिण्यं चेष्टया वाचा परचित्तानुवर्तनम्। लक्ष्मण के द्वारा विभीषण के प्रति कहा गया यह वचन—प्रसाधय पुरीं लङ्कां राजा त्वं हि विभीषणः। आर्येणानुगृहीतस्य न विघ्नः सिद्धिमन्तरा।। वाणी के द्वारा परचित्त के प्रसादन का उदाहरण है। (6/193)

दानम्—नायिका का मानभङ्ग करने का एक उपाय। भूषण आदि देने के व्याज से नायिका को प्रसन्न करना दान कहलाता है—दानं व्याजेन भूषादेः। (3/208)

दानवीरः—वीर रस का एक भेद। उत्साह नामक स्थायीभाव जहाँ त्यागमूलक हो, वहाँ दानवीर रस होता है। यथा—त्यागः सप्तसमुद्र-मुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः। यहाँ परशुराम का त्यागमूलक उत्साह नामक स्थायीभाव सम्प्रदानभूत ब्राह्मणरूप आलम्बन तथा सत्त्वगुणपरायणता आदि उद्दीपनों से विभावित होकर, सर्वस्वत्याग आदि से अनुभावित होकर तथा

हर्ष, धृति आदि व्यभिचारीभावों से परिपुष्ट होकर दानवीर रस के रूप में अनुभूति का विषय बन रहा है। (3/228)

दिष्टम्–एक नाट्यलक्षण। देशकालानुरूप वर्णन को दिष्ट कहते हैं–देशकालस्वरूपेण वर्णना दिष्टमुच्यते। वे.सं. में सहदेव की यह उक्ति–यद्वैद्युतमिव ज्योतिरार्ये क्रुद्धेऽद्य सम्भृतम्। तत्प्रावृडिव कृष्णेयं नूनं संवर्द्धयिष्यति।। इसका उदाहरण है। (6/184)

दीपकम्–एक अर्थालङ्कार। अप्रस्तुत और प्रस्तुत पदार्थों से जब एक धर्म का सम्बन्ध हो अथवा अनेक क्रियाओं का एक कारक हो तब दीपक अलङ्कार होता है–अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते। अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्।। यथा–बलावलेपादधुनापि पूर्ववत् प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा। सती च योषित्प्रकृतिश्च निश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि।। इस श्लोक में प्रस्तुत प्रकृति तथा अप्रस्तुत स्त्री का एक ही अनुगमन क्रिया के साथ सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है। कविराज विश्वनाथ के ही पद्य–दूरं समागतवति त्वयि जीवनाथे, भिन्ना मनोभवशरेण तपस्विनी सा। उत्तिष्ठति स्वपिति वासगृहं त्वदीयमायाति याति हसति श्वसिति क्षणेन।। में एक ही नायिका का उत्त्थान आदि अनेक क्रियाओं के साथ सम्बन्ध प्रदर्शित है।

गुणक्रिया आदि की आदिमध्यान्त स्थिति के आधार पर इसके भेद प्रदर्शित नहीं किये जाने चाहिएँ क्योंकि इस प्रकार की विचित्रतायें तो सहस्रों प्रकार से सम्भव हैं। (10/67)

दीप्तिः–नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। अत्यन्त विस्तीर्ण कान्ति ही दीप्ति कही जाती है–कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्यभिधीयते। (देखें कान्ति) यथा–तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसम्पदो हासः। धरणितलस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम्। (3/109)

दुर्मल्लिका–उपरूपक का एक भेद। यह चार अङ्कों का कैशिकी और भारती वृत्तियों से सम्पन्न उपरूपक है। इसमें गर्भसन्धि नहीं होती। पात्रों में अनेक नागर नर होते हैं परन्तु नायक न्यून कोटि का होता है। तीन नाली समय वाला प्रथमाङ्क विट की क्रीडाओं से युक्त होता है। पाँच नाली का द्वितीयाङ्क विदूषक की क्रीडाओं से युक्त होता है। छः नाली के तृतीयाङ्क

में पीठमर्द के विलासों का वर्णन होता है तथा दस नाली समय वाला चतुर्थाङ्क नागर जनों की क्रीडाओं से विभूषित होता है–दुर्मल्ली चतुरङ्का स्यात्कैशिकी भारती तथा। अगर्भा नागरनरा न्यूननायकभूषिता। त्रिनालिः प्रथमोऽङ्कोऽस्यां विटक्रीडामयो भवेत्। पञ्चनालिर्द्वितीयोऽङ्को विदूषकविलासवान्। षण्णालिकस्तृतीयस्तु पीठमर्दविलासवान्। चतुर्थो दशनालिः स्यादङ्कः क्रीडितनायकः।। इसका उदाहरण बिन्दुमती है। (6/297)

दुष्क्रमत्वम्–एक काव्यदोष। जहाँ निरूपित वस्तुओं का क्रम अनुचित हो वहाँ दुष्क्रमत्व दोष होता है। यथा–देहि में वाजिनं राजन् गजेन्द्रं वा मदालसम्। वास्तव में गजेन्द्र का पहले याचन होना चाहिए। यह अर्थदोष है। (7/5)

दुःश्रवत्वम्–एक काव्यदोष। परुष वर्णों से युक्त होने के कारण जो सुनने में कष्टकर लगे उसे दुःश्रव कहते हैं–परुषवर्णतया श्रुतिदुःखावहत्वं दुःश्रवत्वम्। यथा–कार्त्तार्थ्यं यातु तन्वङ्गी कदाऽनङ्गवशंवदा। यहाँ र् त् थ् वर्णों का संयोग होने के कारण कठोरता उत्पन्न हुई है। अतः पद के अधिकांश भाग को दूषित करता हुआ यह पददोष है। यह शृङ्गारादि कोमल रसों का ही विघातक होता है, वीररौद्रादिक रसों में तो इसका प्रयोग गुण ही है। यदि कोई वैयाकरण वक्ता या श्रोता हो तो भी यह गुण ही होता है। इस प्रकार यह अनित्यदोष है। 'तद्गच्छ सिद्ध्यै कुरुदेवकार्यम्' में 'सिद्ध्यै' का 'ध्यै' अंश श्रुतिकष्ट है, अतः यह पदांशदोष भी है। (7/3)

दूतः–नायक का सहायक। जिसे नायक किसी कार्य से प्रेषित करे वह दूत कहा जाता है–कार्यप्रेष्यो दूतः। दूत तीन प्रकार के होते हैं–निसृष्टार्थ, मितार्थ और सन्देशहारक–निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा सन्देशहारकः। (3/58)

दूती–सन्देशप्रेषण में प्रवीण स्त्री। जो नायक तथा नायिका के सन्देश एक दूसरे के पास ले जाती है, उनका विरहनिवेदन दूसरे के सामने प्रकट करती है तथा उनका संयोग करवाती है, वह दूती कही जाती है। नायिका की सखी, नटी, दासी, धाय की लड़की, पड़ोसिन, बालिका, संन्यासिनी, धोबिन आदि तथा चित्र बनाने वाली स्त्री तथा कभी-कभी स्वयं नायिका

भी दूती का कार्य करती हुई देखी गयी है। दूती को कलाओं में निपुण, उत्साहशील, भक्तियुक्त, दूसरे के हृद्भावों को समझने वाली, अच्छी स्मृति वाली, मधुर, वक्रोक्ति के विशिष्ट ज्ञान से युक्त तथा बोलने में कुशल होना चाहिए। दूत्यः सखी नटी दासी धात्रेयी प्रतिवेशिनी। बाला प्रव्रजिता कारूः शिल्पिन्याद्याः स्वयं तथा।। कलाकौशलमुत्साहो भक्तिश्चित्तज्ञता स्मृतिः। माधुर्यं नर्म्मविज्ञानं वाग्मिता चेति तद्गुणाः।। ये भी औचित्य के अनुसार उत्तम, मध्यम तथा अधम होती हैं—एता अपि यथौचित्यादुत्तमाधममध्यमाः।। (3/136-37)

दृष्टान्तः—एक नाट्यलक्षण। पक्ष में साध्य के साधन के लिए तर्क के निदर्शन को दृष्टान्त कहते हैं—दृष्टान्तो यस्तु पक्षार्थसाधनाय निदर्शनम्। यथा वे.सं.में सहदेव की भानुमती के विषय में यह उक्ति—"आर्य! उचितमेवैतत्तस्याः। यतो दुर्योधनकलत्रं हि सा"। (6/177)

दृष्टान्तः—एक अर्थालङ्कार। दो वाक्यों में धर्मसहित उपमानोपमेय के प्रतिबिम्बन को दृष्टान्त कहते हैं—दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्। यहाँ प्रतिबिम्बन से अभिप्राय है—सादृश्य का प्रतीयमान होना। इसका भी साधर्म्य और वैधर्म्यरूप में दोनों प्रकार से कथन किया जा सकता है। इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्। अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला।। (साधर्म्य) तथा, त्वयि दृष्टे कुरङ्गाक्ष्याः स्रंसते मदनव्यथा। दृष्टानुदयभाजीन्दौ ग्लानिः कुमुदसंहतेः।। (वैधर्म्य)

प्रतिवस्तूपमा में केवल उपमानोपमेय में ही बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है जबकि दृष्टान्त में साधारणधर्मसहित उपमानोपमेय प्रतिबिम्बित होते हैं। (10/69)

दैन्यम्—एक व्यभिचारीभाव। दुर्गति आदि के द्वारा उत्पन्न ओजहीनता की स्थिति दैन्य कही जाती है। इससे मलिनता आदि उत्पन्न होते हैं—दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत्। यथा—वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं कालोऽभ्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो। यत्नात्सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला, दृष्ट्वा गर्भभरालसां

निजवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति।। इस पद्य में घर के अभावों को देखकर रोती हुई सास की दीन दशा वर्णित है। (3/151)

दोषः–काव्यात्मभूत रस के अपकर्षक तत्त्व। काव्य का अपकर्ष करनेवाले तत्त्वों को दोष कहते हैं–दोषास्तस्यापकर्षकाः। और क्योंकि काव्य का सर्वस्व रस ही है अतः कहा जा सकता है कि काव्यात्मभूत रस के अपकर्षक तत्त्व ही दोष हैं–रसापकर्षका दोषाः। जिस प्रकार काणत्व खञ्जत्वादि शरीर का अपकर्ष करते हुए परम्परया शरीरधारी का भी अपकर्ष करते हैं, उसी प्रकार श्रुतिदुष्ट, अपुष्टार्थ आदि पहले शब्द वा अर्थ को दूषित करते हुए परम्परया काव्यात्मभूत रस का अपकर्ष करते हैं। स्वशब्दवाच्यत्व आदि तो मूर्खत्व आदि की तरह साक्षात् ही काव्यात्म के अपकर्षक होते हैं। ये काव्य में कभी-कभी दोषाभावरूप अथवा गुणरूप भी हो जाते हैं। कम से कम अनुकरण में तो सभी रसों की अदोषता प्रतिपादित की गयी है। जो दोष नियत रूप से सदा काव्य का अपकर्ष ही करें वे नित्यदोष होते हैं तथा जो परिस्थितिविशेष में दोषाभाव अथवा गुणरूप हो जायें वे अनित्य दोष हैं।

काव्य में स्थिति के आधार पर ये पाँच प्रकार के होते हैं–पददोष, पदांशदोष, वाक्यदोष, अर्थदोष और रसदोष। (7/1-2)

द्युतिः–विमर्शसन्धि का एक अङ्ग। तर्जन (डाँटना) और उद्वेजन (फटकारना) द्युति कहा जाता है–तर्जनाद्वेजने प्रोक्ता द्युतिः। यथा वे.सं. में भीमसेन की दुर्योधन के प्रति यह उक्ति–जन्मेन्दोर्विमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदां, मां दुःशासनकोष्णशोणितमधुक्षीबं रिपुं भाषसे। दर्पान्धो मधुकैटभद्विषि हरावप्युद्धतं चेष्टसे, त्रासान्मे नृपशो विहाय समरं पङ्केऽधुना लीयसे।। (6/114)

द्रवः–विमर्शसन्धि का एक अङ्ग। शोक, आवेश आदि के कारण गुरुओं का व्यतिक्रम द्रव नामक सन्ध्यङ्ग है–द्रवो गुरुव्यतिक्रान्तिः शोकावेगादि सम्भवा। वे.सं. में युधिष्ठिर की बलराम के प्रति यह उक्ति–भगवन्! कृष्णाग्रज! सुभद्राभ्रातः! ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता क्षत्रियाणां न धर्मारूढं सख्यं तदपि गणितं नानुजस्यार्जुनेन। तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः,

कोऽयं पन्था यदसि विमुखो मन्दभाग्ये मयि त्वम्।। इसका उदाहरण है। (6/113)

द्विगूढ़कम्—एक लास्याङ्ग। जिसमें पद चतुरस्र, मुख और प्रतिमुख सन्धियाँ तथा रस और भाव समृद्ध हों, उस गीत को द्विगूढ़क कहते हैं—चतुरस्रपदं गीतं, मुखप्रतिमुखान्वितम्। द्विगूढ़ं रसभावाढ्यम्। (6/249)

धर्मवीरः—वीररस का एक भेद। धर्ममूलक उत्साह नामक स्थायीभाव जहाँ विभावादि के द्वारा परिपुष्ट होकर रस के रूप में परिणत होता है, वहाँ धर्मवीर नामक रस होता है। यथा—राज्यं च वसु देहश्च भार्या भ्रातृसुताश्च ये। यच्च लोके ममायत्तं तद्धर्माय सदोद्यतम्।। (3/228)

धीरप्रशान्तः—नायक का एक भेद। नायक के सामान्य गुणों विनयादि से युक्त ब्राह्मण आदि धीरप्रशान्त कहे जाते हैं—सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरशान्तः स्यात्। यथा मा.मा. में माधवादि। (3/40)

धीरललितः—नायक का एक भेद। चिन्तारहित (सचिवादि पर योगक्षेम का भार डालकर), मधुर, निरन्तर नृत्यादि कलाओं में रत नायक धीरललित होता है—निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्। यथा, र.ना. आदि में वत्सराज आदि। (3/39)

(प्रगल्भा) धीरा—स्वकीया नायिका का एक भेद। प्रगल्भा नायिका यदि धीरा हो तो वह अपने क्रोध को छिपाकर रखती है। बाहर से आदर प्रकट करती हुई भी वह रति में उदासीन रहती है—प्रगल्भा यदि धीरा स्याच्छन्नकोपाकृतिस्तदा। उदास्ते सुरते तत्र दर्शयन्त्यादरान्बहिः।। यथा—एकत्रासनसंस्थितिः परिहृता प्रत्युद्गमाद्दूरतस्ताम्बूलानयनच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि संविघ्नितः। आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनं व्यापारयन्त्यान्तिके, कामं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः।। (3/76)

(मध्या) धीरा—स्वकीया नायिका का एक भेद। नायक पर क्रोधित होकर उसे परिहासपूर्ण वक्रोक्ति के द्वारा विद्ध करने वाली नायिका मध्याधीरा कही जाती है—प्रियं सोत्प्रासवक्रोक्त्या मध्याधीरा दहेद्रुषा। यथा—तदवितथमवादीर्यन्मम त्वं प्रियेति, प्रियजनपरिभुक्तं यद् दुकूलं दधानः। मदधिवसतिमागाः कामिनीनां मण्डनश्रीर्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन।। (3/75)

(प्रगल्भा) धीराधीरा—स्वकीया नायिका का एक भेद। प्रगल्भा धीराधीरा नायिका व्यङ्ग्य भरे वचनों से नायक को खिन्न करती है—धीराधीरा तु सोल्लुण्ठभाषितैः खेदयत्यमुम्। यथा—अनलङ्कृतोऽपि सुन्दर हरसि मनो मे यतः प्रसभम्। किं पुनरलङ्कृतस्त्वं सम्प्रति नखरक्षतैस्तस्याः।। (3/77)

(मध्या) धीराधीरा—स्वकीया नायिका का एक भेद। मध्या धीराधीरा नायिका क्रुद्ध होकर रोदन क्रिया के द्वारा अपने रोष को व्यक्त करती है—धीराधीरा तु रुदितैः। यथा—बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतं, खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि। तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते, नन्वेतन्मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते।। (3/75)

धीरोदात्तः—नायक का एक भेद। आत्मप्रशंसा न करने वाला, क्षमायुक्त, अत्यन्त गम्भीर, शोकक्रोध आदि से जिसका अन्तःकरण अभिभूत नहीं होता, स्थिर प्रकृति वाला, विनय के कारण जिसका गर्व प्रच्छन्न रहता है, अङ्गीकृत का निर्वाह करने वाला नायक धीरोदात्त कहा जाता है—अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः। स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः।। यथा—राम, युधिष्ठिरादि। (3/37)

धीरोद्धतः—नायक का एक भेद। मायावी (जो मन्त्रादि के बल से अविद्यमान वस्तुओं का भी प्रकाशन कर सकता है), रौद्र, अनवस्थितचित्त, अहङ्कार और गर्व से युक्त, आत्मप्रशंसी नायक धीरोद्धत कहा जाता है—मायापरश्चपलोऽहङ्कारदर्पभूयिष्ठः। आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः। यथा—भीमसेनादि। (3/38)

धृतिः—एक व्यभिचारीभाव। तत्त्वज्ञान तथा इष्टप्राप्ति आदि के कारण इच्छाओं का पूर्ण हो जाना धृति कहा जाता है। इसमे सम्पूर्ण तृप्ति, आनन्दपूर्ण वचन, मन्दहास तथा बुद्धिविकास आदि होते हैं—ज्ञानाभीष्टागमाद्यैस्तु सम्पूर्णस्पृहता धृतिः। सौहित्यवचनोल्लाससहासप्रतिभादिकृत्।। यथा—कृत्वा दाननिपीडनां निजजने बद्ध्वा वचोविग्रहं, नैवालोच्य गरीयसीरपि चिरादामुष्मिकीर्यातनाः। द्रव्यौघाः परिसञ्चिताः खलु मया यस्याः कृते साम्प्रतं,

नीवाराञ्जलिनापि केवलमहो सेयं कृतार्था तनुः।। यह तत्त्वज्ञान को प्राप्त किसी निस्पृह पुरुष की धृतिपूर्ण उक्ति है। (3/177)

धृष्टः—नायक का एक भेद। जो अपराध करके भी निश्शङ्क रहे, डाँट सुनकर भी निर्लज्ज बना रहे, दोष के प्रकट हो जाने पर भी असत्य बोलता रहे, वह धृष्ट नायक कहा जाता है—कृतागा अपि निश्शङ्कस्तर्जितोऽपि न लज्जितः। दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक् कथितो धृष्टनायकः।। यथा—शोणं वीक्ष्य मुखं विचुम्बितुमहं यातः समीपं ततः, पादेन प्रहृतं तया सपदि तं धृत्वा सहासे मयि। किञ्चित्तत्र विधातुमक्षमतया वाष्पं त्यजन्त्याः सखे, ध्यातश्चेतसि कौतुकं वितनुते कोपोऽपि वामभ्रुवः।। (3/43)

धैर्यम्—नायक का सात्त्विक गुण। महान् विघ्न उपस्थित होने पर भी अपने कर्त्तव्य से विचलित न होना धैर्य है—व्यवसायादचलनं धैर्यं विघ्ने महत्यपि। यथा—श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्हरः प्रसङ्ख्यानपरो बभूव। आत्मेश्वराणां न हि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति।। यहाँ शिव के धैर्य का वर्णन है। (3/66)

धैर्यम्—नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। आत्मप्रशंसा से युक्त अचञ्चल मनोवृत्ति धैर्य कही जाती है—उक्तात्मश्लाघना धैर्यं मनोवृत्तिरचञ्चला। यथा—ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकलः शशी, दहतु मदनः कं वा मृत्योः परेण विधास्यति। मम तु दयितः श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया, कुलममलिनं न त्वेवायं जनो न च जीवितम्।। (3/113)

नतिः—नायिका का मान भङ्ग करने का एक उपाय। चरणों में गिरकर नायिका का प्रसादन करना नति है—पादयोः पतनं नतिः। (3/208)

नर्म—कैशिकी वृत्ति का एक अङ्ग। चतुरतापूर्ण क्रीडा का नाम नर्म है जो प्रियजनों के चित्त को आवर्जित कर ले—वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म। इष्टजनावर्जनकृत्। शुद्ध हास्य, शृङ्गारयुक्त हास्य तथा भययुक्त हास्य के भेद से वह तीन प्रकार का होता है—तच्चापि त्रिविधं मतम्। विहितशुद्धहास्येन सशृङ्गारभयेन च। शुद्ध हास्य का उदाहरण र.ना. में वासवदत्ता की उक्ति "एषाप्यपरा तव समीपे यथा लिखिता, एतत्किमार्यवसन्तस्य विज्ञानम्" है। शृङ्गार युक्त हास्य का उदाहरण अ.शा. में है—"शकुन्तला-असन्तुष्टः पुनः

कि करिष्यति। राजा-इदम्। इति व्यवसितः। शकुन्तला वस्त्रं ढौकते"। सभय हास्य र.ना. में आलेख्य दर्शन के अवसर पर सुसङ्गता के इस कथन में उपस्थित हुआ है-"ज्ञातो मयैष वृत्तान्तः समं चित्रफलकेन। तद्देव्यै गत्वा निवेदयिष्यामि"। ये सब वाक्यसम्बन्धी नर्म के उदाहरण हैं। (6/146)

नर्म-प्रतिमुख सन्धि का एक अङ्ग। परिहास से युक्त वचन नर्म कहे जाते हैं-परिहासवचो नर्म। इसका उदाहरण र.ना. में सुसङ्गता और सागरिका का यह वार्त्तालाप है-"सखि! यस्य कृते त्वमायाता सोऽयं ते पुरतस्तिष्ठतीति।" "कस्य कृतेऽहमागता"। "अयि अन्यशङ्किते ननु चित्रफलकस्य"। (6/86)

नर्मगर्भः-कैशिकी वृत्ति का एक अङ्ग। जहाँ नायक प्रच्छन्न रूप से व्यवहार करे-नर्मगर्भो व्यवहृतिर्नेतुः प्रच्छन्नवर्त्तिनः। यथा मा.मा. में सखीरूपधारी माधव के द्वारा मालती को मरण से रोकना। (6/149)

नर्मद्युतिः-प्रतिमुख सन्धि का एक अङ्ग। परिहास की सहिष्णुता को नर्मद्युति कहते हैं-द्युतिस्तु परिहासजा नर्मद्युतिः। यथा र.ना. में सुसङ्गता और सागरिका का यह वार्त्तालाप-"सुसङ्गता-सखि! अदक्षिणा इदानीं त्वमसि या एवं भर्त्रा हस्तावलम्बितापि कोपं न मुञ्चसि। सागरिका-सुसङ्गते! इदानीमपि न विरमसि"। यहाँ सागरिका की परिहाससहिष्णुता व्यक्त हुई है। कुछ आचार्य दोष को छिपाने वाले हास्य को नर्मद्युति कहते हैं-दोषस्याच्छादनं हास्यं नर्मद्युतिः। (6/87)

नर्मस्फूर्जः-कैशिकी वृत्ति का एक अङ्ग। प्रारम्भ में सुखद तथा अन्त में भयदायक नवीन सङ्गम को नर्मस्फूर्ज कहते हैं-नर्मस्फूर्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसङ्गमः। यथा मा.अ. में में मालविका का राजा के प्रति यह कथन-भर्तः! देव्या भयेनात्मनोऽपि प्रियं कर्त्तुं न पारयामि। (6/147)

नर्मस्फोटः-कैशिकी वृत्ति का एक अङ्ग। थोडे-थोड़े प्रकाशित भावों से जहाँ कुछ-कुछ रस सूचित होता है, उसे नर्मस्फोट कहते हैं-नर्मस्फोटो भावलेशैः सूचिताल्परसो मतः। यथा मा.मा. में इस पद्य में माधव का मालती के प्रति कुछ कुछ अनुराग प्रकाशित हुआ है-गमनमलसं शून्या दृष्टिः शरीरमसौष्ठवं, श्वसितमधिकं किं न्वेतत्स्यात् किमन्यदितोऽथवा। भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनं, ललितमधुरास्ते ते भावाः क्षिपन्ति च धीरताम्।। (6/148)

नाटकम्—रूपक का एक प्रमुख भेद। आचार्य विश्वनाथ के द्वारा प्रस्तुत नाटक का लक्षण उसके विशिष्ट गुण अथवा तत्त्व का सूत्रात्मक कथन न होकर उसके स्वरूप का विशद व्याख्यान है। इसमें वस्तु, नेता और रस तीनों ही के विषय में विशिष्ट मान्यतायें प्रस्तुत की गयी हैं। नाटक का कथानक रामायणादि इतिहासप्रसिद्ध, विलास तथा समृद्धि से युक्त एवम् अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों के वर्णन से सम्पन्न होना चाहिए जिसमें चार अथवा पाँच पात्रों को फलप्राप्ति में निरन्तर व्यापृत दिखाया जाना चाहिए। नाटक का अग्रभाग गोपुच्छाग्रसमग्रम् होता है अर्थात् गोपुच्छ के बालों के समान इसका प्रारम्भ एकाध प्रमुख घटना से होना चाहिए जो मध्य में अनेक पताका और प्रकरियों से समन्वित होता हुआ अन्त में उसी एक प्रधान कथानक में उपसंहृत हो जाता है। नाटक का विस्तार पाँच से दस अङ्कों तक का कहा गया है। रस तो इसका प्राणभूत ही है। यद्यपि निरन्तर अनेक रसों का प्रयोग होने का विधान है परन्तु केवल शृङ्गार अथवा वीर ही अङ्गी रस के रूप में मान्य है। अन्य रसों का प्रयोग अङ्गरूप में होता है। निर्वहण सन्धि में अद्भुत के प्रयोग का विधान है। नाटक का नायक कुलीन, उदात्त, प्रतापी, गुणवान् तथा दिव्य अथवा दिव्यादिव्य कोटि का हो सकता है—नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पञ्चसन्धिसमन्वितम्। विलासद्ध्र्यादिगुणवद् युक्तं नाना-विभूतिभिः। सुखदुःखसमुद्भूतिनानारसनिरन्तरम्। पञ्चाधिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्त्तिताः। प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः, प्रतापवान्। दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः। एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा। अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यं निर्वहणेऽद्भुतम्। चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः। गोपुच्छाग्रसमाग्रन्तु बन्धनं तस्य कीर्तितम्।। (6/6)

नाटिका—उपरूपक का एक भेद। नाटिका में चार अङ्कों की कल्पित कथावस्तु का विधान होता है। इसका नायक प्रसिद्ध धीरललित राजा होता है तथा नायिका अन्तःपुर से सम्बद्ध, सङ्गीत आदि में व्यापृत, नवीन अनुराग से युक्त राजवंश की कन्या होती है। एक राजवंश की ही प्रगल्भा ज्येष्ठा नायिका होती है जो पद पद पर मान करती है। नायक और नायिका का मिलन उसी के वश में होता है तथा राजा उसी के भय से शङ्कित रहता है। इसमें कैशिकी वृत्ति (अतएव शृङ्गाररस) तथा स्वल्प विमर्शयुक्त सन्धियाँ

होती हैं–नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात्स्त्रीप्राया चतुरङ्किका। प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः। स्यादन्तःपुरसम्बद्धा संगीतव्यापृताऽथवा। नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा। सम्प्रवर्त्तेत नेताऽस्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः। देवी पुनर्भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा। पदे पदे मानवती तद्वशे सङ्गमो द्वयोः। वृत्तिः स्यात्कैशिकी स्वल्पविमर्शाः सन्धयः पुनः।। इसका उदाहरण रत्नावली तथा विद्धशालभञ्जिका हैं। (6/281)

नाट्यरासकम्–उपरूपक का एक भेद। यह प्रचुर लय और ताल से युक्त एकाङ्की रचना है। इसमें मुख और निर्वहण सन्धियों का प्रयोग होता है। कुछ आचार्यों के अनुसार इसमें प्रतिमुख के अतिरिक्त सभी सन्धियाँ प्रयुक्त होती हैं तथा दसों लास्याङ्ग होते हैं। उदात्त नायक, ऐसा ही पीठमर्द उपनायक, वासकसज्जा नायिका तथा शृङ्गारसहित हास्यरस अङ्गी होता है–नाट्यरासकमेकाङ्कं बहुताललयस्थिति। उदात्तनायकं तद्वत् पीठमर्दोपनायकम्। हास्योऽङ्ग्यत्र सशृङ्गारो नारी वासकसज्जिका। मुखनिर्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च। केचित्प्रतिमुखं सन्धिमिह नेच्छन्ति केवलम्।। दो सन्धियों वाला रासक नर्मवती तथा चार सन्धियों वाला विलासवती है। (6/285)

नाट्यालङ्कारः–नाट्यसौन्दर्य के हेतु! गुण, अलङ्कार और लक्षणों के समान नाट्यालङ्कार भी नाट्यसौन्दर्य को उत्पन्न करने के हेतु हैं–इति नाट्यालङ्कृतयो नाट्यभूषणहेतवः। छत्तीस लक्षणों तथा तैंतीस नाट्यालङ्कारों का विवेचन करने के अनन्तर आचार्य विश्वनाथ ने यह प्रतिपादित किया है कि ये दोनों यद्यपि सामान्य रूप से एक ही हैं तथापि परम्परा का पालन करते हुए इनका पृथक् निर्देश गड्डलिकाप्रवाह से कर दिया गया है। निश्चय ही इनमें से कुछ गुण, अलङ्कार, भाव, सन्ध्यङ्ग आदि में अन्तर्भूत किये जा सकते हैं, अतएव कुछ आचार्यों ने इनका पृथक् निर्देश नहीं भी किया, तथापि यहाँ उनका पृथक् रूप से विशेष निरूपण नाट्य में उनकी अवश्यकर्त्तव्यता का विधान करता है। भरतमुनि ने नाट्य में इनके प्रयोग पर बहुत अधिक बल दिया है–पञ्चसन्धि चतुर्वृत्ति चतुःषष्ट्यङ्गसंयुतम्। षट्त्रिंशल्लक्षणोपेतमलङ्कारोपशोभितम्।।....कविः कुर्यात्तु नाटकम्।। (6/207-40)

नान्दी–नाट्य के प्रारम्भ में किया जाने वाला माङ्गलिक अनुष्ठान। आचार्य भरत ने ना.शा. में पूर्वरङ्ग के प्रत्याहार आदि उन्नीस अङ्गों का उल्लेख किया है, उनमें नान्दी प्रमुख है। इसकी अवश्यकर्त्तव्यता पर बल देते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा है कि यद्यपि पूर्वरङ्ग के प्रत्याहार आदि अनेक अङ्ग हैं तथापि रङ्गविघ्नों की उपशान्ति के लिए नान्दी का प्रयोग अवश्य करना चाहिए–प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि। तथाप्यवश्यं कर्त्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये।। यह सभी को आनन्दित करती है, अतः इसकी नान्दीसंज्ञा अन्वर्थिका है–नन्दयति देवादीन् स्तुत्या, आनन्दयति सभ्यान् स्तुतदेवताप्रसादादिति नान्दी। इसमें आठ अथवा बारह पदों में देवता, ब्राह्मण, राजा आदि की आशीर्वचन से युक्त स्तुति की जाती है। यह किसी माङ्गलिक वस्तु शङ्ख, चक्र, कमल, चक्रवाक, कुमुदादि के वर्णन से युक्त होती है–आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते। देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता। मङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी। पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टभिर्वा पदैरुत।। अष्टपदा नान्दी अनर्घराघव में तथा द्वादशपदा कविराज के तातपाद द्वारा रचित पुष्पमाला में है।

यहाँ आचार्य विश्वनाथ ने एक शास्त्रीय प्रश्न उठाया है कि उपर्युक्त पद्यों को किन्हीं अन्य आचार्यों के मतानुसार ही नान्दी कह दिया गया है, वस्तुतः यह पूर्वरङ्ग का रङ्गद्वार नामक अङ्ग है। इससे अभिनय का प्रारम्भ होने के कारण ही इसकी संज्ञा रङ्गद्वार है–यस्मादभिनयो ह्यत्र प्राथम्यादवतार्यते। रङ्गद्वारमतो ज्ञेयं वागङ्गाभिनयात्मकम्।। नान्दी का प्रयोग इससे पूर्व किया जाता है जो स्वयं नटों के द्वारा ही कर्त्तव्य होता है। अतएव आचार्य ने नाट्यरचना के प्रकरण में इसका निर्देश नहीं किया। दूसरी ओर यदि पूर्वोदाहृत पद्यों को नान्दी माना जाये तो यह लक्षण विक्रमोर्वशीयम् के 'वेदान्तेषु यमाहुः' आदि पद्यों में भी अतिव्याप्त हो जायेगा जबकि अष्टपदा अथवा द्वादशपदा का लक्षण इसमें घटित नहीं होता। इसीलिए प्राचीन संस्करणों में "नान्द्यन्ते सूत्रधारः" इस कथन के अनन्तर ही उपर्युक्त श्लोक का पाठ किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि नान्दी के अनन्तर सूत्रधार ने इस श्लोक का पाठ किया है। (6/10-11)

नायकः–काव्य/नाट्य का प्रधान पात्र। नायक कथा का प्रधान पात्र होता है जो न केवल पूरे कथानक में व्याप्त रहता है बल्कि उसे फल की ओर भी ले जाता है तथा अन्त में उत्कर्ष (विजयरूप फल) को प्राप्त करता है, अतः शास्त्रों में विस्तार से उसके गुणों का प्रतिपादन किया गया है। सा.द. में उन गुणों का सङ्ग्रह इस प्रकार किया गया है–त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही। दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता।। अर्थात् वह दाता, कर्मकुशल, उच्चकुलोत्पन्न, लक्ष्मीवान्, रूपवान्, युवक, उत्साही, कार्य को शीघ्रता से करने वाला, लोकप्रिय, तेज, विद्वत्ता और शील से युक्त होता है। नायक के विशिष्ट सात्त्विक गुणों में शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, धैर्य, तेज, लालित्य और औदार्य की गणना की गयी है।

मुख्य रूप से नायक चार प्रकार के होते हैं–धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त। ये चारों प्रकार के नायक दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ के भेद से पुनः चार-चार प्रकार के होकर सोलह प्रकार के हो जाते हैं। ये सभी सोलह प्रकार के नायक उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन-तीन प्रकार के होते है। इस प्रकार नायक कुल अड़तालीस प्रकार के हैं।

नायक के बहुव्यापी व्यापार में उसकी सहायता करने वाले पात्र नायक के सहायक कहे जाते हैं। इनमें सबसे प्रमुख पीठमर्द पताका का नायक होता है जो नायक के सुदूरवर्ती चरित्र में उसकी सहायता करता है। यह उसका उत्तम कोटि का सहायक माना गया है। शृङ्गारकार्य में विट, चेट तथा विदूषक आदि उसकी सहायता करते हें। ये सभी स्वामिभक्त, परिहास में चतुर तथा कुपित नायिका का प्रसादन करने में निपुण होते हैं। इनमें से विट और विदूषक मध्यम कोटि के तथा चेट आदि (माली, धोबी, तमोली, गन्धी) अधम कोटि के सहायक हैं। अर्थचिन्ता में राजा की सहायता मन्त्री करता है। अन्तःपुर में बौने, नपुंसक, किरात, म्लेच्छ, अहीर, शकार, कुबड़े आदि उसकी सहायता करते हैं। दण्डप्रयोग में मित्र, राजकुमार, आटविक तथा सैनिक लोग उसके सहायक होते हैं। धर्मकार्यों में ऋत्विक्, पुरोहित, ब्रह्मज्ञानी तथा तपस्वी उसका सहयोग करते हैं। राजा के सन्देश आदि ले जाने में उसकी सहायता के लिए दूत नियुक्त होते हैं। (3/35)

नायिका—काव्य/नाट्य का प्रधान स्त्रीपात्र। नायक में त्याग आदि जिन गुणों का वर्णन किया गया है, नायिका साधारण रूप से उन सब गुणों से युक्त होती है तथा नायक की प्रेमास्पद होती है—नायिका पुनर्नायक-सामान्यगुणैस्त्यागादिभिर्यथासम्भवैर्युक्ता भवति। यौवन में नायिकाओं के अठाईस सात्त्विक अलङ्कार होते हैं। इनमें से भाव, हाव और हेला ये तीन अङ्गज अलङ्कार हैं क्योंकि इनका सम्बन्ध शरीर के साथ होता है। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य ये सात अयत्नज हैं। शेष अठारह लीला, विलास, विच्छित्ति, बिब्बोक, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि स्वभावज भाव हैं। इनमें से प्रथम दश (भाव से धैर्य तक) पुरुषों में भी हो सकते हैं परन्तु नायिकाश्रित होकर ही ये विशेष रूप से चमत्कारक होते हैं।

प्रधान रूप से नायिका तीन प्रकार की होती है—स्वकीया, परकीया और साधारणी स्त्री। इनमें से स्वकीया मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा के भेद से तीन प्रकार की है। मुग्धा और प्रगल्भा भी धीरा, अधीरा और धीराधीरा के भेद से पुनः तीन-तीन प्रकार की होती हैं। मध्या और प्रगल्भा के रूप में ये छः प्रकार की नायिकायें पति के प्रेम के आधार पर ज्येष्ठा और कनिष्ठा के रूप में दो-दो प्रकार की होती हैं। इस प्रकार मुग्धा तथा छः-छः प्रकार की मध्या और प्रगल्भा नायिकायें मिलकर स्वकीया के तेरह भेद बनते हैं। परकीया नायिका प्रौढ़ा तथा कन्यका के रूप में दो प्रकार की होती है। इस प्रकार तेरह प्रकार की स्वकीया, दो प्रकार की परकीया तथा साधारण स्त्री मिलकर नायिकाओं के सोलह भेद हुए। ये सभी सोलह प्रकार की नायिकायें स्वाधीनपतिका, खण्डिता, अभिसारिका, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका, वासकसज्जा तथा विरहोत्कण्ठिता के रूप में आठ-आठ प्रकार की होती हैं। अतः नायिकाओं के ये 128 भेद हुए जो उत्तम, मध्यम और अधम के रूप में पुनः तीन से गुणित होकर 384 हो जाते हैं। (3/68)

नालिका—वीथ्यङ्ग। हास्य से युक्त प्रहेलिका ही नालिका होती है—प्रहेलिकैव हास्येन युक्ता भवति नालिका। यथा र.ना. में सुसङ्गता सागरिका

से कहती है "सखि! यस्य कृते त्वमागता स इहैव तिष्ठति"। सागरिका यह सुनकर ठिठक जाती है। "कस्य कृतेऽहमागता", उसके ऐसा पूछने पर सुसङ्गता के "ननु खलु चित्रफलकस्य" इस उत्तर से यह ध्वनित होता है कि वह राजा के लिए ही यहाँ आई है। विश्वनाथ ने नालिका का यह लक्षण दशरूपक से कुछ परिवर्त्तन के साथ ग्रहण किया है। वहाँ "सोपहासा निगूढ़ार्था नालिकैव प्रहेलिका" इस प्रकार लक्षण किया गया है। वस्तुतः विश्वनाथ के 'हास्य' की अपेक्षा धनञ्जय का 'उपहास' पद अधिक समुचित है। इसके अतिरिक्त उनका 'विगूढ़ार्था' पद भी साभिप्राय है परन्तु विश्वनाथ ने इस भाव को प्रहेलिका पद में ही गतार्थ मान लिया है। वृत्ति में उन्होंने गोपनकारी उत्तर को प्रहेलिका पद का वाच्य कहा है–संवरणकार्युत्तरं प्रहेलिका। (6/272)

निदर्शनम्–एक नाट्यलक्षण। जहाँ परपक्ष के खण्डन के लिए प्रसिद्ध वस्तुओं का निरूपण किया जाता है, वहाँ निदर्शन नामक लक्षण होता है–यत्रार्थानां प्रसिद्धानां क्रियते परिकीर्त्तनम्।परपक्षव्युदासार्थं तन्निदर्शनमुच्यते।। यथा–क्षात्रधर्मोचितैर्धर्मैरलं शत्रुवधे नृपाः। किन्तु बालिनि रामेण मुक्तो बाणः पराङ्मुखे।। इस पद्य में क्षत्रियों के द्वारा क्षात्रधर्म के पालन का निषेध करने के लिए राम के द्वारा पराङ्मुख बाली पर बाणपात रूप प्रसिद्ध अर्थ का निरूपण किया गया है। (6/180)

निदर्शना–एक अर्थालङ्कार। जहाँ बाधित अथवा अबाधित होकर भी उपमेयोपमान का परस्पर सम्बन्ध बिम्बप्रतिबिम्बभाव का बोधन करे, वह निदर्शना है–सम्भवन्वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन्वापि कुत्रचित्। यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना। इस प्रकार निदर्शना के ये दो रूप हो जाते हैं। कोऽत्र भूमिवलये जनान्मुधा तापयन्सुचिरमेति सम्पदम्। वेदयन्निति दिनेन भानुमानाससाद चरमाचलं ततः।। इस पद्य में चरमाचल की ओर जाते हुए सूर्य का इस प्रकार वक्तृत्वेन सम्बन्ध सम्भव है। वह सूर्य के अस्त होने और परितापियों के विपत्ति में पड़ने रूप दो क्रियाओं में बिम्बप्रतिबिम्बभाव को प्रदर्शित कर रहा है। असम्भवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना एक अथवा अनेक वाक्यों में स्थित होने के कारण दो प्रकार की होती है। कलयति कुवलयमालाललितं कुटिलः

कटाक्षविक्षेपः। अधरः किसलयलीलामाननमस्याः कलानिधिविलासम्।। प्रथम प्रकार का तथा–इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति। ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति।। यह द्वितीय प्रकार का उदाहरण है। निदर्शना मालारूप भी हो सकती है। तद्यथा–क्षिपसि शुकं वृषदंशकवदने, मृगमर्पयसि मृगादनरदने। वितरसि तुरगं महिषविषाणे, निदधच्चेतो भोगविताने।।

निदर्शना में जब तक बिम्बप्रतिबिम्बभाव का आक्षेप न किया जाये तब तक वाक्यार्थ प्राप्त नहीं होता जबकि दृष्टान्त में वाक्यार्थ की प्राप्ति के अनन्तर सादृश्य की प्रतीति होती है। अर्थापत्ति में तो वाक्यार्थ का सादृश्य में पर्यवसान ही नहीं होता। (10/70)

निद्रा–एक व्यभिचारीभाव। परिश्रम, ग्लानि, मद आदि से उत्पन्न चित्त की बाह्य विषयों से निवृत्ति निद्रा कही जाती है। जँभाई, आँख बन्द होना, उच्छ्वास, अंगड़ाई लेना आदि इसके अनुभाव हैं–चेतःसंमीलनं निद्रा श्रमक्लममदादिजा। जृम्भाक्षिमीलनोच्छ्वासगात्रभङ्गादिकारणम्।। यथा–सार्थकानर्थकपदं ब्रुवती मन्थराक्षरम्। निद्रार्धमीलिताक्षी सा लिखितेवास्ति मे हृदि।। (3/164)

नियताप्तिः–कार्य की चतुर्थ अवस्था। अपाय के दूर हो जाने से फल की निश्चित प्राप्ति नियताप्ति नामक कार्यावस्था है–अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिस्तु निश्चिता। यथा र.ना. में राजा के "देवीप्रसादनं त्यक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि" इस कथन से प्रेक्षकों को फलाप्ति की सूचना प्राप्त होती है। (6/58)

नियमे-अनियमत्वम्–एक काव्यदोष। जहाँ नियमसहित बात कहनी चाहिए, वहाँ विना नियम के उसका वर्णन किया जाना नियमेऽनियमत्व दोष है। यथा–आपातसुरसे भोगे निमग्नाः किं न कुर्वते। यहाँ 'आपाते एव' इस प्रकार का नियम कहा जाना उचित है। यह अर्थदोष है।

वाच्यानभिधान नामक वाक्यदोष के उदाहरण में 'अपि' शब्द का अभाव है, यहाँ 'एव' शब्द का। फिर इन दोनों को एक ही क्यों न मान लिया जाये। परन्तु 'व्यतिक्रमलवम्' इत्यादि में शब्द के उच्चारण के अनन्तर

ही दोष का आभास हो जाता है, यहाँ अर्थप्रतीति के बाद उसका आभास होता है। (7/5)

निरङ्गरूपकम्—रूपक अलङ्कार का एक भेद। जहाँ किसी का साङ्गोपाङ्ग वर्णन न हो, केवल अङ्गी का ही रूपण हो—निरङ्गं केवलस्यैव रूपणम्। यह केवलनिरङ्ग तथा मालानिरङ्ग के रूप में दो प्रकार का होता है। इनके उदाहरण क्रमशः ये हैं—दासे कृतागसि भवेदुचितः प्रभूणां, पादप्रहार इति सुन्दरि नास्मि दूये। उद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरकण्टकाग्रैः यत्खिद्यते मृदु पदं ननु सा व्यथा मे।। तथा, निर्माणकौशलं धातुश्चन्द्रिका लोकचक्षुषां। क्रीडागृहमनङ्गस्य सेयमिन्दीवरेक्षणा।। (10/47)

निरर्थकम्—एक काव्यदोष। छन्दःपूरणमात्र के लिए प्रयुक्त पद निरर्थक होते हैं। यथा—मुञ्च मानं हि मानिनि। इस पंक्ति में 'हि' पद छन्दःपूर्त्ति मात्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह पददोष है।

निरुक्तिः—एक नाट्यलक्षण। पूर्वसिद्ध अर्थ का कथन निरुक्ति कहा जाता है—पूर्वसिद्धार्थकथनं निरुक्तिरिति कीर्त्यते। इसका उदाहरण वे.सं. में भीम का 'निहताशेषकौरव्यः'' इत्यादि कथन है। (6/189)

निर्णयः—निर्वहण सन्धि का एक अङ्ग। अनुभूत अर्थ के कथन को निर्णय कहते हैं—निर्णयः पुनरनुभूतार्थकथनम्। वे.सं. में भीम का—''भूमौ क्षिप्तं शरीरम्०'' आदि कथन इसका उदाहरण है। (6/127)

निर्मुक्तपुनरुक्तत्वम्—एक काव्यदोष। समापित वक्तव्य का फिर से कथन करने लगना निर्मुक्तपुनरुक्तत्व नामक अर्थदोष है। यथा—लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह यथैवासि यष्ट्यारिकण्ठे, मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती। तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता, भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद् गदितुमिति गतेवाम्बुधिं यस्य कीर्तिः।। यहाँ 'विदितं तेऽस्तु' इसी पर यह वचन समाप्त हो चुका था, ''तेनास्मि दत्ता०' आदि से उसे पुनः उपात्त किया गया है। यह अर्थदोष है। (7/5)

निर्वहणम्—सन्धि का पञ्चम भेद। बीज से युक्त तथा मुखादि सन्धियों में विकीर्ण अर्थों का एक प्रधान अर्थ में उपसंहार निर्वहण सन्धि है—बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्। ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्।।

इसमें कार्यनामक अर्थप्रकृति तथा फलागम नामक अवस्था का मिश्रण होता है यथा वे.सं. में कञ्चुकी के "महाराज! वर्द्धसे! अयं खलु भीमसेनो दुर्योधनक्षतजारुणीकृतसर्वशरीरो दुर्लक्ष्यव्यक्तिः" इस कथन में समस्त सन्धियों में उपन्यस्त बीजरूप कथांश प्रधान फल में उपसंहृत हुए हैं। अथवा अ.शा. में शकुन्तला के प्रत्यभिज्ञान के अनन्तर का कथानक इसका उदाहरण है। इसके चौदह अङ्ग हैं–सन्धि, विबोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, कृति, प्रसाद, आनन्द, समय, उपगूहन, भाषण, पूर्ववाक्य काव्यसंहार और प्रशस्ति। यहाँ 'प्रशस्ति' का ग्रहण उन आचार्यों के मत से हुआ है जो गर्भसन्धि में प्रार्थना को सन्ध्यङ्ग नहीं मानते। (6/67)

निर्वेदः–एक व्यभिचारीभाव। तत्त्वज्ञान, आपत्ति, ईर्ष्या आदि के कारण स्वयं को धिक्कारना निर्वेद कहा जाता है। इसमें दीनता, चिन्ता, अश्रु, निश्वास, वैवर्ण्य, उच्छ्वास आदि होते हैं–तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्। दैन्यचिन्ताश्रुनिश्वासवैवर्ण्योच्छ्वसितादिकृत्।। यथा–मृत्कुम्भबालुकारन्ध्र-पिधानरचनार्थिना। दक्षिणावर्त्तशङ्खोऽयं हन्त चूर्णीकृतो मया।। इस पद्य में तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद का वर्णन है। (3/149)

निर्हेतुत्वम्–एक काव्यदोष। जहाँ वर्णित किये गये किसी कार्य का हेतु न बताया जाये वहाँ निर्हेतु दोष होता है। यथा–गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि, प्रभावाद्यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः। परित्यक्तं तेन त्वमपि सुतशोकान्न तु भयात्, विमोक्ष्ये शस्त्र त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते।। यहाँ द्वितीय शस्त्रमोचन का कोई हेतु नहीं बताया गया। परन्तु जहाँ वस्तु प्रसिद्ध हो वहाँ निर्हेतुता दोष नहीं होता। यह अर्थदोष है। (7/5)

निवेदनम्–एक नाट्यालङ्कार। अनभिमत कार्य के कथन को निवेदन कहते हैं–अवधीरितकर्त्तव्यकथनं तु निवेदनम्। यथा रा.अ. में राम की समुद्रप्रार्थना लक्ष्मणद्वारा अनभिमत होने पर उसका यह कथन–"आर्य! समुद्राभ्यर्थनया गन्तुमुद्यतोऽसि। तत्किमेतत्?" (6/235)

निवृत्तिः–भाणिका का एक अङ्ग। दृष्टान्त के निरूपण को निवृत्ति कहते हैं–निदर्शनस्योपन्यासो निवृत्तिरिति कथ्यते। (6/300)

निश्चयः–एक अर्थालङ्कार। उपमान का निषेध करके उपमेय की

स्थापना निश्चय अलङ्कार है–अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः पुनः। यथा–वदनमिदं न सरोजं, नयने नेन्दीवरे एते। इह सविधे मुग्धदृशो भ्रमर, मुधा किं परिभ्रमसि।।

यह निश्चयान्त सन्देह नहीं है क्योंकि उसमें संशय और निश्चय का आश्रय एक ही होता है जबकि यहाँ सन्देह भ्रमर को हुआ है और निश्चय नायक को। दसूरे, वस्तुतः यहाँ भ्रमर को भी सन्देह नहीं है क्योंकि सन्देह होने पर उसकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती थी। यहाँ भ्रान्तिमान् भी नहीं है क्योंकि भ्रमर को भ्रान्ति तो अवश्य हुई है परन्तु उसमें कोई चमत्कार नहीं है। चमत्कार तो नायक की उक्ति में है। दूसरे, भ्रमर को भ्रान्ति अथवा उसकी प्रवृत्ति न होने पर भी नायिका को चाटुकारितापूर्वक प्रसन्न करने के लिए इस प्रकार का कथन सम्भव है। रूपकध्वनि तो नहीं ही हो सकती क्योंकि मुख का कमल के रूप में निर्धारण नहीं है। अपह्नुति में उपमेय का निषेध किया जाता है परन्तु यहाँ मुख का निषेध नहीं है। अतः यह इन सबसे व्यतिरिक्त एक नवीन ही निश्चय नामक अलङ्कार है। (10/57)

निसृष्टार्थः–दूत का एक प्रकार। जिसने प्रेषित किया है और जिसके पास प्रेषित किया है, उन दोनों के अभिप्राय को समझकर जो स्वयम् उत्तर दे दे तथा कार्य को सम्पन्न कर ले वह निसृष्टार्थ दूत होता है–उभयोर्भावमुन्नीय स्वयं वदति चोत्तरम्। सुश्लिष्टं कुरुते कार्यं निसृष्टार्थस्तु स स्मृतः।। (3/59)

निहतार्थः–एक काव्यदोष। प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध दोनों अर्थों के वाचक शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग निहतार्थ है–निहतार्थत्वमुभयार्थस्य शब्दस्याप्रसिद्धेऽर्थे प्रयोगः। यथा–यमुनाशम्बरं व्यतानीत्। इस पंक्ति में शम्बर शब्द जल अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (नीरक्षीराम्बु शम्बरम् इति कोशः) परन्तु यह शम्बर नामक असुर के लिए ही प्रधानतया प्रयुक्त होता है।

इसी प्रकार "अकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम्" में 'मत्ता' यह अंश प्रमत्त स्त्री का वाचक प्रसिद्ध है, तद्वत्ता रूप अर्थ में अप्रसिद्ध। पद के एक अंश में होने के कारण यह पदांश दोष है।

अप्रयुक्त दोष एकार्थक शब्दों में ही होता है, निहतार्थ द्व्यर्थक शब्दों में। श्लेषादि में यह दोष नहीं होता। (7/3)

नीतिः—एक नाट्यालङ्कार। शास्त्रानुसार व्यवहार करने को नीति कहते हैं—नीति:शास्त्रेण वर्त्तनम्। यथा अ.शा. में दुष्यन्त का यह कथन—विनीतवेषप्रवेश्यानि तपोवनानि। (6/226)

नीलीरागः—पूर्वराग का एक प्रकार। जो बाहर से चमक न दिखाये परन्तु हृदय में स्थित रहे, वह नीलीराग होता है—न चातिशोभते यन्नापैति प्रेम मनोगतम्। तन्नीलीरागमाख्यातं यथा श्रीरामसीतयोः।। (3/201)

नेयार्थः—एक काव्यदोष। रूढ़ि अथवा प्रयोजन के अतिरिक्त अपनी व्युत्पत्ति की असामर्थ्य से यदि कवि लक्ष्यार्थ का प्रयोग करे तो नेयार्थ दोष होता है—नेयार्थत्वं रूढ़िप्रयोजनाभावादशक्तिकृतं लक्ष्यार्थप्रकाशनम्। यथा—कमले चरणाघातं मुखं सुमुखि तेऽकरोत्। यहाँ चरणाघात से कमल को जीत लेना लक्ष्य है परन्तु इस लक्षणा का हेतु न तो रूढ़ि है, न प्रयोजन। अतः इससे कवि की अशक्ति प्रकट होती है। "सङ्ग्रामे निहताः शूरा वचोबाणत्वमागताः" यहाँ 'वचः' शब्द गीः का लक्षक है परन्तु रूढ़ि अथवा प्रयोजन न होने के कारण यह नेयार्थ का उदाहरण है। यहाँ यह दोष पदांश में है। (7/3)

न्यूनपदता—एक काव्यदोष। जहाँ कोई पद आवश्यकता से कम प्रयुक्त हो वहाँ न्यूनपदता दोष होता है। यथा—यदि मय्यर्पिता दृष्टिः किं ममेन्द्रतया तदा। यहाँ प्रथम चरण में 'त्वया' पद न्यून है।

आनन्दमग्न व्यक्ति की उक्ति में न्यूनपदता गुण ही होती है। कहीं-कहीं न यह गुणरूप होती है, न दोषरूप। यह वाक्यदोष है। (7/4)

पतत्प्रकर्षः—एक काव्यदोष। जहाँ काव्य का प्रकर्ष निरन्तर कम होता जाये वहाँ पतत्प्रकर्ष दोष होता है। यथा—प्रोज्ज्वलज्ज्वलनज्वालाविकटोरुसटाच्छटः। श्वासक्षिप्तकुलक्ष्माभृत्पातु वो नरकेसरी।। इस पद्य में अनुप्रास का प्रकर्ष निरन्तर कम होता हुआ अन्त में जाकर तो बिल्कुल समाप्त हो गया है। कभी-कभी यह दोष गुणरूप भी हो जाता है। यह वाक्यदोष है। (7/4)

पताका—अर्थप्रकृति का एक भेद। जो प्रासङ्गिक कथा दूर तक व्याप्त हो उसे पताका कहते हैं—व्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते। यथा रामचरित में सुग्रीव वे.सं. में भीम तथा अ.शा. में विदूषक की कथा। पताका का अपना नायक होता है परन्तु उसका कोई निजी फल नहीं होता। उसकी

समस्त चेष्टायें प्रधान नायक के फल को ही सिद्ध करने के लिए होती हैं, यथा सुग्रीवादि की राज्यप्राप्ति। भरतमुनि का निर्देश है कि गर्भ अथवा विमर्श सन्धि में ही उसका निर्वाह हो जाता है–आगर्भादाविमर्शाद्वा पताका विनिवर्त्तते। यहाँ आचार्य अभिनवगुप्त ने यह कहा है कि भरतप्रोक्त इस कारिका में पताका से अभिप्रय पताकानायक के फल से है क्योंकि पताका तो कभी-कभी निर्वहणसन्धि पर्यन्त भी दृष्टिगोचर होती है–तत्र पताकेति पताकानायकफलम्। निर्वहणपर्यन्तमपि पताकायाः प्रवृत्तिदर्शनात्। (6/49-50)

पताकास्थानकम्–नाटक में आगामी वस्तु की सूचना देने का साधन। जहाँ पात्र को तो अन्य अर्थ अभिलषित हो परन्तु अचिन्तितोपनत पदार्थ के द्वारा उसी के सदृश दूसरा ही अर्थ उपस्थित हो जाये–यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिन् तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते। आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकन्तु तत्।। इससे कथावस्तु में वैचित्र्य का समावेश होता है। इसके चार भेद होते हैं–(1) जहाँ उपचार के द्वारा सहसा अधिक गुणयुक्त अभीष्टसिद्धि उत्पन्न हो जाये, वह प्रथम पताकास्थानक है–सहसैवार्थसम्पत्तिर्गुणवत्युपचारतः। पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्तितम्।। यथा र.ना. में राजा छद्मवेषधारिणी सागरिका को वासवदत्ता समझकर उसे कण्ठपाश से छुड़ाता है, तभी उसकी कण्ठध्वनि से यह जानकर उसे और भी आनन्द होता है कि वह उसकी प्रियतमा सागरिका है–"कथं मे प्रिया सागरिका "। (2) जहाँ श्लिष्ट वचनों के द्वारा प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही अर्थों की प्रतीति हो वहाँ द्वितीय पताकास्थानक होता है–वचः सातिशयश्लिष्टं नानाबन्धसमाश्रयम्। पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम्।। यथा वे.सं. में रक्तप्रसाधित- भुवःक्षतविग्रहाश्च, स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः। इसका सूत्रधार का अभीष्ट अर्थ तो यही है कि 'जिन्होंने पृथ्वी को जीत लिया है और जिनका झगड़ा नष्ट हो गया है ऐसे कौरव अपने भृत्यों के साथ स्वस्थ हो जायें परन्तु श्लेष से यहाँ एक अन्य अर्थ–जिनके रक्त से पृथ्वी रञ्जित हो गयी है और जिनके शरीर नष्ट हो गये हैं, ऐसे कौरव स्वर्गस्थ हो जायें, भी प्रतीत होता है। इस प्रकार इससे नाटक के बीजभूत अर्थ तथा नायक के मङ्गल की भी प्रतीति होती है। (3) श्लिष्ट प्रत्युत्तर से युक्त तथा अव्यक्त अर्थ को विनयपूर्वक सूचित करने वाला तृतीय पताकास्थानक होता है–अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं

भवेत्। श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते।। यथा वे.सं. नाटक के द्वितीयाङ्क में कञ्चुकी द्वारा दुर्योधन को यह सूचित करने में कि भीम ने आपके रथ की ध्वजा तोड़ दी है, भीम द्वारा दुर्योधन के जङ्घा तोड़ने की भावी घटना की भी सूचना प्राप्त होती है। (4) श्लेषयुक्त द्व्यर्थक वचनों के उपन्यास से जहाँ प्रधान फल की सूचना प्राप्त हो, वह चतुर्थ पताकास्थानक है–द्वयो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः। प्रधानार्थान्तराक्षेपी पताकास्थानकं परम्।। यथा र.ना. में राजा के "उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणादायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः। अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं पश्यन्कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम्। राजा के इस वाक्य से भावी कथा की सूचना प्राप्त होती है। यहाँ 'उद्दाम' आदि विशेषण नारी और लता दोनों के साथ श्लिष्ट हैं।

आचार्य विश्वनाथ का यह विवेचन सर्वथा भरतानुसारी है। ये पताकास्थानक सभी सन्धियों में कहीं मङ्गलार्थक और कहीं अमङ्गलार्थक प्रयुक्त होते हैं। कवि की इच्छानुसार इनका पुनः पनः भी प्रयोग हो सकता है। कथानक में वैचित्र्याधान के निमित्त ये अत्यन्त उपादेय हैं, अतः इनके प्रयोग के सम्बन्ध में किसी प्रकार का बन्धन लगाना आचार्य को अभिमत नहीं है। (6/26-31)

पदगता लक्षणा–लक्षणा का एक भेद। आठ प्रकार की रूढ़ि तथा बत्तीस प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणा यदि पदनिष्ठ हो तो वह पदगता लक्षणा होती है। यथा–गङ्गायां घोषः। यहाँ लक्षणा गङ्गा पद में है। (2/18)

पदम्–प्रयोग के योग्य, अनन्वित तथा एक अर्थ के बोधक वर्णों को 'पद' कहते हैं–वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः। यथा–घटः। लक्षणवाक्य में प्रयोगार्ह पद के निवेश का प्रयोजन प्रातिपदिक की निवृत्ति है। व्याकरणमत में प्रातिपदिक के साथ सुप्तिङ्विभक्तियों के योग से पद का निर्माण करके ही उनकी वाक्य में प्रयोगयोग्यता निष्पन्न होती है। महाभाष्यकार का कथन है कि–नापि केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवलः प्रत्ययः। अनन्वित का अभिप्राय है–दूसरे पदार्थ से असम्बद्ध। इससे वाक्य और महावाक्य की निवृत्ति होती है क्योंकि इनसे अन्वित अर्थात् पदार्थान्तर से सम्बद्ध अर्थ का ही बोध होता है। 'एक' पद के निवेश से

साकाङ्क्ष अनेक पद और वाक्यों का व्यवच्छेद होता है। अर्थवत्त्व विशेषण से अनर्थक 'कचटतप' इत्यादि की व्यावृत्ति होती है। लक्षणवाक्य में 'वर्णाः' यहाँ बहुवचन अविवक्षित है क्योंकि एक अथवा दो वर्णों का भी पद हो सकता है। (2/4)

पदश्लेषः–श्लेषालङ्कार का एक भेद। जहाँ पद की श्लिष्टता से श्लेष की प्रतीति हो, वह पदश्लेष होता है। यथा–पृथुकार्त्तस्वरपात्रं भूषितनिश्शेषपरिजनं देव। विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम्।। इस उदाहरण में पदभङ्ग करने पर विभक्ति और समास भी भिन्न हो जाते हैं [पृथु कार्त्तस्वर और पृथुक आर्त्तस्वर, भूषित हैं निश्शेष परिजन जिसमें और भू पर उषित हैं निश्शेष परिजन जिसमें, करेणुओं से विलसित और रेणुओं में हैं विलसत्क (चूहे, विले सीदन्तीति) जहाँ] अतः वे भिन्न ही पद बन जाते हैं इसलिए यह पदश्लेष का उदाहरण है। नीतानामाकुलीभावम्० आदि श्लोक में मुखादि शब्दों के श्लिष्ट होने पर भी विभक्ति के अभिन्न होने के कारण वह प्रकृतिश्लेष का ही उदाहरण है क्योंकि पदश्लेष वहीं होता है जहाँ विभक्ति, समासादि भिन्न हों। (10/14 की वृत्ति)

पदोच्चयः–एक नाट्यलक्षण। अर्थ के अनुरूप पदों के गुम्फन को पदोच्चय कहते हैं–सञ्चयोऽर्थानुरूपो यः पदानां स पदोच्चयः। यथा अ.शा. के प्रसिद्ध पद्य–अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणी बाहू। कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्।। में पदबन्ध अर्थ के सौकुमार्य के अनुरूप ही है। (6/179)

पद्यम्–श्रव्यकाव्य का उपभेद। छन्दोबद्ध पदरचना पद्य कही जाती है–छन्दोबद्धपदं पद्यम्। (6/302)

परकीया–नायिका का एक भेद। परपुरुष में अनुरक्त नायिका परकीया कही जाती है। वह दो प्रकार की होती है–परोढ़ा तथा कन्यका–परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढ़ा कन्यका तथा। (3/81)

परम्परितरूपकम्–रूपक का एक भेद। जहाँ किसी एक का आरोप दूसरे के आरोप का कारण हो वह परम्परित रूपक होता है–यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम्। तत्परम्परितम्...।। वह श्लिष्ट और

अश्लिष्ट शब्दों से भी उत्पन्न हो सकता है, इस प्रकार इसके दो भेद श्लिष्टशब्दनिबन्धन तथा अश्लिष्टशब्दनिबन्धन होते हैं। ये दोनों ही भेद केवल और माला के रूप में पुनः दो-दो प्रकार के होते हैं। तद्यथा यदि एक ही आरोप किसी अन्य आरोप का कारण हो तो वह केवल परम्परित तथा यदि अनेक आरोप अनेक अन्य आरोपों के कारण हों तो वह माला परम्परित होता है। आहवे जगदुद्दण्डराजमण्डलराहवे। श्री नृसिंहमहीपाल स्वस्त्यस्तु तव बाहवे।। तथा–पद्मोदयदिनाधीशः सदागतिसमीरणः। भूभृदावलिदम्भोलिरेक एव भवान्भुवि।। इनमें से प्रथम पद्य में राज तथा द्वितीय पद्य में पद्मोदय, सदागति और भूभृत् पद श्लिष्ट हैं। अतः ये श्लिष्ट-शब्दनिबन्धनपरम्परितरूपक के उदाहरण हैं। प्रथम पद्य में 'राज' पद राजा तथा चन्द्र दोनों अर्थों का वाचक है। यहाँ राजाओं मे चन्द्र का आरोप ही बाहु में राहु के आरोप का कारण है, अतः यहाँ केवलपरम्परित रूपक है तथा द्वितीय पद्य में पद्मोदय पद के दो अर्थ 'कमलों का उदय' तथा 'लक्ष्मी की वृद्धि' हैं। लक्ष्मी की वृद्धि पर कमलों के विकास का आरोप होने के कारण ही राजा पर सूर्य का आरोप होता है। द्वितीय चरण में सज्जनों के आगमन पर सदागमन का आरोप होने के कारण ही राजा पर वायु का आरोप होता है तथा तृतीय चरण में राजाओं पर पर्वत का अरोप होने के कारण ही स्तूयमान राजा पर वज्रत्व का आरोप होता है। अतः यह श्लिष्टशब्दनिबन्धन मालापरम्परित का उदाहरण है। पान्तु वो जलदश्यामाः शार्ङ्गज्याघातकर्कशाः। त्रैलोक्यमण्डपस्तम्भाश्चत्वारो हरिबाहवः।। इस पद्य में त्रैलोक्य में मण्डप का आरोप ही विष्णु की भुजाओं में स्तम्भत्व के आरोप का कारण है, यह अश्लिष्टशब्दनिबन्धनकेवलपरम्परित का उदाहरण है तथा–मनोजराजस्य सितातपत्रं, श्रीखण्डचित्रं हरिदङ्गनायाः। विराजते व्योमसरः सरोजं, कर्पूरपूर-प्रभमिन्दुबिम्बम्।। इस पद्य में अश्लिष्टमालापरम्परित है क्योंकि यहाँ कामदेव पर राजा का आरोप होने के कारण चन्द्रमा पर श्वेत छत्र का, पूर्व दिशा पर कामिनी का आरोप होने के कारण चन्द्रमा पर तिलक का तथा आकाश पर सरोज का आरोप होने के कारण चन्द्रमा पर कमल का आरोप किया गया है। इस सन्दर्भ में कविराज ने कुछ ऐसे आचार्यों का मत उद्धृत किया है जो भुजा आदि में राहु आदि के आरोप को राजमण्डल में चन्द्रमण्डल

के आरोप का कारण मानते हैं। आचार्य 'केचित्' पद के द्वारा उनके अभिमत को प्रस्तुतमात्र करके आगे बढ़ गये हैं। इससे इस शास्त्रार्थ के प्रति उनकी अरुचि प्रकट होती है। कहीं-कहीं परम्परित रूपक भी एकदेशविवर्ति होता है। (10/43)

परिकरः—मुखसन्धि का एक अङ्ग। उत्पन्न अर्थ की बहुलता को परिकर कहते हैं—समुत्पन्नार्थबाहुल्यं ज्ञेयः परिकरः पुनः। वे.सं. में सहदेव के प्रति भीमसेन की उक्ति—प्रवृद्धं यद्वैरं मम खलु शिशोरेव कुरुभिर्न तत्रार्यो हेतुर्न भवति किरीटी न च युवाम्। जरासन्धस्योरःस्थलमिव विरूढं पुनरपि, क्रुधा भीमः सन्धिं विघटयति यूयं घटयत।। पूर्वनिक्षिप्त बीज का ही किञ्चित् विकास है, अतः यह परिकर नामक सन्ध्यङ्ग है। (6/70)

परिकरः—एक अर्थालङ्कार। कहे गये विशेषण यदि किसी विशिष्ट अभिप्राय के बोधक हों तो परिकर अलङ्कार होता है—उक्तिर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः। यथा—"अङ्गराज सेनापते द्रोणोपहासिन् कर्ण रक्षैनं भीमाद् दुश्शासनम्"। अश्वत्थामा का कर्ण को इन विशेषणों से सम्बोधित करना उसके सेनापति होने के अयोग्यत्वरूप विशिष्ट अभिप्राय का द्योतन करता है। (10/75)

परिणामः—एक अर्थालङ्कार। जहाँ उपमान उपमेय के रूप में प्रस्तुत कार्य में उपयोगी होते हैं वहाँ परिणाम अलङ्कार होता है—विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि। परिणामो भवेत्...। यथा—स्मितेनोपायनं दूरादागतस्य कृतं मम। स्तनोपपीडयाश्लेषः कृतो द्यूते पणस्तया। यहाँ स्मित उपायन के रूप में तथा आश्लेष पण के रूप में परिणत हो रहा है, अतः परिणाम अलङ्कार है। यदि ये उपमान और उपमेय तुल्य विभक्ति के द्वारा निर्दिष्ट हों तो (1) तुल्याधिकरण और यदि असमान विभक्ति के द्वारा इनका निर्देश किया जाये तो (2) अतुल्याधिकरण परिणाम होता है। उपर्युक्त उदाहरण में ही पूर्वार्ध में स्मित और उपायन भिन्न विभक्तियों के द्वारा निर्दिष्ट हैं जबकि उत्तरार्ध में आश्लेष और पण में समान विभक्ति है अतः ये क्रमशः द्वितीय तथा प्रथम भेद के उदाहरण हैं।

रूपक में आरोप्य उपमान अवच्छेदक के रूप में अन्वित होते हैं। रूपक के उदाहरण "मुखचन्द्रं पश्यति" में चन्द्र केवल मुख का उपरञ्जक मात्र है, दर्शन क्रिया के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है परन्तु परिणाम में उपमान का उपमेय के साथ तादात्म्य प्रतीत होता है। यहाँ उपमान का प्रकृत क्रिया में उपयोग भी होता है। (10/51)

परिन्यासः–मुखसन्धि का एक अङ्ग। उपक्षेप द्वारा विक्षिप्त तथा परिकर द्वारा बहुलीकृत कथावृत्त की सिद्धि परिन्यास नामक सन्ध्यङ्ग है–तन्निष्पत्तिः परिन्यासः। अतएव सा.द. में मुखसन्धि के सन्दर्भ में इन तीनों के पौर्वापर्य का विधान किया गया है। इसका उदाहरण वे.सं. में भीम की यह उक्ति है–चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य। स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः।। (6/71)

परिपन्थिरसाङ्गविभावपरिग्रहः–एक काव्यदोष। प्रकृत रस के विरोधी रस के विभावादि का कथन, यथा-मानं मा कुरु तन्वङ्गि ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम्। यौवन की अस्थिरता का वर्णन शान्तरस का अङ्ग है।शृङ्गारादि में उसका कथन दोषावह है परन्तु विरोधी रस के सञ्चारी आदि भावों का यदि बाध्य रूप से कथन किया जाये अर्थात् उनका कथन करके उन्हें प्रकृत रस के सञ्चारियों से दबा दिया जाये तो वह दोष न होकर गुणरूप ही होता है। विरोधी रस का स्मरण में अथवा समानता से कहने में अथवा किसी अङ्गीरस का अङ्ग बनाकर परिपाक कर देने में दोष नहीं होता। यह रसदोष है। (7/6)

परिभावना–मुखसन्धि का एक अङ्ग। कुतूहलयुक्त कथनों को परिभावना कहते हैं–कुतूहलोत्तरा वाचः प्रोक्ता तु परिभावना। यथा वे.सं. में युद्ध होगा या नहीं, इस संशय से ग्रस्त द्रौपदी का रणदुन्दुभि सुनकर भीमसेन के प्रति "नाथ! किमिदानीमेष प्रलयजलधरस्तनितमांसलः क्षणे क्षणे समरदुन्दुभिस्ताड्यते"। यह कथन उसके कुतूहल को व्यक्त करता है। (6/77)

परिभाषणम्–निर्वहण सन्धि का एक अङ्ग। निन्दायुक्त वाक्य को परिभाषण कहते हैं–वदन्ति परिभाषणं परिवादकृतं वाक्यम्। यथा अ.शा.

में तापसी का दुष्यन्त के लिए यह निन्दायुक्त कथन—"कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम ग्रहीष्यति"। (6/128)

परिवर्त्तकः—सात्वती वृत्ति का एक अङ्ग। प्रारब्ध कार्य से अतिरिक्त कोई कार्य करने को परिवर्त्तक कहते हैं—प्रारब्धादन्यकार्याणां करणं परिवर्त्तकः। यथा वे.सं. में भीम का यह कथन—"सहदेव! गच्छ त्वं गुरुमनुवर्त्तस्व। अहमप्यस्त्रागारं प्रविश्यायुधसहायो भवामीति। अथवा आमन्त्रयितव्यैव मयात्र पाञ्चाली"। यहाँ 'अथवा' के द्वारा कार्य का परिवर्त्तन कर लिया गया है। (6/154)

परिवृत्तिः—एक अर्थालङ्कार। समान, न्यून अथवा अधिक के साथ विनिमय करने से परिवृत्ति अलङ्कार होता है—परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्। यथा—दत्त्वा कटाक्षमेणाक्षी जहार हृदयं मम। मया तु हृदयं दत्त्वा गृहीतो मदनज्वरः।। इस पद्य में पूर्वार्ध में समान वस्तु का तथा उत्तरार्ध में अधिक देकर न्यून का आदान प्रदर्शित है। तस्य च प्रवयसो जटायुषः स्वर्गिणः किमिव शोच्यतेऽधुना। येन जर्जरकलेवरव्ययात्क्रीतमिन्दुकिरणोज्ज्वलं यशः।। इस पद्य में न्यून वस्तु देकर अधिक का आदान प्रदर्शित है। (10/105)

परिसर्पः—प्रतिमुख सन्धि का एक अङ्ग। नष्ट हुई इष्ट वस्तु के अन्वेषण को परिसर्प कहते हैं—इष्टनष्टानुसरणं परिसर्पश्च कथ्यते। यथा अ.शा. में शकुन्तला का अन्वेषण करते हुए दुष्यन्त का यह कथन—भवितव्यमत्र तया। तथा हि, अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढ़ा जघनगौरवात् पश्चात्। द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपंक्तिर्दृश्यतेऽभिनवा।। (6/83)

परिसङ्ख्या—एक अर्थालङ्कार। प्रश्नपूर्वक अथवा विना प्रश्न के ही जहाँ कही हुई वस्तु की शब्द से अथवा अर्थसिद्ध व्यावृत्ति होती है, वहाँ परिसङ्ख्या अलङ्कार होता है—प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद्वस्तुनो भवेत्। तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा। परिसङ्ख्या...। यथा—किं भूषणं सुदृढ़मत्र यशो न रत्नं, किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं न दोषः। किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्रं, जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम्।। इस श्लोक में प्रश्नपूर्वक यश आदि का आभूषणादि के रूप में कथन करके पुनः रत्न आदि का शब्दतः निषेध किया गया है।

प्रश्नपूर्वक तथा प्रश्न के विना, यह दो प्रकार की परिसङ्ख्या शाब्द तथा अर्थसिद्ध के रूप में दो-दो प्रकार की होकर कुल चार प्रकार की हो जाती है। यह यदि श्लेषमूलक हो तो अधिक चारुत्व उत्पन्न करती है। (10/106)

परिहारः—एक नाट्यालङ्कार। किये हुए अनुचित कार्य का परिमार्जन परिहार कहा जाता है—परिहार इति प्रोक्तः कृतानुचितमार्जनम्। यथा, वाली का राम के प्रति यह कथन—प्राणप्रयाणदुःखार्त्त उक्तवानस्म्यनक्षरम्। तत्क्षमस्व विभो, किञ्च सुग्रीवस्ते समर्पितः।। (6/234)

परीवादः—एक नाट्यालङ्कार। डाँटने को परीवाद कहते हैं—भर्त्सना तु परीवादः। यथा वे.सं.में दुर्योधन का सूत के प्रति यह कथन—धिक् धिक् सूत! किं कृतवानसि। वत्सस्य मे प्रकृतिदुर्ललितस्य पापः पापं विधास्यति"। (6/225)

परोढ़ा—परकीया नायिका का एक भेद। दूसरे के द्वारा परिणीता स्त्री परोढ़ा कही जाती है। यह अभिसार आदि में निरत रहने वाली होती है। यह कुलटा तथा निर्लज्जा होती है—यात्रादिनिरतान्योढ़ा कुलटा गलितत्रपा। आदि पद से दूतीप्रेषणादि के द्वारा नायक को नियन्त्रित करने का ग्रहण होता है। स्वामी निश्वसितेऽप्यसूयति मनोजिघ्रः सपत्नीजनः, श्वश्रूरिङ्गितदैवतं नयनयोरीहालिहो यातरः। तद्दूरादयमञ्जलिः किमधुना दृग्भङ्गिभावेन ते, वैदग्धीमधुरप्रबन्धरसिक व्यर्थोऽयमत्र श्रमः।। इस पद्य में स्वपति के लिए 'स्वामी' पद का प्रयोग यह द्योतित करता है कि वस्त्रदानादि के द्वारा वह केवल मेरा स्वामी ही है, प्रिय नहीं। तुम तो चतुर तथा मधुर प्रबन्धों में रसिक होने के कारण मेरे प्रिय हो। इस प्रकार इस नायिका की परपुरुष-विषयक रति प्रतीत होती है। धनञ्जय ने परोढ़ा को अङ्गीरस में ग्रहण करने का निषेध किया है—इयं त्वङ्गिनि प्रधाने रसे न कदाचिन्निबन्धनीयेति। (3/82)

पर्यायः—एक अर्थालङ्कार। जहाँ एक वस्तु अनेक में अथवा अनेक वस्तुएँ एक में क्रम से हों अथवा की जायें तो पर्याय अलङ्कार होता है—क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात्। भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय

इष्यते।। यथा–स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः, पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः। वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे, चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः।। इस पद्य में एक ही वर्षा की बूँदें पक्ष्म, अधर, पयोधर, त्रिवली आदि में स्थित प्रदर्शित की गयी हैं जबकि इस पद्य– विचरन्ति विलासिन्यो यत्र श्रोणिभरालसाः। वृककाकशिवास्तत्र धावन्त्यरिपुरे तव।। में एक ही शत्रुनगर में भेड़िये, काक तथा गीदड़ों की स्थिति वर्णित है।

इस अलङ्कार में एक वस्तु अनेक में क्रम से जाती है, अतः यह विशेष अलङ्कार से भिन्न है। परिवृत्ति से भी इसका अभेद सम्भव नहीं क्योंकि यहाँ किसी प्रकार का विनिमय नहीं होता जो परिवृत्ति का मूल है। (10/104)

पर्यायोक्तम्–एक अर्थालङ्कार। यदि भङ्गी से व्यङ्ग्य का ही अभिधा से कथन कर दिया जाये तो पर्यायोक्त अलङ्कार होता है–पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते। यथा–स्पृष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसम्भोगलालिताः। सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः।। हयग्रीव के सैनिकों ने पारिजात की मञ्जरियों को तिरस्कृत किया, इस कथन से उसकी विजय भी व्यक्त हो जाती है।

इस उदाहरण में कार्य से कारण की प्रतीतिरूप अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं है क्योंकि अप्रस्तुतप्रशसा में कार्य प्रस्तुत नहीं होता। यहाँ हयग्रीव की विजयरूप कारण के साथ सैनिकों के द्वारा मञ्जरियों का तिरस्कार रूप कार्य भी प्रस्तुत है। (10/79)

पर्युपासनम्–प्रतिमुख सन्धि का एक अङ्ग। क्रुद्ध व्यक्ति के अनुनय को पर्युपासन कहते हैं–क्रुद्धस्यानुनयः पुनः स्यात्पर्युपासनम्। यथा र.ना. में विदूषक की "भो! मा कुप्य। एषा हि कदलीगृहान्तरं गता", इत्यादि उक्ति। (6/90)

पश्चात्तापः–एक नाट्यालङ्कार। मोहवश किसी वस्तु का तिरस्कार करके अनन्तर उसके लिए अनुताप करना पश्चात्ताप कहा जाता है–मोहावधीरितार्थस्य पश्चात्तापः स एव तु। यथा, सीता को स्मरण करके राम की यह उक्ति–किं देव्या न विचुम्बितोऽस्मि बहुशो मिथ्याभिशप्तस्तदा। (6/218)

पाञ्चाली–रीति का एक प्रकार। माधुर्य तथा ओज व्यञ्जक वर्णों के अतिरिक्त वर्णों से युक्त तथा पाँच-छः समासों से युक्त पदों वाली रचना पाञ्चाली कही जाती है–वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः, समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता। भोज ने इसमें ओज, कान्ति, माधुर्य और सौकुमार्य गुणों की स्थिति भी निरूपित की है। तद्यथा–मधुरया मधुबोधितमाधवी मधुसमृद्धिसमेधितमेधया। मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृतानिभृताक्षरमुज्जगे।। (9/5)

पाण्डुता–प्रवासविप्रलम्भ में काम की तृतीय दशा। विरहजन्य सन्ताप के कारण वर्ण का पाण्डु हो जाना पाण्डुता नामक कामदशा है। (3/211)

पारिपार्श्विकः–स्थापक का अनुचर। सूत्रधार के सदृश गुणों वाला पात्र स्थापक होता है, उसका सेवक पारिपार्श्विक कहा जाता है जो गुणों में उससे कुछ न्यून होता है–तस्यानुचरः पारिपार्श्विकस्तस्मात्किञ्चिदूनो नटः। (6/16 की वृत्ति)

पीठमर्दः–नायक का सहायक। बहुत दूर तक चलने वाले नायक के प्रासङ्गिक इतिवृत्त में उसका सहायक पीठमर्द कहलाता है। वह नायक से कुछ न्यून गुणों से युक्त होता है–दूरानुवर्त्तिनि स्यात्तस्य प्रासङ्गिकेतिवृत्ते तु। किञ्चित्तद्गुणहीनः सहाय एवास्य पीठमर्दाख्यः।।यथा सुग्रीवादि। यह राजा का उत्तम कोटि का सहायक माना जाता है–उत्तमाः पीठमर्दाद्याः। धनञ्जय के अनुसार वह पताका का नायक होता है। (3/47)

पुनरुक्तता–एक काव्यदोष। जहाँ एक बार कहे गये अर्थ को ही प्रकारान्तर से पुनः कहा जाये वहाँ अर्थपुनरुक्तत्व दोष होता है। यथा–सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्। वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः।। यहाँ द्वितीयचरण में प्रतिपादित अर्थ को ही व्यतिरेक से उत्तरार्ध में कहा गया है परन्तु 'धनुर्ज्या' आदि शब्दों से 'ज्या' का धनुष पर आरूढ़ होना सूचित होता है, वहाँ पुनरुक्त नहीं समझना चाहिए। यह अर्थदोष है। (7/5)

पुनरुक्तवदाभासः–उभयालङ्कार। भिन्न रूप तथा भिन्न अर्थ वाले शब्दों में जब आपाततः पुनरुक्ति सी प्रतीत हो तो पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार

होता है। अर्थबोध के उपरान्त वह प्रतीति समाप्त हो जाती है–आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्येन भासनम्। पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः।। यथा–भुजङ्गकुण्डली व्यक्तशशिशुभ्रांशुशीतगुः। जगन्त्यपि सदापायादव्याच्चेतोहरः शिवः।। इस उदाहरण में 'भुजङ्गकुण्डली' शब्द में पुनरुक्ति प्रतीत हो रही है परन्तु 'भुजङ्गों के कुण्डल वाला' इस अर्थ का बोध होने पर यह मिथ्याप्रतीति समाप्त हो जाती है। इसी पद्य में 'शशिशुभ्रांशुशीतगुः' पद भी एक ही चन्द्र अर्थ के वाचक प्रतीत होते हैं परन्तु वस्तुतः इस वाक्यांश का अर्थ है–शश तथा श्वेत किरणों वाले चन्द्रमा से युक्त। इसी प्रकार की प्रतीति 'पायादव्यात्' तथा 'हरः शिवः' इन पदों से भी होती है परन्तु 'सदाअपायात्' तथा 'चेतोहरः शिवः' इस प्रकार अर्थ का ज्ञान होने पर वह समाप्त हो जाती है।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार यह शब्दार्थोभयालङ्कार है क्योंकि यहाँ कहीं तो शब्द की परिवृत्ति सह्य होती है तथा कहीं असह्य होती है। यथा उपर्युक्त उदाहरण में ही 'भुजङ्गकुण्डली' इस अलङ्कारस्थल में 'भुजङ्ग' पद को परिवर्तित करके उसका अन्य पर्याय रखा जा सकता है परन्तु 'कुण्डली' पद को परिवर्तित नहीं किया जा सकता। 'हरःशिवः' इस पद्यांश में उत्तरवर्ती 'शिवः' पद ही परिवर्तित हो सकता है, 'हरः' नहीं। 'भाति सदानत्यागः' में दान और त्याग दोनों ही पदों की परिवृत्ति सम्भव नहीं है। इस प्रकार कहीं परिवृत्तिसहत्व तथा कहीं अपरिवृत्तिसहत्व होने के कारण यह उभयालङ्कार है। (10/2)

पुनः पुनः दीप्तिः–एक काव्यदोष। रस का बार-बार दीप्त होना, यथा कुमारसम्भव के रतिविलाप में। यह रसदोष है। (7/6)

पुष्पगण्डिका–एक लास्याङ्ग। इसमें गीत वाद्यों से मिश्रित होता है तथा अनेक छन्दों का प्रयोग होता है। यहाँ स्त्री तथा पुरुषों की चेष्टायें परस्पर विपर्यस्त होती हैं अर्थात् स्त्रियाँ पुरुषों का तथा पुरुष स्त्रियों का अभिनय करते हैं–आतोद्यमिश्रितं गेयं छन्दांसि विविधानि च। स्त्रीपुंसयोर्विपर्यासचेष्टितं पुष्पगण्डिका।। (6/245)

पुष्पम्–प्रतिमुख सन्धि का एक अङ्ग। विशेष अनुरागादि उत्पन्न करन

वाला वाक्य पुष्प कहा जाता है–पुष्पं विशेषवचनं मतम्। यथा र.ना. में राजा की यह उक्ति–श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः। कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदछद्मामृतद्रवः।। (6/91)

पूर्णोपमा–उपमा का एक भेद। यदि उपमेय, उपमान, सामान्यधर्म, औपम्यवाची शब्द ये चारों शब्दतः उक्त हों तो पूर्णोपमा होती है–सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च। उपमेयं चोपमानं भवेद् वाच्यम्...।। इसका उदाहरण है–मुखं चन्द्र इव मनोज्ञम्। यहाँ मुख उपमेय, चन्द्र उपमान, मनोज्ञ सामान्यधर्म तथा इव औपम्यवाची शब्द हैं। इसके दो भेद श्रौती और आर्थी हैं जो तद्धित, समास और वाक्य में स्थिति के आधार पर तीन-तीन प्रकार के होते हैं। इस प्रकार इसके छः भेद हैं। (10/19)

पूर्वरङ्गः–नाट्य से पूर्व किया जाने वाला मङ्गलाचरण। नाट्यप्रयोग से पूर्व रङ्ग के विघ्नों को शान्त करने के लिए नट जो मङ्गलाचरण करते हैं, वह पूर्वरङ्ग कहा जाता है–यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये। कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते।। नाट्य से पूर्व अनुष्ठान होने के कारण इसकी यह संज्ञा अन्वर्थिका ही है। आचार्य भरत ने यवनिका के अभ्यन्तर तथा बाहर सम्पन्न होने वाली प्रत्याहारादि उन्नीस प्रकार की पूर्वरङ्गविधियों का उल्लेख किया है। आचार्य विश्वनाथ ने उनका उल्लेख नहीं किया। (6/10)

पूर्वरागः–विप्रलम्भ शृङ्गार का एक प्रकार। गुणों के श्रवण अथवा दर्शनादि से परस्पर अनुरक्त नायक और नायिका की मिलन से पूर्व की जो विशेष स्थित है उसे पूर्वराग कहते हैं–श्रवणाद् दर्शनाद् वापि मिथः संरूढरागयोः। दशाविशेषो योऽप्राप्तौ पूर्वरागः स उच्यते।। गुणों का श्रवण दूत, बन्दी अथवा सखी आदि से तथा दर्शन इन्द्रजाल, स्वप्न, चित्र में अथवा कभी-कभी साक्षात् भी हो जाता है। यह तीन प्रकार का होता है–नीलीराग, कुसुम्भराग तथा मञ्जिष्ठाराग। (3/193-94)

पूर्ववाक्यम्–निर्वहण सन्धि का एक अङ्ग। पूर्वोक्त अर्थ के उपदर्शन को पूर्ववाक्य कहते हैं–पूर्ववाक्यं तु विज्ञेयं यथोक्तार्थोपदर्शनम्। यथा, वे.सं. में भीम का कथन–बुद्धिमतिके! क्व सा भानुमती। परिभवतु सम्प्रति

पाण्डवदारान्। यहाँ भानुमती के द्वारा पूर्वोक्त कथन का भीम के द्वारा उपदर्शन कराया गया है। (6/135)

पृच्छा–एक नाट्यलक्षण। प्रार्थनापरक वाक्यों से अर्थ का अन्वेषण करना पृच्छा कहा जाता है–अभ्यर्थनापरैर्वाक्यैः पृच्छार्थान्वेषणं मतम्। यथा वे.सं. में सुन्दरक का, "आर्याः, अपि नाम सारथिद्वितीयो दृष्टो भवद्भिर्महाराजो दुर्योधनो न वेति", इस कथन के द्वारा दुर्योधन का अन्वेषण करना। (6/198)

प्रकरणम्–रूपक का एक भेद। नाटक से प्रकरण का भेदक आधार इसका कल्पित होना है। प्रकरण का कथानक लौकिक और कविकल्पित होता है। अङ्गी रस शृङ्गार होता है। नायक धीरप्रशान्त कोटि का कोई विप्र, अमात्य अथवा वणिक् हो सकता है जो धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति में सदा तत्पर रहता है। मृ०क० में ब्राह्मण, मा.मा. में अमात्य तथा पु.भू. में वणिक् नायक है। नायिका कहीं कुलीन कन्या, कहीं वेश्या अथवा कहीं दोनों भी हो सकती हैं। पु.भू. में कुलीन स्त्री, र०वृ० में वेश्या तथा मृ.क. में दोनों ही नायिकायें हैं। सा.द. में इन तीन प्रकार की नायिकाओं के आधार पर ही इसके तीन भेद कल्पित किये गये हैं। इनमें से तृतीय भेद धूर्त, जुआरी, विट, चेट आदि से भी व्याप्त होता है–भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्। शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्। सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः। नायिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित्। तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः। कितवद्यूतकारादि विटचेटकसङ्कुलः। प्रकरण क्योंकि वस्तुतः नाटक की ही प्रकृति की एक विधा है, अतः इसमें भी वस्तु, नेता तथा रस के सम्बन्ध में अनुक्त बातें नायक के समान ही कल्पित कर ली जानी चाहिएँ–अस्य नाटकप्रकृतित्वात् शेषं नाटकवत्। (6/253-54)

प्रकरणिका–उपरूपक का एक भेद। जिसमें नायक कोई सार्थवाह तथा नायिका उसी की सजातीया हो, ऐसी नाटिका को ही प्रकरणी कहते हैं–नाटिकैव प्रकरणी सार्थवाहादिनायका। समानवंशजा नेतुर्भवेद्यत्र च नायिका।। (6/298)

प्रकरी—अर्थप्रकृति का एक भेद। प्रसङ्गप्राप्त, नाटक के एक अंश में व्याप्त चरित को प्रकरी कहते हैं—प्रासङ्गिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता। यथा—रावण और जटायु का संवाद। इसके नायक का भी अपना कोई निजीफल नहीं होता—प्रकरीनायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम्। (6/51,52)

प्रकाशम्—नाट्योक्ति का एक प्रकार। सभी को सुनाने योग्य कथन को प्रकाश कहते हैं—सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्। (6/161)

प्रकाशितविरुद्धता—एक काव्यदोष। जहाँ विरुद्ध अर्थ भासित हो रहा हो वहाँ प्रकाशितविरुद्धत्व दोष होता है। यथा—कुमारस्ते नराधीश श्रियं समधिगच्छतु। यहाँ 'त्वं म्रियस्व' इस प्रकार का विरुद्ध अर्थ भासित होता है। यह अर्थदोष है। (7/5)

प्रकृतिविपर्ययः—एक काव्यदोष। नायकों की प्रकृतियाँ तीन प्रकार की होती हैं—दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य। दिव्य यथा इन्द्रादि देवता, अदिव्य यथा उदयनादि मनुष्य तथा दिव्यादिव्य यथा रामादि मनुष्यत्व को प्राप्त देवता। ये सभी धीर नायक उदात्त, उद्धत, ललित अथवा प्रशान्त के भेद से कुल बारह प्रकार के हो जाते हैं जो उत्तम, मध्यम अथवा अधम के भेद से पुनः तीन-तीन प्रकार के होते हैं। इस प्रकार नायकों की छत्तीस प्रकृतियाँ होती हैं। जो जिस प्रकार का है, उसका उससे विपरीत वर्णन प्रकृतिविपर्यय नामक दोष है। यथा, धीरोदात्त राम का उद्धत के समान आचरण करते हुए छद्मपूर्वक बाली का वध करना अथवा कु.स. में पार्वतीपरमेश्वर के शृङ्गार का वर्णन करना। यह रसदोष है। (7/6)

प्रकृतिश्लेषः—श्लेषालङ्कार का एक भेद। जहाँ प्रकृति की श्लिष्टता श्लेष की प्रतीति का कारण हो वहाँ प्रकृतिश्लेष होता है। यथा—अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति। सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः।। वक्ष्यति पद वह प्रापणे और वच परिभाषणे दोनों धातुओं के लृट् लकार प्र.पु.ए.व. का रूप है अतः हृदि वक्ष्यति (हृदय में धारण करेगा) और ज्ञेषु वक्ष्यति (विद्वानों में कहेगा) दोनों के साथ अन्वित हो जाता है। इसी प्रकार डुकृञ् करणे तथा कृती छेदने दोनों धातुओं से क्विप् प्रत्यय करने पर 'कृत्' शब्द बनता है, अतः अमित्राणां सामर्थ्यकृत् (शत्रुओं की सामर्थ्य का छेदन

करने वाला) तथा मित्राणां सामर्थ्यकृत् (मित्रों की सामर्थ्य को करने वाला), इस प्रकार दोनों के साथ अन्वित हो जाता है। इन दोनों ही उदाहरणों में समान रूपों में प्रकृति भिन्न-भिन्न है, अतः ये प्रकृतिश्लेष के उदाहरण हैं। (10/14 की वृत्ति)

प्रगमनम्–प्रतिमुख सन्धि का एक अङ्ग। उत्तरोत्तर उत्कृष्ट वाक्य-विन्यास को प्रगमन कहते हैं–प्रगमनं वाक्यं स्यादुत्तरोत्तरम्। इसका उदाहरण वि.उ. में उर्वशी के "जयतु जयतु महाराजः" इस कथन पर राजा का उत्तर "मया नाम जितं यस्य त्वया जयमुदीर्यते" है। (6/88)

प्रगल्भता–नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। निर्भयता को प्रगल्भता कहते हैं–निःसाध्वसत्वं प्रागल्भ्यम्। यथा–समाश्लिष्टाः समाश्लेषैश्चुम्बिताश्चुम्बनैरपि। दष्टाश्च दंशनैः कान्तं दासीकुर्वन्ति योषितः।। (3/111)

प्रगल्भा–स्वकीया नायिका का एक भेद। कामभाव से अत्यन्त उन्मत्त, प्रगाढ़ युवावस्था को प्राप्त, सब प्रकार के रतिकार्यों में निष्णात, अत्यल्प लज्जाभाव से युक्त, पूर्णतः विकसित भावों वाली तथा (रतिप्रसङ्ग में) नायक का भी अतिक्रमण कर जाने वाली नायिका प्रगल्भा कहलाती है–स्मरान्धा गाढ़तारुण्या समस्तरतकोविदा। भावोन्नता दरव्रीडा प्रगल्भाक्रान्तनायका। यथा–धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु। नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि।। इस पद्य में स्मरान्धा नायिका का वर्णन है।

मान की स्थिति में प्रगल्भा नायिका के धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा के रूप में तीन भेद होते हैं। ये तीन प्रकार की प्रगल्भा नायिकायें पति के प्रेम के आधार पर ज्येष्ठा और कनिष्ठा के रूप में दो-दो प्रकार की होती हैं। इस प्रकार इसके छः भेद निष्पन्न होते हैं। (3/73)

प्रच्छेदकः–एक लास्याङ्ग। अपने पति को अन्य नायिका में आसक्त जानकर प्रेमविच्छेद के सन्ताप से वीणा के साथ स्त्री का गान प्रच्छेदक कहा जाता है–अन्यासक्तं पतिं मत्वा प्रेमविच्छेदमन्युना। वीणापुरस्सरं गानं स्त्रियाः प्रच्छेदको मतः।। (6/246))

प्रणयजन्यमानः–मानविप्रलम्भ का एक प्रकार। प्रेम की गति ऐसी विचित्र है कि इसमें नायकनायिका में अत्यन्त प्रेम होने पर भी विना कारण के ही कोई एक अथवा दोनों कुपित हो जाते हैं। इसे ही प्रणयमान कहते हैं–द्वयोः प्रणयमानः स्यात्प्रमोदे सुमहत्यपि। प्रेम्णः कुटिलगामित्वात्कोपो यः कारणं विना।। यथा–एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतोरन्योन्यस्य हृदि स्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम्। दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषोर्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहः।। इस पद्य में नायक और नायिका दोनों का प्रणयमान वर्णित है। (3/205)

प्रतिकूलवर्णत्वम्–एक काव्यदोष। वर्णों की रचना रस के प्रतिकूल होने पर प्रतिकूलवर्णत्व दोष होता है। कोमल रसों में यथासम्भव कोमल वर्णों का तथा प्रदीप्त रसों में कठोर वर्णों का प्रयोग होना चाहिए। इसके विपरीत वर्णों का प्रयोग दोषावह है। यथा–अववर्तयति उल्लोठयति शयने कर्ह्यपि मोट्टयति नो परिघटते। हृदयेन स्फिट्टयति लज्जया खुट्टयति धृतेः सा।। विप्रलम्भ शृङ्गार जैसे अत्यन्त कोमल रस में ऐसे वर्णों का प्रयोग दोषावह है। वैसे कोमल रसों में भी यदि दो-तीन-चार प्रतिकूल वर्ण आ जायें तो उतना रसभङ्ग नहीं होता परन्तु बहुत अधिक प्रतिकूल वर्ण रसानुभूति को दूषित ही करते हैं। यह वाक्यदोष है। (7/4)

प्रतिनायकः–वीर और रौद्ररसों का आलम्बन। प्रतिनायक नायक का प्रतिपक्षी, धीरोद्धत प्रकृति का, पाप कर्मों में रत तथा व्यसनी होता है–धीरोद्धतः पापकारी व्यसनी प्रतिनायकः। यथा, राम का प्रतिपक्षी रावण प्रतिनायक है। (3/138)

प्रतिपत्तिः–शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

प्रतिमुखम्–सन्धि का द्वितीय भेद। इसमें मुखसन्धि में निर्दिष्ट प्रधान फल कुछ लक्षित तथा कुछ अलक्षित होता हुआ विकास को प्राप्त करता है। इस प्रकार यहाँ 'यत्न' नामक कार्यावस्था तथा बिन्दु नामक अर्थप्रकृति का मेल होकर कथानक अग्रेसर होता है–फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः। लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखञ्च तत्।। यथा, र.ना. के द्वितीयाङ्क में सुसङ्गता और विदूषक को वत्सराज और सागरिका के परस्पर अनुराग का

ज्ञान हो जाने पर कथानक का विकास कुछ लक्षित होता है परन्तु वासवदत्ता चित्रफलक के वृत्तान्त से उसे कुछ-कुछ समझ सी लेती है, अतः उसमें अलक्ष्यता भी बनी रहती है। इसके तेरह अङ्ग हैं–विलास, परिसर्प, विधूत, तापन, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, विरोध, पर्युपासन, पुष्प, वज्र, उपन्यास और वर्णसंहार। कुछ आचार्यों के अनुसार इनमें से परिसर्पण, प्रगमन, वज्र, उपन्यास और पुष्प मुख्य हैं। अन्य अङ्गों का प्रयोग यथासम्भव किया जाना चाहिए। (6/64, 81)

प्रतिवस्तूपमा–एक अर्थालङ्कार। जिन दो वाक्यों में साम्य प्रतीत होता हो, यदि उनमें एक ही साधारण धर्म पृथक् शब्दों से कहा जाये तो प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार होता है–प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः। एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिष्यते पृथक्। इसका उदाहरण है–धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि। इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति।। इस श्लोक में समाकर्षण और उत्तरलीकरण एक ही क्रिया है जिसे पुनरुक्ति रोकने के लिए भिन्न शब्दों से निर्दिष्ट कर दिया गया है। प्रतिवस्तूपमा मालारूप में भी मिलती है। यथा–विमल एव रविर्विशदः शशी, प्रकृतिशोभन एव हि दर्पणः। शिवगिरिः शिवहाससहोदरः, सहजसुन्दर एव हि सज्जनः।। यहाँ विमल, विशद आदि पदों का एक ही अर्थ है। इसमें एक वाक्य का वैधर्म्यपूर्वक भी कथन हो सकता है। यद्यपि आपाततः देखने पर यहाँ सम्पूर्ण साम्य प्रतीत नहीं होता तथापि व्यतिरेक से साम्य ही आक्षिप्य होता है। यथा–चकोर्य एव हि चतुराश्चन्द्रिकाचामकर्मणि। विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि।। यहाँ उत्तरार्ध में यद्यपि 'न निपुणाः सुदृशः' इस प्रकार पूर्व वाक्य से विरुद्ध कथन किया गया प्रतीत होता है परन्तु इससे भी 'आवन्तिका एव निपुणाः' इस प्रकार का अर्थ ही आक्षिप्त होता है। (10/68)

प्रतिषेधः–विमर्शसन्धि का एक अङ्ग। अभीष्ट अर्थ का प्रतिघात प्रतिषेध कहा जाता है–ईप्सितार्थप्रतीघातः प्रतिषेध इति स्मृतः। इसका उदाहरण स्वयं कविराजविरचित प्रभावती में है–(प्रद्युम्नः)-सखे! कथमिह त्वमेकाकी वर्त्तसे? क्व नु पुनः प्रियसखीजनानुगम्यमाना प्रियतमा मे प्रभावती?

(विदूषकः) असुरपतिना आकार्य कुत्रापि नीता। (प्रद्युम्नः) (दीर्घं निश्वस्य) हा पूर्णचन्द्रमुखि! मत्तचकोरनेत्रे! मामानताङ्गि! परिहाय कुतो गतासि? गच्छ त्वमद्य ननु जीवित! तूर्णमेव, दैवं कदर्थनपरं कृतकृत्यमस्तु।। (6/118)

प्रतीपः—एक अर्थालङ्कार। प्रसिद्ध उपमान को उपमेय के रूप में कल्पित करना अथवा उसे निष्फल बताना प्रतीप अलङ्कार कहा जाता है—प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम्। निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते।। यथा—यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं, मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी। इन पंक्तियों में प्रसिद्ध उपमान नीलकमल और शशी को नेत्र और मुख का उपमेय बनाकर प्रस्तुत किया गया है। तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा हा हेम सा चेद्द्युतिस्तच्चक्षुर्यदि हारितं कुवलयैस्तच्चेत्स्मितं का सुधा। धिक्कन्दर्पधनुर्भ्रुवौ यदि च ते किं वा बहु ब्रूमहे, यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविमुखः सर्गक्रमो वेधसः।। इस पद्य में प्रसिद्ध उपमान चन्द्रादि की अपेक्षा मुख के ही अधिक सुन्दर होने के कारण उनकी निष्फलता प्रतिपादित की गयी है।

किसी उत्कृष्ट वस्तु का अत्यन्त उत्कर्ष वर्णित करके फिर दूसरी वस्तु को उसका उपमान बना देने पर भी प्रतीपालङ्कार माना जाता है—उक्त्वा चात्यन्तमुत्कर्षमत्युत्कृष्टस्य वस्तुनः। कल्पितेऽप्युपमानत्वे प्रतीपं केचिदूचिरे।। यथा--अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल तात मा स्म दृप्यः।। ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन् वचनानि दुर्जनानाम्।। यहाँ प्रथम पाद में हालाहल का उत्कर्ष बताकर फिर दुर्जनों के वचनों को उसके उपमान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। (10/113-14)

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा—उत्प्रेक्षा का एक भेद। साक्षात् इवादि शब्दों का प्रयोग न होने से यहाँ उत्प्रेक्षा प्रतीयमान रहती है—वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः। इसका उदाहरण है—तन्वङ्ग्याः स्तनयुग्मेन मुखं न प्रकटीकृतम्। हाराय गुणिने स्थानं न दत्तमिति लज्जया।।

सर्वप्रथम यह जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य के भेद से चार प्रकार की होती है। इन चारों प्रकारों में कहीं भाव उत्प्रेक्ष्य होता है, कहीं अभाव। इस प्रकार इसके आठ भेद बन जाते हैं। इन आठों में उत्प्रेक्षा का

निमित्त कहीं गुण होता है, कहीं क्रिया। इस प्रकार ये सोलह भेद हुए। इन सोलह प्रकारों में भी कहीं फल उत्प्रेक्षित होता है, कहीं हेतु। इस प्रकार निष्पन्न हुए बत्तीस प्रकारों में भी प्रस्तुत पदार्थ कहीं शब्दोक्त होता है, कहीं गम्यमान। इस प्रकार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के कुल चौंसठ भेद हुए। (10/59)

प्रत्यनीकः—एक अर्थालङ्कार। शत्रु का तिरस्कार करने में अशक्त होने पर यदि किसी उससे सम्बन्धित का तिरस्कार किया जाये, जिससे शत्रु का ही उत्कर्ष सिद्ध होता हो तों प्रत्यनीक नामक अलङ्कार होता है—प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतीकारे रिपोर्यदि। तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्षसाधकः।। यथा—मध्येन तनुमध्या मे मध्यं जितवतीत्ययम्। इभकुम्भौ भिनत्त्यस्याः कुचकुम्भनिभो हरिः।। इस पद्य में नायिका से पराजित सिंह गजराज के मस्तक को विदीर्ण कर रहा है। (10/112)

प्रत्ययश्लेषः—श्लेषालङ्कार का एक भेद। जहाँ प्रत्यय के श्लिष्ट होने के कारण श्लेष की प्रतीति हो, यथा—किरणा हरिणाङ्कस्य दक्षिणश्च समीरणः। कान्तोत्सङ्गजुषां नूनं सर्व एव सुधाकिरः।। यहाँ 'सुधाकिरः' इस पद में क्विप् और क प्रत्ययों का श्लेष है। 'सुधां किरति' इस अर्थ में कृ विक्षेपे से क्विप् प्रत्यय करने पर 'सुधाकिर्' तथा क प्रत्यय करने पर 'सुधाकिर' रूप बनते हैं। पद्य में प्रयुक्त पद क्विबन्त शब्द का प्रथमा बहुवचन का तथा क प्रत्ययान्त शब्द का प्रथमा एकवचन का रूप है। (10/14 की वृत्ति)

प्रपञ्चः—एक वीथ्यङ्ग। असत्यभूत तथा हास्य उत्पन्न करने वाला परस्पर कथन प्रपञ्च कहा जाता है—मिथो वाक्यमसद्भूतं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः। धनञ्जय के अनुसार यह परस्पर कथन एक दूसरे की स्तुतिरूप होता है। वि.उ. में विदूषक और चेटी का परस्पर वार्त्तालाप इसका उदाहरण है। (6/264)

प्रबोधनम्—शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

प्रयत्नम्—शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

प्रयोगातिशयः–प्रस्तावना का एक भेद। यदि सूत्रधार एक प्रयोग में ही दूसरा प्रयोग प्रयुक्त करे और उसके द्वारा ही पात्र का प्रवेश हो तो प्रयोगातिशय कहा जाता है–यदि प्रयोग एकस्मिन्भूयोऽप्यन्यः प्रयुज्यते। तेन पात्रप्रवेशश्चेत् प्रयोगातिशयस्तदा।। यथा, कु.मा. में नृत्यप्रयोग के लिए अपनी पत्नी का आह्वान करता हुआ सूत्रधार नेपथ्य में, "इत इतोऽवतरत्वार्या" वाक्य सुनकर "कोऽयं खल्वार्याह्वानेन साहायकमिव में सम्पादयति। (विलोक्य) कष्टमतिकरुणं वर्त्तते" इत्यादि रूप में दूसरा प्रयोग करके "सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम्" इस प्रकार सीता और लक्ष्मण के प्रयोग को सूचित करके स्वयं रङ्गमञ्च से निकल जाता है। (6/20)

प्रयोजनवती लक्षणा–लक्षणा का एक भेद। किसी विशिष्ट प्रयोजन से जहाँ लक्षणा की जाये वह प्रयोजनवती लक्षणा होती है। 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गा पद का जलप्रवाह में अन्वय न हो पाने के कारण सामीप्य सम्बन्ध से तटादि का बोध होता है। इससे गङ्गातट के शैत्यपावनत्वसम्पन्न होने का प्रयोजन सिद्ध होता है। प्रयोजन का ज्ञान यद्यपि लक्षणा के अनन्तर व्यञ्जना से होता है, क्योंकि वह लक्षणा का फल है। अतः उसे कदाचित् इसका कारण नहीं माना जा सकता जो निश्चित रूप से कार्य का पूर्ववर्ती होता है तथापि जो शब्द किसी अर्थ का साक्षात् वाचक नहीं है उसका प्रयोग किसी विशिष्ट प्रयोजन को मन में रखकर ही किया जाता है, अतः कहा जा सकता है कि प्रयोजन का ज्ञान लक्षणा से पूर्व अवश्य होता है, वही लक्षणा का हेतु है।

प्रयोजनवती लक्षणा के दो भेद लक्षणलक्षणा और उपादानलक्षणा तथा उन दोनों के भी सारोपा और साध्यवसाना रूप दो भेद होने के कारण इसके चार भेद हो जाते हैं। ये चारों भेद शुद्धा और गौणी के रूप में दो-दो प्रकार के होने के कारण यह आठ प्रकार की हो जाती है। ये आठों भेद गूढ़प्रयोजन और अगूढ़प्रयोजन के रूप में दो-दो होने के कारण इसके सोलह भेद तथा उनमें भी प्रयोजन के धर्मीगत और धर्मगत होने के कारण इसके बत्तीस प्रकार हो जाते हैं जो पदगत अथवा वाक्यगत होने के कारण प्रयोजनवती लक्षणा के कुल चौंसठ भेद निष्पन्न होते हैं। (2/9-18)

प्ररोचना–रूपक के प्रति प्रेक्षकों को प्रवृत्त करने वाला कथन। प्रस्तूयमान रूपक में कवि, काव्यादि की प्रशंसा से प्रेक्षकों की उस प्रयोग के प्रति प्रवृत्ति को उन्मुख करना प्ररोचना कहा जाता है–उन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना। यथा र.ना. में यह पद्य–श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी, लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम् वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुनर्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः।। (6/15)

प्ररोचना–विमर्शसन्धि का एक अङ्ग। अर्थ के उपसंहार को प्रदर्शित करना प्ररोचना कहा जाता है–प्ररोचना तु विज्ञेया संहारार्थप्रदर्शिनी। यथा वे.सं. में पाञ्चालक का युधिष्ठिर के प्रति यह कथन–पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते, कृष्णात्यन्तचिरोज्झिते तु कबरीबन्धे करोतु क्षणम्। रामे शातकुठारभासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि, क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः।। इस पद्य में रण में विजय तथा युधिष्ठिर के राज्याभिषेक रूप उपसंहार को प्रदर्शित किया गया है। (6/120)

प्रलयः–एक सात्त्विक अनुभाव। अत्यन्त सुख अथवा दुःख के कारण चेष्टाओं और ज्ञान का नष्ट हो जाना प्रलय कहा जाता है–प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः। (3/146)

प्रवर्त्तकम्–प्रस्तावना का एक भेद। जहाँ सूत्रधार प्रवृत्त ऋतु आदि के वर्णन के द्वारा (श्लेष से) किसी पात्र के प्रवेश की सूचना दे, उसे प्रवर्तक कहते हैं–कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत्। तदाश्रयस्य पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवर्तकम्।। यथा–आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः, प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तिः। उत्खाय गाढ़तमसं घनकालमुग्रं रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः।। इस पद्य में शरदृतु का वर्णन करके उसी रूप में राम का प्रवेश कराया गया है। (6/21)

प्रवर्त्तनम्–एक नाट्यालङ्कार। किसी कार्य में अच्छी तरह प्रवृत्त करना प्रवर्त्तन कहा जाता है–प्रवर्त्तनं तु कार्यस्य यत्स्यात्साधु प्रवर्त्तनम्। यथा वे.सं. में राजा का कञ्चुकी के प्रति कथन–'कञ्चुकिन्, देवस्य देवकीनन्दनस्य बहुमानाद् वत्सस्य भीमसेनस्य विजयमङ्गलाय प्रवर्त्तन्तां तत्रोपचिताः समारम्भाः'। (6/236)

प्रवासः—विप्रलम्भ शृङ्गार का एक भेद। किसी कार्यवश, शापवश अथवा सम्भ्रम के कारण नायक के अन्य देश में चले जाने को 'प्रवास' कहते हैं—प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्याच्छापाच्च सम्भ्रमात्। इसमें अङ्गों तथा वस्त्रों में मलिनता, शिर में एक वेणी धारण करना, निश्वास, उच्छ्‌वास, रुदित, भूमिपात आदि होते हैं। कार्यजन्य, शापजन्य तथा सम्भ्रमजन्य इन तीन प्रकार के प्रवासों में से कार्यजन्य प्रवास क्योंकि विचारपूर्वक किया जाता है अतः यह भूत, वर्त्तमान अथवा भावी के भेद से पुनः तीन प्रकार का होता है। शेष दो तो तत्क्षण आपतित हो जाते हैं अतः उनमें विचार की सम्भावना ही नहीं होती। वे एक-एक प्रकार के ही हैं।

प्रवास में नायिकायें अङ्गों में असौष्ठव, ताप, पाण्डुता, कृशता, अरुचि, धैर्यहीनता, मन की शून्यता, तन्मयता, उन्माद, मूर्च्छा और मृति इन कामदशाओं को प्राप्त करती हैं। पूर्वराग के सम्बन्ध में भी दश कामदशायें बतायी गयी हैं। काम की ये सभी दशायें कहीं भी हो सकती हैं तथापि परस्परा का पालन करते हुए इन्हें पृथक्-पृथक् बताया गया है परन्तु इस सूची में ग्यारह दशाओं का उल्लेख है। (3/210-12)

प्रवेशकः—अर्थोपक्षेपक का एक भेद। प्रवेशक में भूत अथवा भावी कथांशों की सूचना देने के लिए नीच पात्रों का प्रयोग किया जाता है। पात्रों के अनुरूप ही इसमें उक्तियाँ भी उदात्त नहीं होतीं। अतएव प्रथम अङ्क में इसका प्रयोग वर्जित है। इसकी शेष बातें विष्कम्भक के ही समान होती हैं—प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः। अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा। इसका प्रयोग वे.सं. नाटक के चतुर्थ अङ्क में राक्षसयुगल के द्वारा किया गया है। (6/38)

प्रशस्तिः—निर्वहण सन्धि का एक अङ्ग। राजा, देशादि की शान्ति की कामना प्रशस्ति कही जाती है—नृपदेशादिशान्तिस्तु प्रशस्तिरभिधीयते। यही भरतवाक्य है। यथा प्र.व. में, राजानः सुतिनिर्विशेषमधुना पश्यन्तु नित्यं प्रजा, जीयासुः सदसद्‌विवेकपटवः सन्तो गुणग्राहिणः। शस्यस्वर्णसमृद्धयः समधिकाः सन्तु क्षमामण्डले, भूयादव्यभिचारिणी त्रिजगतो भक्तिश्च नारायणे।। उपसंहार और प्रशस्ति का क्रमशः पूर्वापर क्रम नियत है। (6/137)

प्रसक्तिः–शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

प्रसङ्गः–विमर्शसन्धि का एक अङ्ग। पूज्य व्यक्तियों का वर्णन प्रसङ्ग नामक सन्ध्यङ्ग है–प्रसङ्गो गुरुकीर्त्तनम्। यथा–मृ.क. में चाण्डालों के द्वारा वध्यस्थल की ओर ले जाये जा रहे चारुदत्त के द्वारा, मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भाषितं यत्सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात्। मम निधनदशायां वर्त्तमानस्य पापैस्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम्।। इस पद्य में वध के समय तथा यज्ञादि में गुरुजनों का नाम कीर्त्तन होने से प्रसङ्ग नामक सन्ध्यङ्ग है। (6/116)

प्रसादः–निर्वहणसन्धि का एक अङ्ग। शुश्रूषा आदि को प्रसाद कहते हैं–शुश्रूषादिः प्रसादः स्यात्। यथा वे.सं. मे भीम के द्वारा द्रौपदी के केश बाँधना। (6/130)

प्रसादः–एक गुण। अग्नि जैसे सूखे ईंधन को व्याप्त कर लेती है, उसी प्रकार जो तुरन्त चित्त में व्याप्त हो जाये उस गुण को प्रसाद कहते हैं। उसके व्यञ्जक शब्द श्रवणमात्र से ही अर्थ के बोधक हो जाते हैं–चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः। स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।। शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः। यथा–सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं मुक्ताकलाप लुठसि स्तनयोः प्रियायाः। बाणैः स्मरस्य शतशो विनिकृत्तमर्मा स्वप्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि।।

प्रसिद्धिः–एक नाट्यलक्षण। लोकप्रसिद्ध उत्कृष्ट साधनों से अर्थ की सिद्धि को प्रसिद्धि कहते हैं–प्रसिद्धिर्लोकसिद्धार्थैरुत्कृष्टैरर्थसाधनम्। यथा वि.उ. में, सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ। स्वयं वृतः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः।। इस पद्य के द्वारा राजा का परिचय प्रस्तुत किया गया है। (6/199)

प्रसिद्धित्यागः–एक काव्यदोष। कविसम्प्रदाय में किसी अर्थविशेष के लिए जो शब्द प्रसिद्ध है, उसका प्रयोग न करना प्रसिद्धित्याग दोष है। यथा–घोरो वारिमुचां रवः। यहाँ मेघों के शब्द के लिए रव शब्द का प्रयोग अनुचित है, इसके स्थान पर गर्जितम्' शब्द प्रसिद्ध है। जैसा कि कहा गया

है–मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु तु कूजितप्रभृति। स्तनितभणितादिसुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम्।। यह वाक्यदोष है। (7/4)

प्रस्तावना–देखें आमुखम्।

प्रस्थानकम्–उपरूपक का एक भेद। यह लय, तालादि तथा विलास से सम्पन्न दो अङ्कों की रचना है। इसमें सुरापान के संयोग से उद्दिष्ट अर्थ की पूर्ति होती है, कैशिकी और भारती वृत्तियों का प्रयोग होता है, नायक दास तथा नायिका दासी होती है तथा उपनायक उससे भी हीन कोटि का होता है–प्रस्थाने नायको दासो हीनः स्यादुपनायकः। दासी च नायिका वृत्तिः कैशिकी भारती तथा। सुरापानसमायोगादुद्दिष्टार्थस्य संहतिः। अङ्कौ द्वौ लयतालादिर्विलासो बहुलस्तथा।। इसका उदाहरणशृङ्गारतिलकम् है। (6/286)

प्रहर्षः–एक नाट्यालङ्कार। आनन्दाधिक्य को प्रहर्ष कहते हैं–प्रहर्षः प्रमदाधिक्यम्। यथा अ.शा. में दुष्यन्त का यह कथन–तत्किमिदानीमात्मानं पूर्णमनोरथं नाभिनन्दामि। (6/239)

प्रहर्षः–शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

प्रहसनम्–रूपक का एक भेद। भाण के समान सन्धि, सन्ध्यङ्ग, लास्याङ्ग तथा अङ्कों की योजना वाला निन्द्य पुरुषों का कविकल्पित कथानक प्रहसन कहा जाता है। इसमें आरभटी वृत्ति तथा विष्कम्भक और प्रवेशक का प्रयोग नहीं किया जाता तथा वीथ्यङ्गों की स्थिति ऐच्छिक है। इसमें हास्य रस प्रधान रहता है–भाणवत्सन्धिसन्ध्यङ्गलास्याङ्गाङ्कैर्विनिर्मितम्। भवेत्प्रहसनं वृत्तं निन्द्यानां कविकल्पितम्। अत्र नारभटी नापि विष्कम्भकप्रवेशकौ। अङ्गी हास्यरसस्तत्र वीथ्यङ्गानां स्थितिर्न वा।।

इसके शुद्ध और सङ्कीर्ण नामक दो भेद नायक के अनुसार कल्पित किये गये हैं। यदि तपस्वी, सन्यासी अथवा ब्राह्मण आदि में से कोई एक धृष्टनायक हो तो वह शुद्धप्रहसनकहा जाता है। इसका उदाहरणकन्दर्पकेलिः है। किसी भी अधृष्ट पुरुष के नायक होने पर यह सङ्कीर्ण प्रहसन होता है, यथा धूर्त्तचरितम्। कुछ लोग बहुत से धृष्ट पात्रों का वृत्त वर्णित होने पर इसे सङ्कीर्ण कहते हैं। भरतमुनि ने वेश्या, चेट, नपुंसक, विट आदि के वेश तथा चेष्टा के अविकृत वर्णन में सङ्कीर्ण प्रहसन माना है। इसका कथानक

एक या दो अङ्कों में वर्णित होता है। यथा, लटकमेलकम् आदि। नपुंसक, कञ्चुकी, तापसादि के द्वारा कामुक, बन्दी, योद्धाओं आदि के वेष तथा वाणी के अनुकरण में विकृत नामक प्रहसन होता है–विकृतन्तु विदुर्यत्र षण्डकञ्चुकितापसाः। भुजङ्गचारणभटप्रभृतेर्वेशवाग्युताः।। यह सङ्कीर्ण के ही अन्तर्गत आ जाता है, अतः भरतमुनि ने इसका पृथक् उल्लेख नहीं किया। (6/276-80)

प्रहेलिका–एक शब्दालङ्कार। इसमें किसी बात को छुपाकर वर्णन किया जाता है। यह उक्तिवैचित्र्यमात्र है, अतएव रस में बाधक होने के कारण आचार्य विश्वनाथ इसे अलङ्कार नहीं मानते–रसस्य परिपन्थित्वान्नालङ्कारः प्रहेलिका। उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका।। च्युतदत्ताक्षरा, क्रिया, कारकगुप्ति आदि इसके अनेक भेद हैं। कूजन्ति कोकिलाः साले, यौवने फुल्लमम्बुजम्। किं करोतु कुरङ्गाक्षी वदनेन निपीडिता।। यह प्रहेलिका च्युताक्षरा, दत्ताक्षरा और च्युतदत्ताक्षरा तीनों का उदाहरण है। 'रसाले' के स्थान पर 'साले' कहा गया है, यहाँ अक्षरच्युति है। 'वने' के स्थान पर 'यौवने' कहा गया है, अतः दत्ताक्षरा नामक भेद हुआ। 'मदनेन' के स्थान पर 'वदनेन' आया है, अतः वकार को च्युत करके मकार का आदान करना पड़ता है। पाण्डवानां सभामध्ये दुर्योधन उपागतः। तस्मै गां च सुवर्णं च सर्वाण्याभरणानि च।। यह क्रियागुप्ति प्रहेलिका का उदाहरण है। 'अदुः यः अधनः' इस प्रकार भङ्ग करने पर अदुः यह क्रियापद प्राप्त होता है। (10/17)

प्राप्तिः–मुखसन्धि का एक अङ्ग। सुख के लाभ को प्राप्ति कहते हैं–प्राप्तिः सुखागमः। यथा वे.सं. में भीम की प्रतिज्ञा के अनन्तर द्रौपदी का यह कथन–अश्रुतपूर्वं खल्विदं वचनं, तत्पुनः पुनर्भण। (6/74)

प्राप्तिः–एक नाट्यलक्षण। एक अंश के द्वारा शेष के अनुमान को प्राप्ति कहते हैं–प्राप्तिः केनचिदंशेन किञ्चिद्यत्रानुमीयते। यथा प्र.व. में 'अनेन खलु सर्वतश्चरतां चञ्चरीकेणावश्यं विदिता भविष्यति प्रियतमा मे प्रभावती।' यहाँ चञ्चरीक की सर्वत्र विचरणशीलता के द्वारा प्रभावती की कुत्रवर्त्तिता का अनुमान किया गया है। (6/182)

प्राप्तिः–शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

प्राप्त्याशा—कार्य की तृतीय अवस्था। जहाँ फलप्राप्ति की सम्भावना उपाय से सम्भावित तथा अपाय की आशङ्का से अनिश्चययुक्त हो, कार्य की प्राप्त्याशा नामक स्थिति है—अपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः। यथा र.ना. के तृतीयाङ्क में वेषपरिवर्त्तन तथा अभिसारादि सङ्गम के उपाय होने पर भी वासवदत्तारूप अपाय की आशङ्का निरन्तर बनी रहती है, अतः यहाँ प्राप्त्याशा नामक अवस्था है। (6/57)

प्रार्थना—गर्भसन्धि का एक अङ्ग। रति, हर्ष, उत्सव आदि की प्रार्थना प्रार्थनानामक सन्ध्यङ्ग है—रतिहर्षोत्सवानां तु प्रार्थनं प्रार्थना भवेत्। यथा र.ना. में राजा का सागरिका के प्रति यह कथन—शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ, रम्भास्तम्भनिभं तथोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ। इत्याह्लादकराखिलाङ्गि रभसान्निःशङ्कमालिङ्ग्य मामङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय।। गर्भसन्धि के प्रसङ्ग में प्रार्थना नामक सन्ध्यङ्ग उन्हीं आचार्यों के मत से गिनाया गया है जो इसी में गतार्थ होने के कारण निर्वहण सन्धि के प्रशस्तिनामक अङ्ग को नहीं मानते। जो वहाँ प्रशस्ति की गणना करते हैं उनके अनुसार प्रार्थना सन्ध्यङ्ग नहीं है, अन्यथा ना.शा. की चतुःषष्टि सन्ध्यङ्ग वाली परम्परा का निर्वाह नहीं हो पाता। (6/103)

प्रासङ्गिकम्—कथावस्तु का एक प्रकार। प्रधानभूत आधिकारिक वस्तु के साधक इतिवृत्त को प्रासङ्गिक कहते हैं—अस्योपकरणार्थं तु प्रासङ्गिकमितीष्यते। यथा रा. की कथावस्तु में सुग्रीवादि का चरित्र प्रासङ्गिक इतिवृत्त है। (6/25)

प्रियवचः—एक नाट्यलक्षण। पूज्य व्यक्ति में आदर प्रदर्शित करने के लिए हर्षभाषण प्रियवचन कहा जाता है—स्यात्प्रमाणयितुं पूज्यं प्रियोक्तिर्हर्षभाषणम्। यथा अ.शा. में यह पद्य—उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं, घनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः। निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमस्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः।। (6/206)

प्रेङ्खणम्—उपरूपक का एक भेद। इस एकाङ्की उपरूपक में गर्भ और विमर्श सन्धि का अभाव होता है, सूत्रधार नहीं होता, न ही विष्कम्भक और प्रवेशक का प्रयोग किया जाता है। नान्दी और प्ररोचना का पाठ नेपथ्य में होता है। युद्ध, सम्फेट तथा सभी वृत्तियों का प्रयोग होता है। इसका नायक हीन कोटि का होता है—गर्भविमर्शरहितं प्रेङ्खणं हीननायकम्।

असूत्रधारमेकाङ्कमविष्कम्भकप्रवेशकम्। नियुद्धसम्फेटयुतं सर्ववृत्तिसमाश्रितम्। नेपथ्ये गीयते नान्दी तथा तत्र प्ररोचना।। यथा, बालिवधः। (6/290)

प्रेयः–एक अर्थालङ्कार। जहाँ भाव किसी अन्य का अङ्ग बनकर उपस्थित हो वहाँ प्रेयः अलङ्कार होता है। इसकी प्रेयसंज्ञा इसके अत्यन्त प्रिय होने के कारण है। यथा–आमीलितालसविवर्तिततारकाक्षीं, मत्कण्ठबन्धन-दरश्लथबाहुवल्लीम्। प्रस्वेदवारिकणिकाचितगण्डबिम्बां, संस्मृत्य तामनिशमेति न शान्तिमन्तः।। इस पद्य में स्मरण नामक भाव विप्रलम्भ शृङ्गार का अङ्ग है। (10/124)

प्रोत्साहनम्–एक नाट्यालङ्कार। किसी को किसी कार्य में लगाने के लिए उत्साहवर्धक वाणी का प्रयोग करना प्रोत्साहन कहलाता है–प्रोत्साहनं स्यादुत्साहगिरा कस्यापि योजनम्। यथा बा.रा. में ताडका का वध करने के लिए विश्वामित्र की रामचन्द्र के प्रति यह उक्ति–कालरात्रि-करालेयं स्त्रीति किं विचिकित्ससि। तज्जगत्त्रितयं त्रातुं तात ताडय ताडकाम्।। (6/228)

प्रोषितभर्तृका–नायिका का एक प्रकार। अनेक कार्यों में फँसकर जिसका पति परदेश चला गया हो वह कामपीडिता नायिका प्रोषितभर्तृका होती है–नानाकार्यवशाद्यस्या दूरदेशं गतः पतिः। सा मनोभवदुःखार्त्ता भवेत्प्रोषितभर्तृका।। यथा–तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं, दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्। गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालाम्, जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्।। (6/97)

फलागमः–कार्य की अन्तिम अवस्था। जहाँ कथावस्तु के समग्र फल की प्राप्ति हो जाये, वह फलागम नामक कार्यावस्था है–सावस्था फलयोगः स्याद्यः समग्रफलोदयः। र.ना. में राजा के चक्रवर्त्तित्वरूप फलान्तर के लाभ सहित रत्नावली की प्राप्ति फलागम नामक कार्यावस्था है। (6/59)

बिन्दुः–अर्थप्रकृति का एक भेद। अवान्तर कथा के विच्छिन्न हो जाने पर भी जो इतिवृत्त को आगे बढ़ाता तथा प्रधान कथा को जोड़े रखता है उसे बिन्दु कहते हैं–अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुविच्छेदकारणम्। यथा, र.ना. में अनङ्गपूजा समाप्त हो जाने पर "उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते" आदि वाक्य सुनकर

सागरिका का हर्षपूर्वक यह कथन कि "कथमेषः स उदयननरेन्द्रः" प्रधान कथा के अविच्छेद का हेतु है। (6/48)

बिब्बोकः–नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। अत्यन्त गर्व के साथ अभीष्ट वस्तु में भी अनादर प्रकट करना बिब्बोक कहलाता है–बिब्बोकस्त्वतिगर्वेण वस्तुनीष्टेऽप्यनादरः। यथा–यासां सत्यपि सद्गुणानुसरणे दोषानुवृत्तिः परा, याः प्राणान्वरमर्पयन्ति न पुनः सम्पूर्णदृष्टिं प्रिये। अत्यन्ताभिमतेऽपि वस्तुनि विधिर्यासां निषेधात्मकस्तास्त्रैलोक्यविलक्षणप्रकृतयो वामाः प्रसीदन्तु ते।। (3/117)

बीजम्–अर्थप्रकृति का एक भेद। फलसिद्धि का वह प्रथम हेतु जो प्रारम्भ में अत्यन्त संक्षिप्त रूप से उद्दिष्ट हो परन्तु उसका विस्तार क्रमशः अनेक रूपों में हो, उसे बीज कहते हैं–स्वल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति। फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते।। लौकिक बीज के समान यह भी क्रमशः विस्तार को प्राप्त करता हुआ अन्ततः फलरूप में परिणत हो जाता है। यथा, र.ना. में अनुकूल दैव से युक्त यौगन्धरायण का व्यापार अथवा वे.सं. में द्रौपदी के केश संयमन के लिए भीमसेन के क्रोध से उपचित युधिष्ठिर का उत्साह। (6/47)

बीभत्सः–एक रस। जुगुप्सा नामक स्थायीभाव जब विभावादि से पुष्ट होकर अनुभूति का विषय बनता है तो वह बीभत्स नामक रस होता है। दुर्गन्धयुक्त माँस, रुधिर, चर्बी आदि इसके आलम्बन तथा उन्हीं में कीट आदि का सञ्चार हो जाना उद्दीपन है। थूकना, मुख फेर लेना, आँख बन्द कर लेना आदि इसके अनुभाव तथा मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि, मरण व्यभिचारीभाव हैं। इसका वर्ण नील तथा देवता महाकाल माना गया है–जुगुप्सास्थायिभावस्तु बीभत्सः कथ्यते रसः। नीलवर्णो महाकालदैवतोऽयमुदाहृतः। दुर्गन्धमाँसपिशितमेदांस्यालम्बनं मतम्। तत्रैव कृमिपाताद्यमुद्दीपनमुदाहृतम्। निष्ठीवनास्यवलननेत्रसङ्कोचनादयः। अनुभावास्तत्र मतास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः। मोहोऽपस्मार आवेगो व्याधिश्च मरणादयः।। यथा–उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोथभूयांसि मांसान्यंससृक्-पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा। आर्त्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः

प्रेतरङ्कः करङ्कादङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति।। इस पद्य में शव तथा प्रेत आलम्बन हैं, दुर्गन्ध आदि उद्दीपन। ग्लानि आदि सञ्चारीभाव यहाँ गम्य हैं। नायक (माधव) की जुगुप्सासूचक उक्ति अनुभाव है। इन सबके द्वारा सहृदय का जुगुप्सानामक स्थायीभाव उद्‌बुद्ध हो रहा है। (3/230)

भग्नप्रक्रमता—एक काव्यदोष। जिस रूप से उपक्रम किया जाये, अन्त तक उसका निर्वाह न करना भग्नप्रक्रमता है। यथा—एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यैः रावणः प्रत्यभाषत। यहाँ √ वच् से प्रक्रम किया गया है, अतः प्रतिवचन भी उसी धातु से होना चाहिए। तद्‌यथा—एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यैः रावणः प्रत्यवोचत। ऐसा कहने पर कथितपदत्व दोष नहीं आता क्योंकि यहाँ वचन और प्रतिवचन में उद्देश्यप्रतिनिर्देशभाव है। यह वाक्यदोष है। (7/4)

भयः—भयानक रस का स्थायीभाव। किसी रौद्र शक्ति (व्याघ्रादि) से उत्पन्न चित्त को व्याकुल करने वाला भाव भय नामक स्थायीभाव है—रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम्। (3/186)

भयानकः—एक रस। भय नामक स्थायीभाव जब विभावादि से पुष्ट होकर अनुभूति का विषय बनता है तो भयानक नामक रस होता है। यह स्त्रियों तथा नीच प्रकृति के पात्रों में उत्पन्न होता है। जिससे भय उत्पन्न हो वह (सिंहादि) इसका आलम्बन होता है। उसकी घोर चेष्टायें इसकी उद्दीपक होती हैं। विवर्ण हो जाना, वाणी का गद्‌गद हो जाना, मूर्च्छा, पसीना आना, रोमाञ्च, कम्पन, दिशाओं में इधर-उधर देखने लगना आदि इसके अनुभाव हैं तथा जुगुप्सा आवेग, संमोह, सन्त्रास,ग्लानि, दीनता, शङ्का, अपस्मार, सम्भ्रान्ति, मृत्यु आदि इसके व्यभिचारीभाव हैं। इसका वर्ण कृष्ण तथा देवता काल माना गया है—भयानको भयस्थायिभावः कालाधिदैवतः। स्त्रीनीचप्रकृतिः कृष्णो मतस्तत्त्वविशारदैः। यस्मादुत्पद्यते भीतिस्तदत्रालम्बनं मतम्। चेष्टा घोरतरास्तस्य भवेदुद्दीपनं पुनः। अनुभावोऽत्र वैवर्ण्यगद्‌गदस्वरभाषणम्। पुलकस्वेदरोमाञ्चकम्पदिक्प्रेक्षणादयः। जुगुप्सावेगसंमोहसन्त्रासग्लानिदीनताः। शङ्कापस्मारसम्भ्रान्तिमृत्व्याद्या व्यभिचारिणः।। यथा—नष्टं वर्षवरैर्मनुष्य-गणनाभावादपास्यत्रपामन्तःकञ्चुकि कञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः।

पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतम्। कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः।। इस पद्य में वानर के अन्तःपुर में प्रविष्ट होने पर वहाँ उपस्थित नीच पात्रों के भय का वर्णन है। यहाँ वानर आलम्बन, उसकी चेष्टायें उद्दीपन, भय, दुबकना-छिपना, झुककर चलना आदि अनुभाव तथा दीनता, शङ्का आदि व्यभिचारीभाव भयनामक चित्तवृत्ति को पुष्ट कर रहे हैं। (3/229)

भरतवाक्यम्—देखें प्रशस्तिः।

भवन् विप्रलम्भः—कार्यजन्य प्रवासविप्रलम्भ का एक प्रकार। नायक के कार्यवश किसी अन्य देश में चले जाने के लिए प्रस्तुत होने पर नायिका का सन्तप्त होना भवन् कार्यजन्य प्रवासविप्रलम्भ कहा जाता है। यथा—प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं, धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः। यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिताः, गन्तव्ये सति जीवित प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते।। यहाँ प्रिय के गमन के समय नायिका की अपने प्राणों के प्रति यह उक्ति है जो उसकी विरहदशा को भी व्यक्त करती है। (3/213)

भाणः— रूपक का एक भेद। भाण धूर्त्तों के चरित्र, एक अङ्क, एक ही निपुण और विद्वान् विट नायक से युक्त अनेक अवस्थाओं वाला काल्पनिक कथानक है जहाँ प्रायः भारती वृत्ति (कहीं-कहीं कैशिकी), मुख और निर्वहण सन्धियाँ तथा दसों लास्याङ्ग होते हैं। नायक रङ्गमञ्च पर सम्बोधन, उक्तिप्रत्युक्ति, आकाशभाषित आदि के द्वारा अपनी अथवा दूसरों की अनुभूतियों को प्रकाशित करता है। उसके शौर्य और शृङ्गार के वर्णनों से वीर तथा शृङ्गार रस सूचित किये जाते हैं—भाणः स्याद्धूर्त्तचरितो नानावस्थान्तरात्मकः। एकाङ्क एक एवात्र निपुणः पण्डितो विटः। रङ्गे प्रकाशयेत्स्वेनानुभूतमितरेण वा। सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः। सूचयेद् वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यवर्णनैः। तत्रेतिवृत्तमुत्पाद्यं वृत्तिः प्रायेण भारती। मुखनिर्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च।। इसका उदाहरण लीलामधुकर है। (6/255)

भाणिका—उपरूपक का एक भेद। इस एकाङ्की उपरूपक में वेषादि की रचना का सुन्दर विधान होता है। मुख और निर्वहण सन्धियों तथा कैशिकी

और भारती वृत्तियों का प्रयोग किया जाता है। इसकी नायिका उदात्त होती है तथा नायक मन्द। यह रचना सात अङ्गों–उपन्यास, विन्यास, विबोध, साध्वस, समर्पण, निवृत्ति और संहार से युक्त होती है–भाणिका श्लक्ष्णनेपथ्या मुखनिर्वहणान्विता। कैशिकी भारतीवृत्तियुक्तैकाङ्कविनिर्मिता। उदात्तनायिका मन्दपुरुषाऽत्राङ्गसप्तकम्। इसका उदाहरण कामदत्ता है। (6/300)

भारती–नाट्यवृत्ति का एक प्रकार। यद्यपि नायक के वाणी, शरीर और मन के व्यापार एक दूसरे के साथ सङ्कीर्ण रूप से व्याप्त रहते हैं तथापि प्रधानतया भारती वचोव्यापाररूपा वृत्ति है–भारती वाग्वृत्तिः पाठ्यप्रधाना भारती (अ.भा.)। ना.शा. में इसकी उत्पत्ति ऋग्वेद से बतायी गयी है–ऋग्वेदाद्भारती वृत्तिः। विष्णु के द्वारा पृथ्वी पर पादन्यास करने से जो भार पड़ा उससे भारती वृत्ति की उत्पत्ति हुई। अतएव यह पुरुष पात्रों के द्वारा प्रयुक्त की जाती है तथा इसमें स्त्रियाँ वर्जित रहती हैं। धनञ्जय ने भरतों के वाग्व्यापार पर आश्रित होने के कारण ही इनकी संज्ञा भारती स्वीकार की है। सा.द. का भारतीवृत्ति का लक्षण भी अविकल रूप से द.रू. से उद्धृत किया गया है–भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः। समाहार रूप से भारती नटों के द्वारा प्रयुक्त संस्कृतप्राय वाग्व्यापार है। इसका प्रयोग सभी रसों में समान रूप से होता है–वृत्तिः सर्वत्र भारती। इसके चार अङ्ग होते हैं–प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख। (6/14)

भावः–रस का एक अङ्ग। प्रधानता के साथ वर्णित व्यभिचारीभाव, देवमुनिगुरुनृपादिविषया रति तथा विभावादि के द्वारा अपरिपुष्ट होने के कारण रसत्व को अप्राप्त स्थायीभाव 'भाव' कहे जाते हैं–सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः। उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते।। इन तीनों के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं– एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी। लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।। कु.स. के इस पद्य में अवहित्था नामक व्यभिचारीभाव ही आपाततः प्रधान प्रतीत होता है। प्रपानक रस में जिस प्रकार मिर्च, खाण्ड आदि एकीभाव को प्राप्त रहते हैं परन्तु फिर भी जैसे किसी एक वस्तु की अधिकता हो जाने के कारण उसका स्वाद अलग से प्रतीत होता है उसी प्रकार कभी-कभी कोई व्यभिचारीभाव भी प्रधान

हो जाता है। दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक प्रकामम्। अवधीरितशारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि।। इस पद्य में देवविषयक रतिभाव वर्णित है। तथा, हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः। उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि।। यहाँ पार्वतीविषयक शिव का रतिभाव पूर्णरूप से परिपुष्ट नहीं हो पाया।

आचार्य भरत ने रस और भाव के सम्बन्ध के विषय में एक पक्ष यह भी उपस्थापित किया था कि "रस भावों से रहित नहीं होता और न ही भाव रसरहित होते हैं। रस और भाव इन दोनों की सिद्धि परस्पर एक दूसरे पर निहित है"। इसका अभिप्राय यह है कि सभी रस भावों के द्वारा किसी न किसी भाव की ही परिणति हैं अर्थात् भाव ही रसों को निष्पन्न करते हैं, दूसरी ओर रस भावों को भावत्व प्रदान करते हैं। यह उसी प्रकार से होता है जैसे विविध व्यञ्जनों के संयोग से अन्न में रसवत्ता आ जाती है तथा दूसरी ओर अन्न से वे व्यञ्जन भी आस्वादनीय हो जाते हैं परन्तु इस प्रकार रसों के साथ रहते हुए भी वे भाव कभी-कभी उसी प्रकार प्रधान हो जाते हैं जैसे भृत्य के विवाह में राजा के उपस्थित होने पर भी प्रधानता भृत्य की ही रहती है। (3/239,40)

भावः–रसों के निर्वर्त्तक। सुखदुःखादि भावों के द्वारा सहृदयों के चित्त को भावित कर देना भाव कहा जाता है–सुखदुःखादिभिर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्। रति आदि स्थायीभाव, निर्वेद आदि सञ्चारीभाव तथा सात्त्विकभाव अनेक प्रकार के अभिनयों से सम्बद्ध होकर रसों को उद्भावित करते हैं, इसीलिए वे भाव कहे जाते हैं–नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसान् यतः। तस्माद् भावा अमी प्रोक्ताः स्थायिसञ्चारिसात्त्विकाः।। स्थायीभाव तो स्वयमेव परिपुष्ट होकर रस के रूप में परिणत हो जाता है, इसलिए वह तो रस का मूल ही है। भावों में सर्वप्रथम उल्लेख इनकी प्रधानता को द्योतित करता है। व्यभिचारी वे क्षणिक भाव हैं जो स्थायीभाव में समुद्र की लहरों की तरह आविर्भूत और तिरोभूत होते रहते हैं। इस प्रकार वे रसानुभूति के सहकारिकारण बनते हैं। सात्त्विकभाव स्तम्भ, रोमाञ्च आदि हैं जो अनुभाव-रूप हैं। ये रसप्रक्रिया के कार्यरूप कहे जाते हैं। विभावादि में भी भावत्व

रसप्रक्रिया में उपकारी होने के कारण ही आता है। आलम्बन और उद्दीपन विभावों के द्वारा सामाजिकगत रत्यादि भाव विभावित किये जाते हैं, अतः ये इसके कारणरूप हैं। इस प्रकार भाव एक रससापेक्ष सत्ता है जो सहृदय के हृदय में रसों की भावना कराये। (3/187)

भावः–नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। यह अङ्गज विकार है। जन्म से ही निर्विकार चित्त में उद्बुद्धमात्र प्रथम विकार भाव कहलाता है–निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया। यथा–स एव सुरभि कालः, स एव मलयानिलः। सैवेयमबला किन्तु मनोऽन्यदिव दृश्यते।। (3/104)

भावशबलता–अनेक भावों की एक साथ स्थिति। अनेक भावों की एक साथ स्थिति भावशबलता कही जाती है। यथा–क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं, भूयोऽपि दृश्येत सा, दोषाणां प्रशमस्य नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्। किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः, स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा, चेतः स्वास्थ्यमुपेहि कः खलु युवा धन्योऽधरः पास्यति।। इस पद्य में वितर्क, औत्सुक्य, (प्रथम चरण) मति, स्मृति, (द्वितीय चरण) शङ्का, दैन्य, (तृतीय चरण) धृति, चिन्ता (चतुर्थ चरण) भावों की शबलता है। (3/244)

भावशबलता–एक अर्थालङ्कार। जहाँ अनेक भावों का मिश्रण किसी अन्य का अङ्ग बनकर आये वहाँ भावशबलता नामक अलङ्कार होता है। यथा–पश्येत्कश्चिच्चलचपल रे का त्वराऽहं कुमारी, हस्तालम्बं वितर हहहा व्युत्क्रमः क्वासि यासि। इत्थं पृथ्वीपरिवृढ भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः, कन्या कञ्चित्फलकिसलयान्यादधानाभिधत्ते।। इस पद्य में 'पश्येत्कश्चित्' में शङ्का, 'चपल रे' में असूया, 'का त्वरा' में धृति, 'अहं कुमारी' में स्मृति, 'हस्तालम्बं वितर' में श्रम, 'हहहा' में दैन्य, 'व्युत्क्रमः' में विबोध, 'क्वासि यासि' में औत्सुक्य नामक भावों का मिश्रण है जो राजविषयक रतिभाव का अङ्ग बनकर उपस्थित हुआ है। (10/125)

भावशान्तिः–पूर्व भाव की समाप्ति। किसी विरोधी भाव के सहसा उपस्थित हो जाने पर पूर्वभाव की समाप्ति को भावशान्ति कहते हैं। यथा–सुतनु जहिहि कोपं पश्य पादानतं मां, न खलु तव कदाचित् कोप एवं विधोऽभूत्। इति निगदति नाथे तिर्यगामीलिताक्ष्या, नयनजलमनल्पं मुक्तमुक्तं

न किञ्चित्।। यहाँ वाष्पमोचन से ईर्ष्यानामक सञ्चारीभाव की शान्ति हो रही है। (3/244)

भावसन्धिः– दो भावों का मिलन। समान चमत्कार वाले दो भावों की सन्धि भावसन्धि कही जाती है। यथा–नयनयुगासेचनकं मानसवृत्त्यापि दुष्प्रापम्। रूपमिदं मदिराक्ष्या मदयति हृदयं दुनोति च मे।। तरुणी सुन्दर होने के कारण आनन्दित तथा दुर्लभ होने के कारण एकसाथ विषण्ण भी कर रही है।अतः हर्ष और विषाद भावों की सन्धि है। (3/244)

भावसन्धिः–एक अर्थालङ्कार। जहाँ समान चमत्कार वाले दो भावों की सन्धि किसी अन्य का अङ्ग बनकर आये वहाँ भावसन्धि नामक अलङ्कार होता है। यथा–जन्मान्तरीणरमणस्याङ्गसङ्गसमुत्सुका। सलज्जा चान्तिके सख्याः पातु नः पार्वती सदा।। इस पद्य में उत्सुकता और लज्जा नामक भाव देवताविषयक रतिभाव के अङ्ग हैं। (10/125)

भावाभासः–अनौचित्यप्रवृत्त भाव। कोई भाव यदि अनौचित्य से प्रवृत्त हुआ हो तो उसे भावाभास कहते हैं–अनौचित्यप्रवृत्तस्याभासो रसभावयोः। भरतप्रोक्त रसभाव के लक्षणों का पूर्णरूप से प्रवृत्त न हो पाना भावाभास है। यथा, वेश्या आदि में लज्जा आदि के भाव को वर्णित करना भावाभास है। (3/241, 43)

भाविकम्–एक अर्थालङ्कार। भूत अथवा भावी किसी अद्भुत पदार्थ के प्रत्यक्षायमाण होने को भाविक कहते हैं–अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः। यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम्।। यथा–मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः। येनैकचुलुके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ। तथा, आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने। भाविभूषणसम्भारां साक्षात्कुर्वे तवाकृतिम्।। पूर्वपद्य में अगस्त्य ऋषि का वर्णन है जिन्होंने एक चुल्लु में सागर का पान करते हुए मत्स्य और कच्छप (अवतारों) को देखा। इस वर्णन से मानो भूत की घटना प्रत्यक्षवत् हो उठती है। द्वितीय पद्य में नायिका की वह अवस्था जब वह अञ्जन लगाया करती थी (भूत) तथा जब वह आभूषणों से रमणीय होगी (भविष्य), प्रत्यक्षायमाण है।

यह प्रसादगुण नहीं है क्योंकि वह भूत और भावी के प्रत्यक्षायमाणत्व

का कारण नहीं होता। यह अद्‌भुत रस भी नहीं है क्योंकि यह विस्मय का हेतु है जबकि अद्‌भुत विस्मयरूप होता है। अध्यवसाय सिद्ध न होने के कारण यह अतिशयोक्ति अलङ्कार भी नहीं है। भूत और भावी घटनाओं के उसी रूप में प्रकाशित होने के कारण यह भ्रान्तिमान् भी नहीं है। स्वभावोक्ति में वस्तु का सूक्ष्मरूप वर्णित रहता है परन्तु यहाँ उसकी प्रत्यक्षायमाणता प्रधान है। यदि कहीं स्वभावोक्ति में इसका स्वरूप दिखाई दे तो इन दोनों का सङ्कर मान लिया जाना चाहिए। (10/122)

भावी विप्रलम्भः–कार्यजन्य प्रवासविप्रलम्भ का एक भेद। भविष्य में होने वाले विप्रलम्भ का स्मरण करके ही नायिका में उसके अनुभावों का उत्पन्न हो जाना भावी कार्यजन्य प्रवासविप्रलम्भ कहा जाता है। यथा–यामः सुन्दरि! याहि पान्थ, दयिते शोकं वृथा मा कृथाः, शोकस्ते गमने कुतो मम, ततो वाष्पं कथं मुञ्चसि। शीघ्रं न व्रजसीति मां गमयितुं कस्मादियं ते त्वरा, भूयादस्य सह त्वया जिगमिषोर्जीवस्य मे सम्भ्रमः।। यहाँ नायक के भावी प्रवास की कल्पना से नायिका के प्राणों में भी शीघ्र निकल जाने का सम्भ्रम उत्पन्न हो रहा है। (3/213)

भावोदयः– एक भाव की शान्ति के पश्चात् दूसरे भाव का उदय भावोदय कहलाता है। यथा–चरणपतनप्रत्याख्यानात्प्रसादपराङ्मुखे, निभृत कितवाचारेत्युक्त्वा रुषा परुषीकृते। व्रजति रमणे निश्वासितस्योच्चैः स्तनस्थितहस्तया, नयनसलिलच्छन्ना दृष्टिः सखीषु निवेषिता। यहाँ नायक के अनुनय को स्वीकार न करने पर तथा रुष्ट होकर उसे लौटते हुए देखकर नायिका के विषादभाव का उदय व्यञ्जित है। (3/244)

भावोदयः– एक अर्थालङ्कार। जहाँ भावोदय किसी अन्य का अङ्ग बनकर आये, वहाँ भावोदय नामक अलङ्कार होता है। यथा–मधुपानप्रवृत्तस्ते सुहृद्भिः सह वैरिणः। श्रुत्वा कुतोऽपि त्वन्नाम लेभिरे विषमां दशाम्।। इस पद्य में त्रासादि सञ्चारीभाव राजविषयक रतिभाव के अङ्ग हैं। (10/125)

भाषणम्–निर्वहण सन्धि का एक अङ्ग। सामदानादि को भाषण कहा जाता है–सामदानादि भाषणम्। यथा च. कौ. में "धर्मः– तदेहि धर्मलोकमधितिष्ठ"। यहाँ साम का प्रयोग है। (6/134)

भाषाश्लेषः—श्लेषालङ्कार का एक भेद। जहाँ विभिन्न भाषाओं की श्लिष्टता के कारण श्लेष की प्रतीति हो, यथा— महते सुरसंधं मे तमव समासङ्गमागमाहरणे। हर बहुसरणं तं चित्तमोहमवसर उमे सहसा।। यह पद्य संस्कृत तथा महाराष्ट्री प्राकृत दोनों में पढ़ा जा सकता है। (10/14)

भाषासमः—एक शब्दालङ्कार। जहाँ एक ही प्रकार के शब्दों के द्वारा अनेक भाषाओं में वही वाक्य बने वहाँ भाषासम अलङ्कार होता है—शब्दैरेकविधैरेव भाषासु विविधास्वपि। वाक्यं यत्र भवेत्सोऽयं भाषासम इतीष्यते।। यथा—मञ्जुलमणिमञ्जीरे कलगम्भीरे विहारसरसीतीरे। विरसासि केलिकीरे किमालि! धीरे च गन्धसारसमीरे।। यह श्लोक संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती, नागर, अपभ्रंश आदि भाषाओं में समान ही है। (10/12)

भूतविप्रलम्भः—कार्यजन्य प्रवासविप्रलम्भ का एक प्रकार। कार्यवश नायक के अन्यदेश में चले जा चुकने के उपरान्त नायिका के सन्ताप का वर्णन भूत कार्यजन्य प्रवासविप्रलम्भ है। यथा—चिन्ताभिः स्तिमितं मनः करतले लीलाकपोलस्थली, प्रत्यूषक्षणदेशपाण्डुवदनं श्वासैकखिन्नोऽधरः। अम्भः शीकरपद्मिनी किसलयैर्नापैति तापः शमं कोऽस्याः प्रार्थितदुर्लभोऽस्ति सहते दीनां दशामीदृशीम्।। इस पद्य में विरहिणी नायिका की वियोगदशा वर्णित है। (3/213)

भूषणम्—एक नाट्यलक्षण। अलङ्कारों सहित गुणों का योग भूषण नामक लक्षण है—गुणैः सालङ्कारैर्योगस्तु भूषणम्। यथा—आक्षिपन्त्यरविन्दानि मुग्धे तव मुखश्रियम्। कोषदण्डसमग्राणां किमेषामस्ति दुष्करम्।। इस पद्य के अर्थ का उपमा में पर्यवसान होने से निदर्शना, उत्तरार्ध के द्वारा पूर्वार्ध का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास तथा श्री, कोष और दण्ड पदों के द्व्यर्थक होने से श्लेष अलङ्कार का माधुर्य और प्रसाद गुणों के साथ योग होने के कारण भूषण नामक लक्षण है। (6/171)

भेदः—नायिका का मानभङ्ग करने का एक उपाय। नायिका की सखी को तोड़कर अपनी ओर मिला लेने को भेद कहते हैं—भेदस्तत्सख्युपार्जनम्। (3/208)

भेदः–मुखसन्धि का एक अङ्ग। मिले हुओं के भेदन को भेद कहते हैं–भेदः संहतभेदनम्। यथा वे.सं. में भीम का यह कथन कि "अत एवाद्य-प्रभृति भिन्नोऽहं भवद्भ्यः"। कुछ आचार्य प्रोत्साहना अर्थात् पात्र को बीज के प्रति उत्साहित करने को भेद कहते हैं। यह मत धनञ्जयादि का है। (6/80)

भ्रंशः–एक नाट्यलक्षण। प्रमत्त आदि पुरुष के द्वारा अभिमत से विपरीत अर्थ का कथन भ्रंश कहा जाता है–दृप्तादीनां भवेद्भ्रंशो वाच्यादन्यतरद्वचः। यथा वे.सं. में दुर्योधन के द्वारा उक्त "सहभृत्यगणं०" आदि पद्य में 'पाण्डुसुतं सुयोधनः' के स्थान पर 'पाण्डुसुतः सुयोधनम्' यह कथन। (6/191)

भ्रान्तिमान्–एक अर्थालङ्कार। उपमेय में उपमान के भ्रम को, यदि वह कविप्रतिभा से उत्पन्न हुआ हो, भ्रान्तिमान् कहते हैं– साम्यादतस्मिंस्तद्-बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः। इसके साथ-साथ यह भ्रम सादृश्यमूलक भी होना चाहिए। यथा–मुग्धा दुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानधो बल्लवाः, कर्णे कैरवशङ्कया कुवलयं कुर्वन्ति कान्ता अपि। कर्कन्धूफलमुच्चिनोति शबरी मुक्ताफलाशङ्कया, सान्द्रा चान्द्रमसी न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका।। (10/53)

मञ्जिष्ठारागः–पूर्वराग का एक प्रकार। जो अत्यन्त चमक दिखाये तथा हृदय से जाये भी नहीं, वह मञ्जिष्ठाराग कहा जाता है–मञ्जिष्ठा-रागमाहुस्तद्यन्नापैत्यतिशोभते। (3/203)

मतिः–एक व्यभिचारीभाव। नीतिमार्ग का अनुसरण करके अर्थ का निश्चय करना मति है। इसमें मुस्कुराहट, धैर्य, सन्तोष तथा आत्मसम्मान होता है–नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्धारणं मतिः। स्मेरता धृतिसन्तोषौ बहुमानश्च तद्भवाः।। यथा–असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः। सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।। यहाँ दुष्यन्त नीतिपूर्वक विचार करके शकुन्तला से विवाह का निश्चय करता हुआ वर्णित किया गया है। (3/170)

मदः–एक व्यभिचारीभाव। मद्य आदि के सेवन से उत्पन्न होने वाला संमोह और आनन्द का मिश्रण मद कहलाता है–संमोहानन्दसम्भेदो मदो

मद्योपयोगजः। इसके सेवन के उपरान्त उत्तम कोटि के पुरुष सो जाते हैं, मध्यम कोटि के हँसते और गाते हें तथा नीच कोटि के पुरुष कठोर वचन (गाली आदि) बोलते और रोते हैं। यथा–प्रातिभं त्रिसरकेण गतानां वक्रवाक्यरचनारमणीयः। गूढ़सूचितरहस्यसहासः सुभ्रुवां प्रववृते परिहासः।। इस पद्य में मद्यपान के अनन्तर रमणियों के हासपरिहास के प्रारम्भ होने का वर्णन है। (3/153)

मदः–नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। सौभाग्य, यौवन आदि के गर्व से उत्पन्न मनोविकार को मद कहते हैं–मदो विकारः सौभाग्ययौवनाद्यवलेपजः। यथा–मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति। अन्यापि किं न खलु भाजनमीदृशीनां वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः।। (3/123)

मध्या–स्वकीया नायिका का एक भेद। विचित्र प्रकार की रति में प्रवीण, यौवन तथा कामभाव से युक्त, प्रेमालाप में प्रगल्भ तथा जो रति में अधिक लज्जा न करे वह मध्यानामक स्वकीया नायिका होती है–मध्या विचित्रसुरता, प्ररूढ़स्मरयौवना। ईषत्प्रगल्भवचना मध्यमव्रीडिता मता।। इनमें से एक-एक गुण भी उसके मध्यात्व का आधायक है। यथा–नेत्रे खञ्जनगञ्जने सरसिजप्रत्यर्थि पाणिद्वयं, वक्षोजौ करिकुम्भविभ्रमकरीमत्युन्नतिं गच्छतः। कान्तिः काञ्चनचम्पकप्रतिनिधिर्वाणी सुधास्यन्दिनी, स्मेरेन्दीवरदाम-सोदरवपुस्तस्याः कटाक्षच्छटाः।। इस पद्य में प्ररूढ़यौवना नायिका का वर्णन है।

मान की स्थिति में मध्यानायिका के धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा के रूप में तीन भेद होते हैं। ये तीनों प्रकार की मध्या नायिकायें पति के प्रेम के आधार पर ज्येष्ठा और कनिष्ठा के रूप में दो-दो प्रकार की होती हैं। इस प्रकार मध्या नायिका के छह भेद निष्पन्न होते हैं। (3/72)

मनोरथः–एक नाट्यलक्षण। भङ्ग्यन्तर से अपना अभिप्राय प्रकट करने को मनोरथ कहते हैं–मनोरथस्त्वभिप्रायस्योक्तिर्भङ्ग्यन्तरेण यत्। यथा–रतिकेलिकलः किञ्चिदेषो मन्मथमन्थरः। पश्य सुभ्रु! समाश्वस्तां कादम्बश्चुम्बति प्रियाम्।। (6/204)

मन्त्री–राजा का सहायक। अर्थों की चिन्ता में मन्त्री राजा का सहायक होता है–मन्त्री स्यादर्थचिन्तायाम्। अर्थ से अभिप्राय है–तन्त्रावापादि। तन्त्र अर्थात् राजकृत्य, उसका आवाप अर्थात् योग्यायोग्य अनुष्ठान। मन्त्री इस कार्य में राजा की सहायता करते हैं। विशेषरूप से धीरललित नायक के राज्य का भार तो मन्त्री पर ही आयत्त होता है। (3/51)

मरणम्–एक व्यभिचारीभाव। बाण आदि के लगने से जीवन का त्याग हो जाना मरण कहलाता है। इसकी अभिव्यक्ति भूमि पर गिरने आदि अनुभावों से की जाती है–शराद्यैर्मरणं जीवत्यागोऽङ्गपतनादिकृत्। यथा–राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी। गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा।। यहाँ राम के बाण से मारी गयी ताडका का वर्णन है। धनञ्जय ने 'मरण' का लक्षण नहीं दिया क्योंकि एक तो इसके अनुभावादि प्रसिद्ध ही हैं, दूसरे, नाटक में इसका प्रदर्शन वर्जित है। (3/161)

महाकाव्यम्–सर्गबद्ध काव्यरचना। महाकाव्य का महत् विशेषण ही वस्तुतः उसकी वस्तु, नेता और शिल्पसम्बन्धी सङ्कल्पनाओं को परिभाषित करता है। काव्यशास्त्र के आचार्य प्रारम्भ से ही इसमें वर्णनीय विषयों का बड़े मनोयोग से विवेचन करते रहे हैं। विश्वनाथ के समक्ष इसकी एक लम्बी परम्परा विद्यमान थी। सबसे उत्तरवर्ती होने के कारण सा.द. का लक्षण अपेक्षाकृत अधिक व्यापकता अपने में समाहित किये हुए है। कोई ऐतिहासिक अथवा लोकप्रसिद्ध चरितों से युक्त कथानक पुरुषार्थचतुष्टय से सम्पन्न हो तथा उसी चतुर्वर्ग में से कोई एक उस कथा का फल भी होना चाहिए। इसका नायक कोई देवता अथवा कुलीन क्षत्रिय होता है जो धीरोदात्त नायक के गुणों से समन्वित हो अथवा एक ही सद्वंश में उत्पन्न अनेक राजा भी इसके नायक हो सकते हैं। इसका उदाहरण रघुवंश है। शृङ्गार, वीर अथवा शान्त में से कोई एक रस अङ्गी होता है, अन्य सभी रस गौण होते हैं। सर्गबद्धता तो महाकाव्य का पर्याय ही बन गयी है, इसका सीमानिर्धारण आचार्य विश्वनाथ ने "नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह" कहकर किया है। सर्ग में प्रायः एक ही छन्द का प्रयोग होता है तथा उसकी समाप्ति पर छन्द में परिवर्त्तन कर दिया जाता है। वहीं भावी कथावस्तु की सूचना भी

होती है। कहीं-कहीं अनेक छन्दों वाले सर्ग भी दृष्टिगत होते हैं। कथा के प्रारम्भ में नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक अथवा वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण होता है। मध्य-मध्य में कहीं दुष्टों की निन्दा तथा सज्जनों का गुणकीर्त्तन किया जाता है। इससे कथावस्तु के उद्देश्य में उदात्तता आती है। समग्र कथानक सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातः, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, सागर, सम्भोग, विप्रलम्भ, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, रण, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र आदि के साङ्गोपाङ्ग वर्णनों से यथासम्भव सम्पन्न होता है। सभी नाट्यसन्धियों का भी निर्वाह होता है। इसका नाम कवि के चरित्र, नायक अथवा किसी अन्य चरित्र के नाम से भी किया जाता है तथा सर्ग का नामकरण उसमें वर्णित कथा से किया जाता है। इसके उदाहरण रघुवंश, शिशुपालवध, नैषध तथा स्वयं कविराजविरचित राघवविलासादि हैं।

यदि यह ऋषिप्रणीत (आर्ष काव्य) हो तो सर्गों का नाम आख्यान होता है, यथा महाभारत। प्राकृत भाषा में निबद्ध होने पर सर्ग की संज्ञा आश्वास होती है तथा स्कन्धक अथवा गलितक छन्दों का प्रयोग होता है, यथा सेतुबन्ध अथवा कुवलयाश्वचरितम् में। अपभ्रंश के महाकाव्य में सर्गों की संज्ञा कडवक होती है तथा अपभ्रंशयोग्य ही छन्दों का विधान किया जाता है। इसका उदाहरण कर्णपराक्रमः है—सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः। सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः। एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा। श्रृङ्गारवीरशन्तानामेकोऽङ्गीरस इष्यते। अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः। इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद् वा सज्जनाश्रयम्। चत्वारस्तत्र वर्गाः स्युस्तेष्वेकञ्च फलं भवेत्। आदौ नमस्क्रियाऽऽशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा। क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्त्तनम्। एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः। नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह। नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते। सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्। सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः। प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः। सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः। रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः। वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह। कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा। नामास्य, सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु।। अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः।। प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन् सर्गा आश्वाससंज्ञकाः। छन्दसा

स्कन्धकेनैतत् क्वचिद्गलितकैरपि।। अपभ्रंशनिबन्धेऽस्मिन् सर्गाः कडवकाभिधाः। तथापभ्रंशयोग्यानि छन्दांसि विविधान्यपि।। (6/303-6)

महानाटकम्—दश अङ्कों से युक्त नाटक। नाटक ही जब सभी पताका-स्थानकों तथा दश अङ्कों से युक्त होता है तो उसे महानाटक कहते हैं—एतदेव यदा सर्वैः पताकास्थानकैर्युतम् । अङ्कैश्च दशभिर्धीरा महानाटकमूचिरे।। यथा—बालरामायण। (6/252)

महावाक्यम्—वाक्यों का समूह। योग्यता, आकांक्षा और आसत्तियुक्त वाक्यों का समूह महावाक्य कहलाता है—वाक्योच्चयो महावाक्यम्। इसकी सत्ता के समर्थन में आचार्य ने एक कारिका उद्धृत की है जिसमें महावाक्य की रचना पर विचार किया गया है—स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया। वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते।। अर्थात् अपने-अपने अर्थ का बोध करवाकर समाप्त हुए वाक्यों का अङ्गाङ्गिभाव से पुनः मिलकर एकवाक्यत्व निष्पन्न होता है, यही महावाक्य है। इसका उदाहरण रामायण, महाभारत, रघुवंश आदि हैं। (2/2)

माधुर्यम्—नायक का सात्त्विक गुण। क्षोभ का कारण उपस्थित होने पर भी नहीं घबराना माधुर्य कहलाता है—संक्षोभेष्वप्यनुद्वेगो माधुर्यं परिकीर्तितम्। (3/64)

माधुर्यम्—नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। सभी अवस्थाओं में रमणीयता का नाम माधुर्य है—सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्यं रमणीयता। यथा—सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं, मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति। इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी, किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।। (3/110)

माधुर्यम्—एक काव्यगुण। चित्त का द्रुतिरूप आह्लाद माधुर्य कहा जाता है—चित्तद्रवीभावो ह्लादो माधुर्यमुच्यते। माधुर्य चित्तद्रुति का कारण नहीं है क्योंकि द्रुति वास्तव में आह्लाद अथवा रसरूप ही है जो कार्य नहीं हो सकती, अतः उसका कोई कारण भी होने की सम्भावना नहीं है। यह गुण शान्त, विप्रलम्भ, करुण और सम्भोग में प्रवृद्ध रहता है। इसकी व्यञ्जक रचना टवर्ग के अभाव, पञ्चमाक्षरों से संयुक्त, लघु र् ण् से युक्त होती है। यहाँ

समास अत्यल्प अथवा प्रायः नहीं होते। यथा–अनङ्गमङ्गलभुवस्तदपाङ्गस्य भङ्ग्यः। जनयन्ति मुहुर्यूनामन्तःसन्तापसन्ततिम्।। (8/3-5)

मानः–विप्रलम्भ शृङ्गार का एक प्रकार। प्रणय में नायक, नायिका अथवा दोनों का कुपित हो जाना मान कहलाता है–मानः कोपः। यह दो प्रकार का होता है–प्रणयजन्य और ईर्ष्याजन्य। जिन उपायों से नायक कुपित नायिका को प्रसन्न करता है, वे मानभङ्ग के उपाय कहे जाते हैं। सा.द. में इस सन्दर्भ में छह उपाय बताये गये हैं–साम, भेद, दान, नति, उपेक्षा और रसान्तर। (3/204)

मार्गः–गर्भसन्धि का एक अङ्ग। यथार्थ कथन करना मार्ग कहा जाता है–तत्त्वार्थकथनं मार्गः। इसका उदाहरण च.कौ. में राजा हरिश्चन्द्र का विश्वामित्र के प्रति कहा गया यह वचन है– गृह्यतामर्जितमिदं भार्यातनयविक्रयात्। शेषस्यार्थे करिष्यामि चाण्डालेऽप्यात्मविक्रयम्।। (6/97)

माला–एक नाट्यलक्षण। अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए अनेक अर्थों का प्रतिपादन माला कहा जाता है–माला स्याद्यदभीष्टार्थं नैकार्थप्रतिपादनम्। यथा–अ.शा. में शकुन्तला के प्रसादनरूप अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए दुष्यन्त के द्वारा इस पद्य में अनेक अर्थों का प्रतिपादन किया जा रहा है–किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातैः, संवाहयामि नलिनीदलतालवृन्तैः। अङ्के निवेश्य चरणावुत पद्मताम्रौ, संवाहयामि करभोरु! यथा सुखं ते।। (6/195)

मालादीपकम्–एक अर्थालङ्कार। जब एक धर्म उत्तरोत्तर अनेक धर्मियों से सम्बद्ध होता जाये तो मालादीपक नामक अलङ्कार होता है–तन्मालादीपकं पुनः। धर्मिणामेकधर्मेण सम्बन्धो यद्यथोत्तरम्। यथा–त्वयि सङ्गरसम्प्राप्ते धनुषासादिताः शराः। शरैररिशिरस्तेन भूस्तया त्वं त्वया यशः।। यहाँ प्राप्तिनामक धर्म उत्तरोत्तर धर्मियों के साथ सम्बद्ध होता जाता है। इस पद्य में धनुष के द्वारा शर, शरों के द्वारा शत्रुओं के शिर, शिरों के द्वारा पृथ्वी, पृथ्वी के द्वारा राजा तथा राजा के द्वारा यश की प्राप्ति वर्णित है। (10/100)

मालोपमा–एक अर्थालङ्कार। जब एक उपमेय के अनेक उपमान प्रदर्शित किये जायें तो मालोपमा नामक अलङ्कार होता है–मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते। यथा–वारिजेनेव सरसी, शशिनेव निशीथिनी।

यौवनेनेव वनिता, नयेन श्रीर्मनोहरा।। इस पद्य में उपमेयभूत श्री के तीन उपमान वर्णित हैं। इसमें कहीं-कहीं उपमेय और उपमान दोनों ही प्रस्तुत होते हैं, यथा–हंसश्चन्द्र इवाभाति जलं व्योमतलं यथा। विमलाः कुमुदानीव तारकाः शरदागमे।। (10/37)

मितार्थः–दूत का एक प्रकार। जो बहुत कम, परन्तु अर्थपूर्ण बोले तथा कार्य को सिद्ध कर दे वह मितार्थ दूत होता है–मितार्थभाषी कार्यस्य सिद्धकारी मितार्थकः। (3/60)

मीलितम्–एक अर्थालङ्कार। तुल्य लक्षण वाली किसी वस्तु से अन्य वस्तु के छिप जाने पर मीलित अलङ्कार होता है–मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित्तुल्यलक्ष्मणा। ऐसी समान लक्षण वाली वस्तु कभी स्वाभाविक होती है तो कभी बाहर से आई हुई। यथा–लक्ष्मीवक्षोजकस्तूरीलक्ष्म वक्षःस्थले हरेः। ग्रस्तं नालक्षि भारत्या भासा नीलोत्पलाभया। यहाँ विष्णु की श्याम कान्ति सहज है, अतः सरस्वती तुल्य लक्षण वाली लक्ष्मी के वक्ष की कस्तूरी को नहीं पहचान पायी। दूसरे उदाहरण–सदैव शोणोपलकुण्डलस्य यस्यां मयूखैररुणीकृतानि। कोपोपरक्तान्यपि कामिनीनां मुखानि शङ्का विदधुर्न यूनाम्।। यहाँ नायिकाओं के मुख पर कुण्डलों की लालिमा बाहर से आयी हुई है अतः उनके मुख को कोप से अरुण होने पर युवक पहचान नहीं पाये। (10/115)

मुक्तकम्–गद्य का एक प्रकार। वृत्तगन्धि के अतिरिक्त गद्य के तीनों प्रकार उसमें समास की स्थिति के आधार पर कल्पित किये गये हैं। इनमें से मुक्तक सर्वथा समासरहित गद्य की संज्ञा है–आद्यं (मुक्तकम्) समासरहितम्। वैसे संस्कृत जैसी श्लिष्ट भाषा में सर्वथा समासराहित्य की सम्भावना अत्यल्प ही है, इसीलिए अ.पु. में चूर्ण, उत्कलिका और वृत्तगन्धि रूप तीन ही प्रकार का गद्य माना गया है। इसका उदाहरण आचार्य विश्वनाथ ने यह दिया है–गुरुर्वचसि पृथुरुरसि। (6/310)

मुक्तकम्–अर्थ की दृष्टि से निरपेक्ष पद्य। कोई पद्य यदि अर्थ की दृष्टि से दूसरे पद्य से सर्वथा निरपेक्ष हो तो वह मुक्तक कहा जाता है–तेन मुक्तेन मुक्तकम् (तेनैकेन च मुक्तकम्)। अ.पु. में इसके स्वरूप के विषय

में कहा गया है कि–मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्। इसका उदाहरण आचार्य विश्वनाथ ने यह स्वरचित पद्य–सान्द्रानन्दमनन्तमव्ययमजं यद्योगिनोऽपि क्षणं, साक्षात्कर्त्तुमुपासते प्रतिमुहुर्ध्यानैकतानाः परम्। धन्यास्तां मथुरापुरीयुवतयस्तद्ब्रह्म याः कौतुकादालिङ्गन्ति समालपन्ति शतधा कर्षन्ति चुम्बन्ति च।। दिया है। (6/302)

मुखम्–सन्धि का प्रथम भेद। जहाँ अनेक अर्थों तथा रसों को सम्भावित करने वाले बीज की प्रारम्भ नामक कार्यावस्था से संयुक्त होकर उत्पत्ति प्रदर्शित की जाती है वहाँ मुखनामक सन्धि होती है। इसका उदाहरण र.ना. का प्रथमाङ्क है। इसके बारह अङ्ग हैं–उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन, युक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्भेद, करण और भेद। कुछ आचार्यों का यह मत है कि इनमें से उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति, उद्भेद और समाधान मुख्य हैं। अन्य सन्धियों का प्रयोग यथासम्भव किया जाना चाहिए। (6/63)

मुग्धा–स्वकीया नायिका का एक भेद। जिस नायिका में नवीन यौवन का सञ्चार हो रहा हो, कामदेव के विकार प्रकट हो रहे हों, रति में सङ्कोचशील हो, मान में चिरस्थायी न हो तथा अत्यन्त लज्जा से युक्त हो, वह मुग्धा कहलाती है। इनमें से किसी एक गुण के होने पर भी वह मुग्धा कही जाती है–प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा। कथिता मृदुश्च माने समधिक-लज्जावती मुग्धा।। यथा–दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमाभाषिता, शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति बलादालिङ्गिता वेपते। निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते, जाता वामतयैव सम्प्रति मम प्रीत्यै नवोढ़ा प्रिया।। इस पद्य में रति में सङ्कोचशील मुग्धा नायिका का वर्णन है। (3/71)

मूढ़ता–शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

मूर्च्छा–प्रवासविप्रलम्भ में काम की दसवीं दशा। वियोगिनी नायिका का संज्ञाहीन हो जाना मूर्च्छा कही जाती है।

मृतिः– प्रवासविप्रलम्भ में काम की अन्तिम दशा। मृति का अर्थ है–मत्यु। काव्य में इसका वर्णन निषिद्ध है। (3/211)

मृत्युः–काम की अन्तिम दशा। मरण का अर्थ मृत्यु होता है परन्तु

काव्य में इसका वर्णन वर्जित है क्योंकि इससे रस विच्छिन्न हो जाता है रसाविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते। परन्तु मृत्युतुल्य दशा का वर्णन किया जा सकता है। यदि मृत्यु आकांक्षित हो तो उसका वर्णन कर देना चाहिए और यदि मृत्यु के पश्चात् पुनर्जीवित होना हो तो भी उसके वर्णन में कोई दोष नहीं। (3/195, 98)

मृदवम्–एक वीथ्यङ्ग। जहाँ दोष गुण हो जायें अथवा गुण दोष हो जायें वहाँ मृदव नामक वीथ्यङ्ग होता है–दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं हि तत्। यथा, प्रियजीवितता क्रौर्यं निःस्नेहत्वं कृतघ्नता। भूयस्त्वद्दर्शनादेव ममैते गुणतां गताः।। यहाँ वियोग में प्राण न त्यागने के कारण उत्पन्न जीवनप्रियता आदि दोष प्रिय के पुनर्दर्शन हो जाने के कारण गुण हो गये हैं तथा–तस्यास्तद्रूपसौन्दर्यं भूषितं योवनश्रिया। सुखैकायतनं जातं दुःखायैव ममाधुना।। इस पद्य में रूप सौन्दर्यादिगुण विरह में सन्तापकारी होने से दोष हो गये हैं। (6/275)

मोट्टायितम्–नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। प्रिय की चर्चा होने पर हृदय के अनुराग से व्याप्त हो जाने, कान खुजाने आदि की क्रियायें मोट्टायित कही जाती हैं–तद्भावभाविते चित्ते वल्लभस्य कथादिषु। मोट्टायितमिति प्राहुः कर्णकण्डूयनादिकम्।। यथा–सुभग त्वत्कथारम्भे कर्णकण्डूतिलालसा। उज्जृम्भवदनाम्भोजा भिनत्त्यङ्गानि साङ्गना।। (3/119)

मोहः–एक व्यभिचारीभाव। भय, दुःख, आवेग तथा चिन्ता आदि के कारण चित्त का अस्तव्यस्त हो जाना मोह है। इसमें मूर्च्छा, अज्ञान, पतन, चक्कर आ जाना तथा कुछ दिखाई न देना आदि होता है–मोहो विचित्तता भीतिदुखावेगानुचिन्तनैः। मूर्च्छनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत्।। यथा–तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम्। अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्त्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव।। यहाँ दुःखजन्य मोह से रति की मूर्च्छा वर्णित है। (3/156)

मौग्ध्यम्–नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। ज्ञात वस्तु का भी अनजाने भाव से प्रिय से पूछना मौग्ध्य कहलाता है–अज्ञानादिव या पृच्छा प्रतीतस्यापि वस्तुनः। वल्लभस्य पुरः प्रोक्तं मौग्ध्यं तत्तत्त्ववेदिभिः।। यथा–के द्रुमास्ते क्व

वा ग्रामे सन्ति केन प्रोपिताः। नाथ! मत्कङ्कणन्यस्तं येषां मुक्ताफलं फलम्।। (3/126)

यत्नः–कार्य की द्वितीय अवस्था। फल की सिद्धि के लिए नायकादि का अत्यन्त त्वरायुक्त व्यापार कार्य की यत्न नामक अवस्था है–प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारोऽस्ति त्वरान्वितः। यथा र.ना. में "तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा तथाऽऽलिख्य यथासमीहितं करिष्यामि" इस उक्ति के द्वारा रत्नावली का चित्रलेखन अथवा रामचरित में समुद्रलङ्घनादि की घटनायें कार्यसिद्धि के लिए किये गये अत्यन्त त्वरायुक्त व्यापार हैं। (6/56)

यथासङ्ख्यम्–एक अर्थालङ्कार। उद्दिष्ट पदार्थों का पुनः उसी क्रम से कथन करना यथासङ्ख्य कहलाता है–यथासङ्ख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत्। यथा–उन्मीलन्ति नखैर्लुनीहि वहति क्षौमाञ्चलेनावृणु, क्रीडाकाननमाविशन्ति वलयक्वाणैः समुत्त्रासय। इत्त्थं वञ्जुलदक्षिणानिलकुहू-कण्ठेषु साङ्केतिकव्याहाराः सुभग त्वदीयविरहे तस्याः सखीनां मिथः।। इस पद्य में उन्मीलन्ति, वहति तथा आविशन्ति इन तीन क्रियाओं के साथ क्रमशः वञ्जुल, दक्षिणानिल तथा कुहूकण्ठ का कर्तृत्वेन सम्बन्ध है। (10/103)

यमकम्–एक शब्दालङ्कार। अर्थ होने पर भिन्न अर्थवाले स्वर-व्यञ्जनसमूह की उसी क्रम में आवृत्ति यमक कही जाती है–सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः। क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते।। यहाँ आवृत्त दोनों पद कभी तो सार्थक होते हैं, कभी निरर्थक और कभी उनमें से एक सार्थक होता है। सा.द.कार ने इसके पादावृत्ति, पदावृत्ति, अर्धावृत्ति, श्लोकावृत्ति आदि अनेक भेदप्रभेदों की ओर सङ्केत किया है परन्तु उनका विस्तार से विवेचन नहीं किया, जैसा कि दण्डी आदि आचार्य करते रहे हैं। उदाहरण के रूप में जिस श्लोक को उद्धृत किया गया है उसमें पदों की आवृत्ति हुई है–नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्। मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत्स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः।। यहाँ 'पलाशपलाश' तथा 'सुरभिं सुरभिं' में दोनों पद सार्थक हैं परन्तु 'पराग पराग' में द्वितीय तथा 'लतान्तलतान्त' में प्रथम पद निरर्थक है। यमकादि के सन्दर्भ में 'ड-ल', 'ब-व' तथा 'ल-र' आदि वर्ण परस्पर अभिन्न समझे जाते हैं, अतः 'भुजलतां जडतामबलाजनः' आदि में भी यमकत्व अक्षुण्ण रहता है। (10/10)

याच्ञा—एक नाट्यालङ्कार। स्वयम् अथवा दूत के माध्यम से कुछ माँगने को याच्ञा कहते हैं—याच्ञा तु क्वापि याच्ञा या स्वयं दूतमुखेन वा। यथा, अङ्गद के माध्यम से राम का रावण से वैदेही को माँगना—अद्यापि देहि वैदेहीं दयालुस्त्वयि राघवः। शिरोभिः कन्दुकक्रीडां किं कारयसि वानरान्।। (6/233)

युक्तिः—मुखसन्धि का एक अङ्ग। अर्थों का निर्धारण युक्ति कहा जाता है—सम्प्रधारणमर्थानां युक्तिः। यथा वे.सं. में सहदेव और भीम का संवाद। यहाँ भीम के "युष्मान्ह्रेपयति क्रोधाल्लोके शत्रुकुलक्षयः। न लज्जयति दाराणां सभायां केशकर्षणम्।। इस कथन से ऐसा सूचित होता है कि जैसे उसने मानो अपने कर्त्तव्य का निर्धारण कर लिया है। (6/73)

युक्तिः—एक नाट्यालङ्कार। वस्तु के निश्चय को युक्ति कहते हैं—युक्तिरर्थावधारणम्। यथा वे.सं. के इस पद्य में युद्ध में प्रवृत्तिरूप अर्थ का निश्चय है—यदि समरमपास्य नास्ति मृत्योर्भयमिति युक्तमतोऽन्यतः प्रयातुम्। अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः किमिति मुधा मलिनं यशः कुरुध्वम्।। (6/238)

युग्मकम्—दो श्लोकों का वाक्य। दो श्लोकों में यदि वाक्यपूर्ति हो तो उसे युग्मक की संज्ञा दी जाती है—द्वाभ्यां तु युग्मकम्।। (6/302)

युद्धवीरः—वीररस का एक प्रकार। उत्साहनामक स्थायीभाव जहाँ शत्रु पर विजय की इच्छा से प्रवृत्त हुआ हो, वहाँ युद्धवीर रस होता है। यथा—भो लङ्केश्वर दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते, कोऽयं ते मतिविभ्रमः स्मर नयं नाद्यापि किञ्चिद्गतम्। नैवं चेत्खरदूषणत्रिशिरसां कण्ठासृजा पङ्किलः, पत्री नैव सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः।। रावण के प्रति कही गयी इस उक्ति में रावण आलम्बन, उसका मतिविभ्रम, नीति को भूल जाना, सीताहरण आदि उद्दीपन, बाणसन्धान आदि अनुभाव तथा स्मृति, गर्व आदि व्यभिचारीभावों से युद्धवीर नामक रस परिपुष्ट हुआ है।

रतिः—शृङ्गाररस का स्थायीभाव। अनुकूल पदार्थ में मन का उन्मुख होना रति कहा जाता है। शृङ्गार के स्थायीभाव के रूप में यह प्रेम नामक वह चित्तवृत्ति है जिसका आलम्बन नायक अथवा नायिका होते हैं क्योंकि

यही भाव मनुष्यमात्र के लिए सर्वाधिक काम्य होता है–रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्। 'रतिर्देवादिविषया' आदि स्थलों में रति शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है परन्तु उसे लाक्षणिक ही समझना चाहिए। (3/186)

रशनोपमा–एक अर्थालङ्कार। जहाँ उपमेय को उत्तरोत्तर उपमान के रूप में वर्णित किया जाये...कथिता रशनोपमा। यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता। यथा–चन्द्रायते शुक्लरुचापि हंसो, हंसायते चारुगतेन कान्ता। कान्तायते स्पर्शसुखेन वारि, वारीयते स्वच्छतया विहायः।। यहाँ प्रथम चरण का उपमेय हंस द्वितीय चरण में उपमान है, द्वितीय चरण का उपमेय कान्ता तृतीय चरण का उपमान है तथा तृतीय चरण का उपमेय वारि चतुर्थ चरण में उपमान है। (10/36)

रसः–काव्य का आत्मतत्त्व। सहृदयों के हृदय में स्थित रत्यादि स्थायीभाव ही विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के द्वारा व्यक्त होकर रस कहे जाते हैं–विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा। रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्।। इस लक्षणवाक्य में सात्त्विकों का कथन नहीं किया गया क्योंकि वे वस्तुतः अनुभावरूप ही होते हैं। अनेक प्राचीन आचार्य गोबलीवर्दन्याय से इनका पृथक् उल्लेख कर दिया करते थे। दूसरे, रत्यादि स्थायीभाव ही हैं तथापि स्थायीभाव शब्द का पुनः प्रयोग इसलिए किया गया है कि ये रत्यादि रसान्तरों में प्रयुक्त होने पर कभी-कभी व्यभिचारीभाव भी बन जाते हैं। उस स्थिति में यदि ये कभी प्रधान भी हो जायेंगे तो भाव ही कहे जायेंगे। इनकी रस के रूप में परिणति तभी हो सकती है जब ये चित्त की स्थायी वृत्तियाँ हों। विभावानुभावव्यभिचारी में से एक अथवा दो के उपनिबद्ध होने पर भी कभी-कभी प्रकरणादि के अनुसार शेष का आक्षेप हो जाता है, अतः रसानुभूति बाधित नहीं होती–सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत्। झटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते।। लक्षणवाक्य में प्रयुक्त 'व्यक्त' पद का अभिप्राय है–दधि आदि के रूप में रूपान्तरित। दीपक से घटादि के समान रसों की अभिव्यक्ति नहीं होती। लोचनकार अभिनवगुप्त ने इस तथ्य को इस प्रकार कहा है कि–रसाः प्रतीयन्ते इति त्वोदनं पचतीतिवद्व्यवहारः। जिस प्रकार भाविनी संज्ञा का आश्रयण

कर तण्डुल को ओदन कह देते हैं, उसी प्रकार स्थायीभाव को भी उपचार से रस कह दिया जाता है।

यह रस अखण्ड, स्वप्रकाशानन्दचिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वाद-सहोदर तथा लोकोत्तरचमत्कारप्राण होता है--सत्त्वोद्रेकादखण्डस्व-प्रकाशानन्दचिन्मयः। वेद्यान्तरस्पर्शशून्यः, ब्रह्मास्वादसहोदरः। लोकोत्तर-चमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः। स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।।

विभावादि अनेक पदार्थ रस के अन्तर्गत आते हैं। प्रथम अवस्था में इनकी भिन्न-भिन्न प्रतीति भी होती है परन्तु ये क्रमशः एकाकार होकर रस के रूप में परिणत हो जाते हैं—विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः। प्रतीयमानाः प्रथमं खण्डशो यान्त्यखण्डताम्।। जिस प्रकार प्रपानक में खाण्ड, मरिच आदि मिलकर एक आस्वादात्मक रूप में परिणत हो जाते हैं, उसी प्रकार विभावादि की परिणति रस के रूप में होती है। अपि च, रस यद्यपि आत्मस्वरूप है तथापि ज्ञान में प्रतिभासित रत्यादि के साथ अभिन्न रूप में गृहीत होता है, अतः यह वेदान्तसम्मत ब्रह्मतत्त्व के समान अखण्ड है।

रस रत्यादिज्ञानस्वरूप ही है, अतः ज्ञान जिस प्रकार स्वप्रकाश होता है, उसी प्रकार वेदान्त की सरणि में रस भी स्वप्रकाश है। नैयायिक ज्ञान को स्वप्रकाश नहीं मानते। वहाँ ज्ञानग्रहण के हेतु के रूप में 'अनुव्यवसाय' की परिकल्पना है परन्तु ऐसा मानने पर अनवस्था दोष आपतित होता है क्योंकि अनुव्यवसाय के ज्ञान के लिए पुनः अनुव्यवसाय और इस प्रकार इसकी एक अनन्त परम्परा प्रारम्भ हो जाती है। ज्ञान और आनन्द अभिन्न ही हैं। इस प्रकार रस का स्वरूप स्वप्रकाशानन्दरूप चित् से अभिन्न सिद्ध होता है। मयट् प्रत्यय स्वरूपार्थक है।

रसास्वाद के समय अन्य वेद्य विषय का स्पर्श तक नहीं होता, अतएव यह आनन्द ब्रह्मास्वाद के समान होता है। ब्रह्मास्वाद से यहाँ सवितर्क समाधि का ग्रहण होता है क्योंकि सवितर्क समाधि में जिस प्रकार आनन्द, अस्मिता आदि आलम्बन रहते हैं, रसास्वाद में विभावादि आलम्बन रहते हैं। निर्वितर्क समाधि तो हर प्रकार के विकल्प से शून्य होती है।

रस का प्राणतत्त्व अलौकिक चमत्कार है। चमत्कार से अभिप्राय चित्त

की वह विस्तारात्मिका वृत्ति है जिसे विस्मय रूप कहा जा सकता है। चमत्कार का साररूप होने के कारण सर्वत्र अद्भुत रस ही प्रतीत होता है, अतएव नारायण पण्डित अद्भुत को ही एकमात्र रस मानते हैं—रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते। तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः। तस्माद्द्भुतमेवाह कृती नारायणो रसः।

इस प्रकार के आस्वादनात्मक रस का अनुभव कुछ सहृदय प्रमाता ही कर पाते हैं जो प्राक्तन वासना से युक्त होते हैं—पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससन्ततिम्। महाकवियों के द्वारा निबद्ध अलौकिक काव्यार्थ का परिशीलन करके उनके अन्तंःकरण में रजस् और तमस् को दबाकर सत्त्वगुण का आविर्भाव हो जाता है। इस प्रकार के अन्तःकरण वाला व्यक्ति ही लौकिक रागद्वेष से मुक्त होकर अलौकिक आनन्द का अनुभव करने में समर्थ होता है।

आत्मा से भिन्न होने पर भी जैसे शरीरादि का उससे अभिन्न रूप में बोध होता है उसी प्रकार रस यद्यपि आस्वादरूप ही है तथापि 'रसःस्वाद्यते' आदि प्रयोगों में रस को भिन्न कल्पित करके माना हुआ समझना चाहिए अथवा इन्हें कर्मकर्त्ता का प्रयोग समझा जाना चाहिए अर्थात् इस प्रकार के वाक्य में रस ही कर्त्ता और कर्म दोनों ही है, तद्यथा—रसःस्वयमेवास्वाद्यते। इसी बात को कहने के लिए कारिका में 'स्वाकारवदभिन्न' पद का प्रयोग किया गया है।

रस का स्वरूप एकान्त आनन्दमय है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण सहृदयों का अनुभव है। करुण, बीभत्स और भयानक आदि दुःखात्मक होते तो किसी सहृदय की प्रवृत्ति उनमें न होती। कोई भी सचेतन व्यक्ति दुःख की ओर उन्मुख नहीं होता। और फिर रामायण आदि को करुण रस प्रधान काव्य माना जाता है। यदि करुण रस दुःखात्मक हो तो ये भी दुःख के कारण हो जायेंगे। वनवासादि लोक में दुःख के कारण कहे जाते हैं परन्तु काव्य में वर्णित होकर ये अलौकिक संज्ञा 'विभाव' को प्राप्त करते हैं। दुःख के कारणों से दुःख का उत्पन्न होना लोक का ही नियम है, अलौकिक काव्य में तो सभी विभावादिकों से उसी प्रकार सुख ही उत्पन्न होता है, जैसे सुरत

में दन्ताघात, नखक्षत आदि आनन्द के कारण होते हैं। हरिश्चन्द्र आदि के करुण वर्णनों को पढ़कर अथवा देखकर चित्त द्रुत हो जाता है, अतएव अश्रुपातादि भी देखे जाते हैं। चित्त का यह द्रुतिभाव केवल दुःख ही नहीं, आनन्द के उद्रेक में भी होता है। जो इस जन्म तथा पूर्वजन्म की वासना से युक्त होते हैं, वे ही रस का आस्वाद कर पाते हैं–सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्। निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसंनिभाः।।

रस सहृदय के हृदय में स्थायी रूप से स्थित भाव की अभिव्यक्ति है, अतः इसे अनुकार्य (रामादि) गत अथवा अनुकर्तृ (नटादि) गत नहीं माना जा सकता। रस को अनुकार्यगत न मानने के तीन कारण हैं–(1) सीतादि के दर्शन से उत्पन्न होने वाली रामादि की रति केवल उन्हीं में उद्बुद्ध होने के कारण परिमित होती है जबकि रस अनेक सहृदयों के द्वारा एक ही समय में समान रूप से अनुभव किया जाता है। (2) रामादिनिष्ठ रति लौकिक होती है जबकि रस अलौकिक है। (3) रामादिगत रति नाट्यादि में प्रदर्शन के योग्य नहीं होती क्योंकि अन्यगत रति सहृदयों के द्वारा सर्वथा अरस्य होती है जबकि रस में तो उसका अनुभव ही किया जाता है–पारिमित्याल्लौकिकत्वात्सान्तरायतया तथा अनुकार्यस्य रत्यादेरुद्बोधो न रसो भवेत्।। अनुकर्त्ता नटादि तो अभिनय की शिक्षा तथा अभ्यासादि के कारण रामादि के रूप का अभिनयमात्र करता हैं, अतः उसमें तो रस की स्थिति नहीं ही हो सकती। हाँ, काव्यार्थ की भावना के कारण सहृदयों के मध्य उसकी गणना अवश्य हो सकती है–शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः सरूपताम्। दर्शयन्नर्त्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत्। काव्यार्थभावनेनायमपि सभ्यपदास्पदम्।

अलौकिक विभावादि से उत्पन्न होने वाला यह रस भी अलौकिक ही है क्योंकि न तो यह ज्ञाप्य है, न कार्य। न नित्य है, न भावी अथवा वर्त्तमान। न निर्विकल्प ज्ञान का विषय है न सविकल्पसंवेद्य। रस का ज्ञान न परोक्ष है, न अपरोक्ष। रस ज्ञाप्य नहीं है क्योंकि घटादि ज्ञाप्य पदार्थ कभी-कभी विद्यमान होते हुए भी आवृत आदि होने के कारण प्रतीति का विषय नहीं बनते जबकि रस की सत्ता ही उसके अनुभवगम्य होने में है।

रस में कार्यत्व भी उपपन्न नहीं होता क्योंकि इसे कार्य मानने पर विभावादि ही इसके कारण हो सकते हैं परन्तु उन पर कारण का कार्यपूर्ववर्तित्वरूप लक्षण घटित नहीं होता। विभावादि का ज्ञान रसानुभूति के युगपत् ही होता है। वास्तव में रस की प्रतीति विभावादिसमूहालम्बनात्मक रूप में ही होती है। अतः न तो विभावादि में कारणत्व निष्पन्न होता है, न रस में कार्यत्व। विभावादि के ज्ञान से पूर्व रस का संवेदन ही नहीं होता, अतः उस स्थिति में रस की सत्ता ही नहीं होती। इस प्रकार आत्मादि के समान वह नित्य नहीं है। रस भावी नहीं है क्योंकि वर्त्तमान में उसकी साक्षात् आनन्दात्मक अनुभूति होती है तथा वर्त्तमान भी नहीं है क्योंकि वर्त्तमान पदार्थ या तो कार्यरूप हो सकते हैं अथवा ज्ञाप्य। निर्विकल्पक ज्ञान में किसी सम्बन्ध का भान नहीं होता तथा यह निष्प्रकारक होता है परन्तु रस विभावादि से साक्षात् सम्बद्ध भी है तथा आनन्दमयता इसका एक विशिष्ट प्रकार भी है, अतः यह निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं बनता परन्तु सविकल्प ज्ञान के विषयभूत घटपटादि पदार्थों के समान इसमें शब्दवाच्यत्व भी नहीं है पुनरपि वह काव्यगत शब्दों से उत्पन्न होता ही है, अतः अपरोक्ष (जो परोक्ष से भी परे है) भी नहीं है परन्तु उसका साक्षात्कार होता है, अतः वह परोक्ष भी नहीं है। इस प्रकार यह समस्त लौकिक पदार्थों से सर्वथा विलक्षण कोई अनिर्वचनीय ही तत्त्व है। इसके अस्तित्व में प्रमाण सहृदयों की चर्वणा ही है—प्रमाणं चर्वणैवात्र। (3/1–31)

रसना—कुछ आचार्यों द्वारा मान्य एक वृत्ति। कुछ आचार्य रस की अभिव्यक्ति के लिए रसना नाम की एक पाँचवीं वृत्ति को भी स्वीकार करते हैं—रसव्यक्तौ पुनर्वृत्तिं रसनाख्यां परे विदुः।

रसवत्—एक अर्थालङ्कार। रस जब किसी अन्य का अङ्ग बनकर उपस्थित हो तो रसवत् अलङ्कार होता है। यथा—अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः। नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः।। इस पद्य में शृङ्गार रस करुण का अङ्ग है, अतः रसवत् अलङ्कार है।

रसवदादि को अलङ्कार माना जाये या नहीं, इस सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ ने पूर्वपक्ष के रूप में तीन अलग-अलग सिद्धान्तों को मानने वाले आचार्यों का मत उद्धृत किया है—(1)कुछ आचार्यों का मत है कि अलङ्कार

वही होते हें जो शब्दार्थ की शोभा बढ़ाते हुए रसादि का उपकार करते हैं परन्तु रसभावादि तो शब्दार्थ के उपकार्य हैं, अत: उन पर तो अलङ्कार का लक्षण ही घटित नहीं होता। (2) अङ्गभूत रसादि भी प्रधान रसादि के उपकारक होते ही हैं, हाँ शब्दार्थ का उपकार वे अवश्य नहीं कर पाते। अत: प्राचीन आचार्यों के द्वारा मान्य होने के कारण उन्हें अलङ्कार अवश्य मानना चाहिए। अत: इनके सम्बन्ध में अलङ्कार पद के प्रयोग को लाक्षणिक माना जा सकता है। (3) आचार्यों का एक वर्ग केवल रसादि का उपकार करने वाले तत्त्वों को ही अलङ्कार मानता है, अत: प्रधान रूप से तो रसवदादिक ही अलङ्कार हैं। रूपकादि तो अर्थादि के उपकारक होते हें और उनके माध्यम से परम्परया रस का भी उपकार करते हैं। इसलिए रूपकादि तो अजागलस्तनन्याय से ही अलङ्कार हैं। इनमें ही अलङ्कार पद का प्रयोग लाक्षणिक है। इसके अनन्तर आचार्य विश्वनाथ ने प्रामाणिक आचार्यों के मत के रूप में अपनी ओर से निर्णय प्रस्तुत किया है। ये रसवदादि अपने व्यञ्जक शब्दार्थों से उपकृत होकर प्रधान रस के व्यञ्जक शब्दार्थों के द्वारा ही उसका उपकार करते हैं। यदि केवल रसादि का उपकार करने के कारण अलङ्कारत्व मानें तो शब्दार्थ में भी अलङ्कारत्व उपस्थित हो जायेगा। इससे उन आचार्यों का मत भी निरस्त हो जाता है जो रसादि की प्रधानता में रसवदादि अलङ्कार मानते हैं तथा उनकी अप्रधानता में उदात्त अलङ्कार क्योंकि वस्तुस्थिति यह है कि रसादि की प्रधानता में रसादिध्वनि तथा उनकी अप्रधानता में रसवदादि अलङ्कार होते हैं। उदात्त का तो फिर विषय ही नहीं बचता। (10/124)

रसविरोध:–रसों का परस्पर विरोध। विरोधी रस के विभावानुभावादिकों का वर्णन करना रस सम्बन्धी दोष माना गया है। इस दृष्टि से विभिन्न रसों के विरोधी रस इस प्रकार हैं–

शृङ्गार	–	करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर, भयानक।
हास्य	–	भयानक, करुण।
करुण	–	हास्य, शृङ्गार।
रौद्र	–	हास्य, शृङ्गार, भयानक।

वीर	–	भयानक, शान्त।
भयानक	–	शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य, शान्त।
शान्त	–	वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य, भयानक।
बीभत्स	–	शृङ्गार।

परन्तु विरोधी रसों के सञ्चारीभावों का यदि बाध्य के रूप में वर्णन कर दिया जाये अथवा विरोधी रस का स्मरण के रूप में या साम्य प्रतिपादन के लिए कथन किया जाये तो भी यह दोष नहीं होता। इन विरोधी रसों में किसी एक को दूसरे का अङ्ग बना देने पर भी वह दोष नहीं होता। (3/236)

रसादिः—रसादि में रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता तथा भावशान्ति इन आठ का ग्रहण किया जाता है। आस्वादनीयता रूप समान धर्म के कारण ये सभी रस कहे जाते हैं तथा काव्यात्मपद पर प्रतिष्ठित हैं– रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ। सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः।। (3/238)

रसान्तरम्—नायिका का मानभङ्ग करने का एक उपाय। घबराहट, भय, हर्षादि के कारण स्वतः ही मान भङ्ग हो जाना रसान्तर कहलाता है—रभसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम्। (3/209)

रसाभासः—अनौचित्यप्रवृत्त रस। रस यदि अनौचित्य से प्रवृत्त हुआ हो तो उसे रसाभास कहते हैं—अनौचित्यप्रवृत्तस्य आभासो रसभावयोः। अनौचित्य से यहाँ अभिप्राय है—भरतादि के द्वारा प्रोक्त रसभाव के लक्षणों का पूर्णरूप से प्रवृत्त न होना अर्थात् विभावादि की न्यूनता के कारण यदि वे रस के एक अंश से ही सम्बन्धित हों। उदाहरणार्थ नायक के अतिरिक्त किसी अन्य में यदि नायिका का अनुराग हो, मुनि अथवा गुरुपत्नी में किसी पुरुष का राग हो, अनेक पुरुषों में यदि नायिका अनुरक्त हो, प्रतिनायक में अनुरक्त हो अथवा किसी नीच पात्र में नायिका की रति वर्णित हो तो यह शृङ्गार में अनौचित्य होता है। कोप का आलम्बन यदि गुरु आदि हों तो रौद्र रस में अनौचित्य होता है। नीचपुरुष में स्थित होने पर शान्त में, गुरु आदि यदि आलम्बन हों तो हास्य में, ब्राह्मणवध आदि दुष्ट कर्म में अथवा नीच पात्र में उत्साह होने पर वीररस में तथा भय के उत्तम पात्र में स्थित होने पर

भयानक में रसाभास होता है। यथा–स्वामी मुग्धतरो वनं घनमिदं बालाऽहमेकाकिनी, क्षोणीमावृणुते तमालमलिनच्छायातमः संहतिः। तन्मे सुन्दर! मुञ्च कृष्ण! सहसा वर्त्मेति गोप्या गिरः, श्रुत्वा तां परिरभ्य मन्मथकलासक्तो हरिः पातु वः।। इस पद्य में उपनायकविषया रति होने के कारण रसाभास है। (3/241, 42)

रासकम्–उपरूपक का एक भेद। यह एकाङ्की रचना है जिसमें मुख और निर्वहण सन्धियों का प्रयोग होता है। कुछ आचार्यों के अनुसार यहाँ प्रतिमुख सन्धि का भी प्रयोग होना चाहिए। इसमें कुल पाँच पात्र होते हैं, अनेक भाषाविभाषाओं का प्रयोग होता है, भारती और कैशिकी वृत्तियाँ होती हैं, सभी वीथ्यङ्गों और कलाओं से युक्त होता है, सूत्रधार का प्रयोग नहीं होता तथा नान्दी श्लिष्ट होती है। इसमें नायिका प्रसिद्ध तथा नायक मूर्ख होता है तथा यह उत्तरोत्तर उदात्त भावों के विन्यास से युक्त होता है–रासकं पञ्चपात्रं स्यान्मुखनिर्वहणान्वितम्। भाषाविभाषाभूयिष्ठं भारतीकैशिकी-युतम्। असूत्रधारमेकाङ्कं सवीथ्यङ्ककलान्वितम्। श्लिष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकं मूर्खनायकम्। उदात्तभावविन्याससंश्रितं चोत्तरोत्तरम्। इह प्रतिमुखं सन्धिमपि केचित्प्रचक्षते।। इसका उदाहरण मेनकाहितम् है। (6/291)

रीतिः–काव्य का एक तत्त्व। काव्य के अङ्गसंस्थान के समान पदों का सङ्गठन रीति है। यह रसादि का उपकार करती हुई काव्य में उत्कर्ष का आधान करती है–पदसङ्घटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्। रसादि का यह उपकार उनकी प्रकृति के अनुकूल वर्णों के प्रयोग से हो सकता है परन्तु कभी-कभी वक्ता, अर्थ, नाटक, आख्यायिकादि रचनाभेद से इस व्यवस्था में व्यतिक्रम भी हो सकता है। यथा--भीमसेनादि उद्धत पात्र हर्ष की मनःस्थिति में भी ओजःपूर्ण पदों का प्रयोग करते हैं। नाटकादि में रौद्ररस का प्रसङ्ग होने पर भी तदनुरूप दीर्घसमासा रचना को अभिनय के प्रतिकूल होने के कारण प्रयुक्त नहीं किया जाता। आख्यायिकादि में नायक कथा का प्रवक्ता होता है, अतः शृङ्गारादि के प्रसङ्गों में भी कोमलबन्ध कम ही लिखे जाते हैं। इसी प्रकार कथा में वक्ता कोई अन्य होता है, अतः रौद्रादि रसों में उद्धत रचना नहीं की जाती। इत्यादि।

रीति चार प्रकार की है–वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी। एक प्रसिद्ध पद्य में इनका स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया गया है–गौडी डम्बरबद्धा स्याद्वैदर्भी ललितक्रमा। पाञ्चाली मिश्रभावेन, लाटी तु मृदुभिः पदैः।। (9/1, 2)

रूढ़िलक्षणा–लक्षणा का एक भेद। रूढ़ि का अर्थ है–प्रसिद्धि। जहाँ रूढ़ि अर्थात् लोकप्रसिद्धि के कारण मुख्यार्थ का बाध होकर उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ का ग्रहण किया जाये वहाँ रूढ़िलक्षणा होगी। इसका उदाहरण 'कलिङ्गः साहसिकः' है। इस वाक्य में कलिङ्ग शब्द का देशविशेष रूप स्वार्थ में अन्वय सम्भव न हो पाने के कारण उससे सम्बद्ध स्वसंयुक्त पुरुष के रूप में अर्थबोध हो रहा है, अतः इसका अर्थ हुआ–कलिङ्गवास्तव्याः पुरुषाः साहसिकाः। मम्मट ने रूढ़िलक्षणा का उदाहरण 'कर्मणि कुशलः' दिया है। 'कुशाँल्लातीति' इस व्युत्पत्ति से कुशग्राहिरूप मुख्यार्थ का प्रकृत स्थल में अन्वय न हो पाने के कारण वह विवेचकत्वादिसाधर्म्यसम्बन्ध से अपने सम्बन्धी 'दक्ष' इस अर्थ का लक्षणा से बोध कराता है परन्तु विश्वनाथादि आचार्यों का मत है कि कुशग्राहिरूप अर्थ के ही व्युत्पत्तिलभ्य होने पर भी यहाँ मुख्यार्थ 'दक्ष' ही है। शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य और प्रवृत्तिलभ्य अर्थ अलग-अलग ही होता है। प्रकृत स्थल में कुशग्राहिरूप अर्थ व्युत्पत्तिलभ्य है तथा दक्ष रूप अर्थ प्रवृत्तिलभ्य है। ये दोनों ही अर्थ मुख्य हैं। केवल व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को ही यदि मुख्यार्थ मानें तो 'गौः शेते' में भी लक्षणा हो जायेगी क्योंकि 'गमेर्डो' इस उणादि सूत्र से √गम् से डो प्रत्यय होकर गो शब्द निष्पन्न हुआ है जो गमनशील पशुविशेष के अर्थ में ही प्रयुक्त हो सकता है अतएव शयनकाल में उसे गो नहीं कहा जा सकता परन्तु सास्नादिमान् पशुविशेष गो का प्रवृत्तिलभ्य अर्थ है और यही मुख्यार्थ भी है।

रूढ़िलक्षणा के दो भेद लक्षणलक्षणा और उपादानलक्षणा हैं जो सारोपा और साध्यवसाना के भेद से दो-दो प्रकार के होकर चार हो जाते हैं। ये चारों भेद शुद्धा और गौणी के रूप में दो-दो प्रकार के होने के कारण आठ हो जाते हैं तथा ये आठों भेद पदगत और वाक्यगत के रूप में दो-दो प्रकार के होने के कारण रूढ़ि लक्षणा के कुल सोलह भेद बनते हैं।

रूपकम्—एक अर्थालङ्कार। निषेधरहित विषय (उपमेय) पर रूपित (उपमान) का आरोप रूपक कहा जाता है—रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे। यथा—आहवे जगदुद्दण्डराजमण्डलराहवे। श्रीनृसिंहमहीपाल स्वस्त्यस्तु तव बाहवे।। इस पद्य में राजमण्डल पर चन्द्रमण्डल का तथा बाहु पर राहु का आरोप किया गया है। लक्षणवाक्य में 'रूपित' पद के प्रयोग से इसका परिणाम से तथा 'निरपह्नव' पद के प्रयोग से अपह्नुति से व्यवच्छेद प्रतिपादित होता है। चार प्रकार का परम्परित, दो प्रकार का साङ्ग तथा दो प्रकार का निरङ्गरूपक मिलाकर इसके कुल आठ भेद निष्पन्न होते हैं। (10/41)

रूपकम्—काव्य का एक भेद। अनुभूति के ऐन्द्रिय माध्यम की दृष्टि से काव्य के दो भेद किये गये हैं—दृश्य और श्रव्य—दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्। इनमें से दृश्य काव्य को रूपक की संज्ञा दी गयी है क्योंकि सहृदय इसका आनन्द रङ्गमञ्च पर चक्षुरिन्द्रिय के संनिकर्ष से प्राप्त करता है। यहाँ अभिनय के द्वारा नट वर्णित रामादि के चरित्र को अपने में आरोपित कर उसका प्रदर्शन करता है, अतः आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रूप का आरोप होने के कारण ही इसे रूपक कहा जाता है—रूपारोपात्तु रूपकम्। द.रू. में भी रूपक का लक्षण इसी प्रकार से किया गया है—रूपकं तत्समारोपात्। रामचन्द्रगुणचन्द्र के अनुसार इनकी रूपक संज्ञा रूपित अथवा अभिनीत होने के कारण है—रूप्यन्तेऽभिनीयन्त इति रूपकाणि नाटकादीनि। इसके दश भेदों का उल्लेख सा.द. में एक कारिका में किया गया है—नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः। ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश।। (6/1, 2, 4)

रूपम्—गर्भ सन्धि का एक अङ्ग। विशेष तर्कयुक्त वचन को रूप कहते हैं—रूपं वाक्यं वितर्कवत्। इसका उदाहरण र.ना. में राजा की यह उक्ति है—मनः प्रकृत्यैव चलं, दुर्लक्ष्यं च तथापि मे। कामेनैतत्कथं विद्धं समं सर्वैः शिलीमुखैः।। (6/98)

रोमाञ्चः—एक सात्त्विक अनुभाव। हर्ष, विस्मय, भय आदि के कारण रौंगटे खड़े हो जाने को रोमाञ्च कहते हैं—हर्षाद्भुतभयादिभ्यो रोमाञ्चो रोमविक्रिया। (3/146)

रौद्रः—एक रस। क्रोध नामक स्थायीभाव जब विभावादि से पुष्ट होकर अनुभूति का विषय बनता है तो रौद्र नामक रस होता है। इसका आलम्बन शत्रु तथा उद्दीपन उसकी चेष्टायें होती है। मुष्टिप्रहार, मिटाना, बुरी तरह काटने, फाड़ने, युद्ध करने के लिए हड़बड़ी आदि से यह अच्छी प्रकार से प्रदीप्त होता है। भ्रुकुटिभङ्ग, ओष्ठ काटना, भुजा फड़कना, तर्जना करना, अपने पूर्व कार्यों की प्रशंसा करना, शस्त्र घुमाना, उग्रता, आवेग, रोमाञ्च, पसीना आना, कम्पन, मद इसके अनुभाव हैं तथा आक्षेप, क्रूर दृष्टि से देखना, मोह, अमर्ष आदि इसके व्यभिचारीभाव होते हैं। यथा—कृतमनुगतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं मनुजपशुभिर्निर्मर्य्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः। नरकरिपुणा सार्द्धं तेषां सभीमकिरीटिनामयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम्।। यहाँ द्रोणवध की बात सुनकर क्रुद्ध अश्वत्थामा का वर्णन किया गया है। इसमें अपकारी अर्जुन आदि आलम्बन, पितृवध, शस्त्र उद्यत करना आदि उद्दीपन, प्रतिज्ञा अनुभाव तथा गर्वनामक व्यभिचारीभाव से पुष्ट होकर क्रोध नामक स्थायीभाव रौद्र के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। युद्धवीर से इसमें अन्तर यह है कि रौद्र में मुख और नेत्र क्रोध से लाल हो जाते हैं, वीररस का स्थायीभाव उत्साह है—रक्तास्यनेत्रता चात्र भेदिनी युद्धवीरतः। (3/226, 27)

लक्षकः—शब्द का एक प्रकार। लक्षणा शक्ति जिसका व्यापार है, उस शब्द को लक्षक कहा जाता है। यह लक्ष्यार्थ का बोध कराता है। (2/26)

लक्षणम्—काव्य में अलङ्कार की अस्फुट स्थिति। ना.शा. के टीकाकार आचार्य अभिनवगुप्त ने सौन्दर्यविश्लेषण के तीन स्रोतों का उल्लेख किया है—गुण, अलङ्कार और लक्षण। प्रथम दो पर ही बाद में अधिक ध्यान दिया गया, लक्षण उतने प्रसिद्ध नहीं हो सके। दण्डी को ये अलङ्कार के रूप में ही इष्ट थे—यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणान्यागमान्तरे। व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः।। धनिक के अनुसार इनका परिगणन अलङ्कारों और भावों में होने लगा था। उत्तरवर्ती काल में नाट्य के सन्दर्भ में तो कहीं-कहीं उनका विवेचन मिल जाता है परन्तु काव्यशास्त्र के अङ्ग के रूप में केवल च.आ. के लेखक जयदेव ने ही उनका उल्लेख किया है। स्वरूप की दृष्टि

से अभिनवगुप्त ने इनकी तुलना सामुद्रिक शास्त्र के लक्षणों के साथ की है जो शरीर का अपृथक्सिद्ध धर्म है, जिनका सम्बन्ध कविव्यापार से है। लक्षण को अलंभाव की पूर्वावस्था भी कहा जा सकता है जहाँ अलङ्कारत्व स्फुट नहीं हो पाता। यही कारण है कि उत्तरवर्ती काल में इन्हीं के योग से अनेक नवीन अलङ्कारों की कल्पना की जाती रही है।

लक्षणों की कुल संख्या तो छत्तीस ही है परन्तु इनके नामों की दो परम्परायें मिलती हैं। इनमें से एक उपजाति वृत्त में है जो आचार्य अभिनवगुप्त को अपनी गुरुपरम्परा से प्राप्त हुई थी तथा दूसरी अनुष्टुप् छन्द में है। अभिनवगुप्त इससे भी परिचित थे जिसे ना.शा. के काशी संस्करण में अपनाया गया है। आचार्य विश्वनाथ द्वारा निरूपित छत्तीस लक्षण भी इसी परम्परा के अनुसार हैं–भूषण, अक्षरसंहति, शोभा, उदाहरण, हेतु, संशय, दृष्टान्त, तुल्यतर्क, पदोच्चय, निदर्शना, अभिप्राय, प्राप्ति, विचार, दिष्ट, उपदिष्ट, गुणातिपात, अतिशय, विशेषण, निरुक्ति, सिद्धि, भ्रंश, विपर्यय, दाक्षिण्य, अनुनय, माला, अर्थापत्ति, गर्हणा, पृच्छा, प्रसिद्धि, सारूप्य, संक्षेप, गुणकीर्त्तन, लेश, मनोरथ, अनुक्तसिद्धि और प्रियवचन। (6/170)

लक्षणलक्षणा–लक्षणा का एक भेद। इसी का एक नाम जहत्स्वार्था भी है अर्थात् जहाँ पद अपने अर्थ का परित्याग कर देता है। अतः अन्य अर्थ का उपलक्षणमात्र होने के कारण ही इसकी यह संज्ञा अन्वर्थिका है। वाक्यार्थ में मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ की अन्वयसिद्धि के लिए शब्द का अपने स्वरूप को समर्पित कर देना लक्षणलक्षणा है–अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये। उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षणलक्षणा। रूढ़ि और प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा के उदाहरण क्रमशः 'कलिङ्गः साहसिकः' और 'गङ्गायां घोषः' हैं। यहाँ कलिङ्ग और गङ्गा शब्द पुरुष और तटरूप अर्थों की सिद्धि के लिए स्वयं को समर्पित कर देते हैं। उपकृतं बहु तत्र॰ आदि प्रसिद्ध पद्य भी लक्षणलक्षणा का उदाहरण है। इसमें अपकारादि अर्थों की अन्वयसिद्धि के लिए उपकारादि शब्द अपने स्वरूप को समर्पित कर देते हैं। अपकारियों के प्रति उपकारादि का प्रतिपादन होने के कारण मुख्यार्थबाध स्पष्ट है तथा लक्ष्यार्थ के साथ वह वैपरीत्य सम्बन्ध से जुड़ा है। इसका प्रयोजन अपकारातिशय को व्यक्त करना है। (2/11)

लक्षणा–शब्द की एक शक्ति। अभिधा के द्वारा प्रतीयमान मुख्यार्थ का बाध होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ जिसके द्वारा प्रतीत होता है, वह कल्पित शक्ति लक्षणा कही जाती है–मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते। रूढ़ेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता।। इस प्रकार लक्षणा का सर्वप्रथम तत्त्व मुख्यार्थ का बाध है। यह बाध पदार्थ का वाक्यार्थ में अन्वय न हो सकने के कारण होता है जबकि नवीन आचार्य अन्वयानुपपत्ति के स्थान पर तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादि वाक्यों में अन्वय सम्बन्धी कोई अनुपपत्ति नहीं है बल्कि वक्ता का तात्पर्य उपपन्न नहीं हो पाता परन्तु बाधित हो जाने पर भी मुख्यार्थ लक्ष्यार्थ के साथ सम्बद्ध अवश्य रहता है अन्यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि वाक्यों में गङ्गा पद से उससे नितान्त असम्बद्ध यमुनातट का भी बोध होने लगेगा। इस प्रकार लक्षणा अर्पित अर्थात् कल्पित अथवा अस्वाभाविक शक्ति है, अभिधा की तरह ईश्वरोद्भावित नहीं।

इस मुख्यार्थबाध के दो हेतु हैं–रूढ़ि अर्थात् प्रसिद्धि अथवा वक्ता का कोई विशिष्ट प्रयोजन। यही दो लक्षणा के मुख्य भेद हैं। रूढ़ि और प्रयोजन ये दोनों लक्षणलक्षणा और उपादानलक्षणा के रूप में दो-दो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार लक्षणा के चार भेद हुए। इन चारों के सारोपा और साध्यवसाना के रूप में दो-दो भेद होकर आठ तथा उनके भी शुद्धा और गौणी के भेद से दो-दो प्रकार होकर सोलह भेद होते हैं। इनमें से आठ भेद रूढ़िलक्षणा तथा आठ प्रयोजनवती लक्षणा के हुए। प्रयोजनवती लक्षणा के आठ भेदों में से प्रत्येक के गूढ़ प्रयोजन और अगूढ़ प्रयोजन के रूप में दो-दो भेद होकर सोलह तथा उन सोलह भेदों के भी फल के धर्मीगत अथवा धर्मगत होने के कारण दो-दो भेद और होकर कुल बत्तीस भेद बनते हैं। इस प्रकार रूढ़िलक्षणा के आठ तथा प्रयोजनवती लक्षणा के बत्तीस भेद मिलकर कुल चालीस भेद हुए जो पद अथवा वाक्य में रहने के कारण दो-दो प्रकार के होते है, अतः कुल मिलाकर लक्षणा के अस्सी भेद बनते हैं। (2/9–18)

लक्षणामूलाव्यञ्जना–शाब्दीव्यञ्जना का एक भेद। जिसके लिए लक्षणा का आश्रयण किया जाता है, वह प्रयोजन जिस शक्ति के द्वारा प्रतीत होता है, वह शक्ति लक्षणाश्रया व्यञ्जना कही जाती है –लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम्। यथा प्रत्याय्यते सा स्याद्व्यञ्जना लक्षणाश्रया।। यथा, 'गङ्गायां घोषः' इस स्थल पर अभिधावृत्ति जलप्रवाहरूप अर्थ का बोध करवाकर तथा लक्षणा सामीप्यसम्बन्ध से तटरूप अर्थ का बोध कराकर विरत हो जाती है। इस प्रयोजनवती लक्षणा के शैत्यपावनत्वादि के अतिशय का बोध लक्षणा से सम्भव नहीं क्योंकि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः'। अतः इस प्रयोजन का बोध लक्षणामूला व्यञ्जना से होता है। (2/22)

लक्ष्यः–अर्थ का एक प्रकार। लक्षणा शक्ति से बोधित अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं–लक्ष्यो लक्षणया मतः। यह अर्थ मुख्यार्थ के बाधित होने पर प्रतीत होता है। (2/6)

ललितम्–नायक का सात्त्विक गुण। वाणी और वेष की मधुरता तथा उसी के अनुसार शृङ्गारपूर्ण चेष्टायें ललित नामक गुण है–वाग्वेषयोर्मधुरता तद्वच्छृङ्गारचेष्टितं ललितम्। (3/67)

ललितम्–नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। अङ्गों का सुकुमारता से रखना ललित कहलाता है–सुकुमारतयाङ्गानां विन्यासो ललितं भवेत्। यथा–गुरुतरकलनूपुरानुनादं सललितनर्तितवामपादपद्मा। इतरदनतिलोलमादधाना पदमथ मन्मथमन्थरं जगाम।। (3/122)

लाटानुप्रासः–अनुप्रास का एक भेद। केवल तात्पर्यमात्र में भेद होने पर शब्द और अर्थ की आवृत्ति को लाटानुप्रास कहते हैं–शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः। लाटानुप्रास इत्युक्तः...।। सा.द.कार ने उसके पदगत और वाक्यगत के रूप में दो भेद तो नहीं गिनाये पर उदाहरण दोनों ही प्रकार के दिये हैं–स्मेरराजीवनयने नयने किं निमीलिते। पश्य निर्जितकन्दर्पं कन्दर्पवशगं प्रियम्।। पूर्वार्ध में नयने तथा उत्तरार्ध में कन्दर्प शब्द का प्रातिपदिकांश शब्द और अर्थ दोनों ही दृष्टियों से समान है। प्रथम 'नयने' पद का अन्वय सम्बोधन के साथ तथा द्वितीय 'नयने' पद का अन्वय क्रिया के साथ हो रहा है। इसी प्रकार प्रथम 'कन्दर्प' पद उपमान है जबकि द्वितीय

'कन्दर्प' पद 'वशगम्' का सम्बन्धी है। यही तात्पर्यभेद है। 'नयने तस्येव नयने' में नयन प्रातिपदिक अपनी विभक्तियों सहित आवृत्त हुआ है। यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य। यस्य च सविधे दयिता दवदहन-स्तुहिनदीधितिस्तस्य।। यहाँ अनेक पदों और अर्थों का पौनरुक्त्य है परन्तु तात्पर्य भिन्न है। पूर्वार्ध में 'तुहिनदीधिति' उद्देश्य और 'दवदहन' विधेय है जबकि उत्तरार्ध में यह क्रम उलट गया है। यह अनुप्रास लाटप्रदेश के कविओं को अधिक प्रिय है, अतः इसकी संज्ञा लाटानुप्रास प्रसिद्ध है। (10/8)

लाटी—रीति का एक प्रकार। वैदर्भी और पाञ्चाली दोनों के लक्षणों से कुछ-कुछ युक्त होने के कारण उनकी मध्यवर्तिनी रीति को लाटी कहते हैं—लाटी तु वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता। यथा—अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीनामुदयगिरिवनालीबालमन्दारपुष्पम्। विरहविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुर्विभिन्दन् कुपितकपिकपोलक्रोडताम्रस्तमांसि।। इसी सन्दर्भ में आचार्य विश्वनाथ ने किसी प्रामाणिक आचार्य के द्वारा कृत लाटी का लक्षण उद्धृत किया है कि यह कोमल पदों, सुकुमार समासों तथा समुचित विशेषणों से युक्त होती है। बहुत अधिक संयुक्ताक्षरों का प्रयोग इसमें नहीं किया जाता—मृदुपदसमाससुभगा युक्तैर्वर्णैर्नचातिभूयिष्ठा। उचितविशेषणपूरितवस्तुन्यासा भवेल्लाटी।। यहीं एक और कारिका उद्धृत है जहाँ समाहार रूप में सभी रीतियों का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है—गौडी डम्बरबद्धा स्याद्वैदर्भी ललितक्रमा। पाञ्चाली मिश्रभावेन लाटी तु मृदुभिः पदैः।। (9/6)

लाभः—शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

लिङ्गश्लेषः—श्लेषालङ्कार का एक भेद। जहाँ लिङ्ग की श्लिष्टता से श्लेष की प्रतीति हो, यथा—विकसन्नेत्रनीलाब्जे तथा तन्व्याः स्तनद्वयी। तव दत्तां सदामोदं लसत्तरलहारिणी। नपुंसक प्रथमा द्विवचन के रूप 'लसत्तरलहारिणी' तथा स्त्र्यन्त प्रथमा एकवचन के 'लसत्तरलहारिणी' का अन्वय 'नीलाब्जे' तथा 'स्तनद्वयी' दोनों के साथ हो जाता है। इसी प्रकार √दा के आत्मने० लोट् प्र.पु.ए.व. तथा इसी धातु के परस्मै० लोट् प्र.पु.द्वि.व. में भी 'दत्ताम्' रूप ही बनता है। इस प्रकार यहाँ नपुंसक और स्त्रीलिङ्ग में श्लेष है। (10/14 की वृत्ति)

लीला–नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। प्रीति के अतिशय के कारण अङ्गों, वेष, अलङ्कारों तथा प्रेमपूर्ण वचनों से प्रिय के अनुकरण को 'लीला' कहते हैं–अङ्गैर्वेषैरलङ्कारैः प्रेमभिर्वचनैरपि। प्रीतिप्रयोजितैर्लीलां प्रियस्यानुकृतिं विदुः।। यथा–मृणालव्यालवलया वेणीबन्धकपर्दिनी। हरानुकारिणी पातु लीलया पार्वती जगत्।। यहाँ पार्वती कमलनाल का सर्प बनाकर तथा वेणी का जटाजूट बनाकर शिव का अनुकरण करती हुई वर्णित की गयी है। (3/114)

लुप्तविसर्गत्वम्–एक काव्यदोष। सर्वत्र विसर्गों का लोप होने से लुप्तविसर्ग नामक दोष होता है। यथा–गता निशा इमा बाले। यह वाक्यदोष है। (7/4)

लुप्तोपमा–उपमा का एक भेद। जहाँ उपमेय, उपमान, सामान्यधर्म और वाचकशब्द में से किन्हीं एक, दो अथवा तीन का लोप हो–लुप्ता सामान्यधर्मादेरेकस्य यदि वा द्वयोः। त्रयाणां वानुपादाने..।। इसके भी शब्दतः श्रुत अथवा अर्थानुसन्धान के अनन्तर बोध्य होने के कारण श्रौती और आर्थी ये दो रूप होते हैं–श्रौत्यार्थी सापि पूर्ववत्। साभान्य धर्म के लुप्त होने की स्थिति में क्योंकि 'तत्र तस्येव' सूत्र से तद्धित वति प्रत्यय की सम्भावना नहीं बनती अतः श्रौती लुप्तोपमा केवल समास और वाक्य में होती है। आर्थी लुप्तोपमा तद्धित, समास और वाक्य तीनों में स्थित होती है। इस प्रकार सामान्यधर्मलुप्ता उपमा के पाँच भेद बनते हैं। मुखमिन्दुर्यथा पाणिः पल्लवेन समः प्रिये। वाचः सुधा इवोष्ठस्ते बिम्बतुल्यो मनोऽश्मवत्।। इस श्लोक में ये पाँचों भेद उपलब्ध हो जाते हैं। 'मुखमिन्दुर्यथा' में वाक्यगत श्रौती सामान्यधर्मलुप्तोपमा तथा 'पाणिः पल्लवेन समः' में उपमा का वाक्यगत आर्थी सामान्यधर्मलुप्ता नामक भेद है। 'वाचः सुधा इव' में समासगतश्रौती सामान्यधर्मलुप्ता तथा 'ओष्ठस्ते बिम्बतुल्यः' में समासगत आर्थी समान्यधर्मलुप्तोपमा है। 'मनोऽश्मवत्' में तद्धितगत आर्थी सामान्यधर्मलुप्तोपमा नामक भेद बनता है। इसके अतिरिक्त पाँच प्रकार की सामान्यधर्मलुप्तोपमा (1) उपमानभूत कर्म से क्यच् प्रत्यय करने पर (उपमानादाचारे 3/1/10 सूत्र से), (2) उपमानभूत आधार से क्यच् प्रत्यय करने पर (अधिकरणाच्च

वार्त्तिक से), (3) उपमानभूत कर्त्ता से क्यङ् प्रत्यय करने पर (उपमाने कर्मणि च 3/4/45 सूत्र से), (4) उपमानभूत कर्म तथा (5) कर्त्ता से णमुल् प्रत्यय करने पर (उपमाने कर्मणि च 3/4/45 सूत्र से) होती है। (कलाप व्याकरण में क्यच्, क्यङ् और णमुल् की संज्ञा यिन्, आयि और णम् है।) इन पाँचों प्रकारों के उदाहरण क्रमशः इस श्लोक में निबद्ध हैं—अन्तःपुरीयसि रणेषु सुतीयसि त्वं पौरं जनं तव सदा रमणीयते श्रीः। दृष्टः प्रियाभिरमृतद्युतिदर्शमिन्द्र सञ्चारमत्र भुवि सञ्चरसि क्षितीश।। इस प्रकार सामान्यधर्मलुप्तोपमा के दश भेद निष्पन्न होते हैं।

उपमानलुप्तोपमा वाक्य अथवा समास में स्थिति के आधार पर दो प्रकार की हो सकती है। इस प्रकार के स्थलों में वस्तुतः उपमान के ज्ञान का अभाव होता है, उसकी सत्ता का ही सर्वथा निषेध नहीं होता। 'तस्या मुखेन सदृशं रम्यं नास्ते' यह वाक्यगत तथा 'न वा नयनतुल्यम्' यह समासगत उपमानलुप्ता है। इसके भी 'मुखं यथेदं' अथवा 'दृशमिव' इस प्रकार श्रौती और आर्थी के रूप में दो पुनर्विभाग भी हो सकते हैं परन्तु ये परम्परा में मान्य नहीं हैं, अतः दो ही भेद किये गये हैं।

औपम्यवाचक लुप्तोपमा समासगत अथवा क्विप् प्रत्ययगत दो प्रकार की हो सकती है। 'वदनं मृगशावाक्ष्याः सुधाकरमनोहरम्' यहाँ 'सुधाकर इव मनोहरम्' ऐसा विग्रहवाक्य है। समास 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इस शास्त्र से होता है। 'गर्दभति श्रुतिपरुषं व्यक्तं निनदन्महात्मनां पुरतः' यहाँ गर्दभ शब्द से 'गर्दभ इवाचरति' इस अर्थ में 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः' इस वार्त्तिक से क्विप् प्रत्यय होता है। इस वाक्य में उपमेय की प्रतीति 'निनदन्' के कर्त्ता के रूप में होती है। साधारणधर्म और उपमान इन दोनों का लोप समासगत अथवा वाक्यगत दो प्रकार का हो सकता है। 'तस्या मुखेन सदृशं लोके नास्ते न वा नयनतुल्यम्' ये दोनों उदाहरण क्रमशः वाक्यगत और समासगत धर्मोपमानलुप्ता के बनते हैं। 'विधवति मुखाब्जमस्याः' इस उदाहरण में 'विधुरिवाचरति' इस अर्थ में क्विप् प्रत्यय होकर उसका शास्त्रकृत लोप होता है। यहाँ मनोहरत्वरूप सामान्यधर्म का भी लोप है।

उपमेय के लुप्त होने की स्थिति में एक उपमा क्यच् प्रत्यय होने पर

होती है, यथा–अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः। कृपाणोदग्रदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति।। यहाँ 'सहस्रायुध इवाचरति' इस अर्थ में सहस्रायुध शब्द से क्यच् प्रत्यय हुआ है। सामान्यधर्म और उपमेय का लोप होने पर भी क्यच् प्रत्यय में एक उपमा होती है, यथा–यशसि प्रसरति भवतः क्षीरोदीयन्ति सागराः सर्वे। यहाँ उपमेय और साधारणधर्म (शुक्लता) लुप्त हैं।

उपमा के चार अङ्गों में से तीन के लुप्त होने पर त्रिलुप्ता नामक भेद होता है। इसकी स्थिति समास में होती है–त्रिलोपे च समासगा। यथा–राजते मृगलोचना। यहाँ उपमान 'लोचन', सामान्यधर्म 'चञ्चलता' और वाचक पद 'इव' का लोप है परन्तु इन सबका बोध समास की शक्ति से हो जाता है। इस प्रकार लुप्तोपमा के कुल इक्कीस भेद होते हैं। (10/23-32)

लेशः–एक नाट्यलक्षण। सादृश्य प्रकट करते हुए जो कथन किया जाये उसे लेश कहते हैं–स लेशो भण्यते वाक्यं यत्सादृश्यपुरःसरम्। यथा वे.सं. में "हते जरति गाङ्गेये पुरस्कृत्य शिखण्डिनम्। या श्लाघा पाण्डुपुत्राणां सैवास्माकं भविष्यति"।। इस पद्य में दुर्योधन अपनी और पाण्डवों की समानता दिखाते हुए, जो यश शिखण्डी को आगे करके भीष्म की हत्या करने पर पाण्डवों को मिला, वही यश निःशस्त्र अभिमन्यु की हत्या करके हमें भी मिलेगा, ऐसा कथन करता है। (6/203)

वक्रोक्तिः–एक शब्दालङ्कार। वक्ता के द्वारा अन्य अभिप्राय से कथित वाक्य का जब श्रोता श्लेष अथवा काकु से अन्य ही अर्थ ग्रहण कर ले तो वक्रोक्ति अलङ्कार होता है–अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि। अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा।। श्लेषवक्रोक्ति और काकुवक्रोक्ति यही दो इसके भेद हैं। श्लेषवक्रोक्ति भी सभङ्ग और अभङ्ग के भेद से दो प्रकार का होता है। के यूयं स्थल एव सम्प्रति वयं प्रश्नो विशेषाश्रयः, किं ब्रूते विहगः स वा फणिपतिर्यत्रास्ति सुप्तो हरिः। वामा यूयमहो विडम्बरसिकः कीदृक्स्मरो वर्त्तते, येनास्मासु विवेकशून्यमनसः पुंस्वेव योषिद्भ्रमः।। इस पद्य के पूर्वार्ध में 'विशेष' पद के 'वि=पक्षी' और 'शेष=नाग' ये दो अर्थ पदभङ्ग करके प्राप्त होते हैं, अतः यहाँ सभङ्गश्लेष है। उत्तरार्ध में 'वामाः' पद के दो अर्थ कुटिल और स्त्री हैं। यह अभङ्गश्लेष

का उदाहरण है। उच्चारण की विशिष्ट प्रणाली को काकु कहते हैं। कभी-कभी ध्वनि के विकारमात्र इस काकु से ही समग्र अर्थ परिवर्तित हो जाता है—काले कोकिलवाचाले सहकारमनोहरे। कृतागस: परित्यागात्तस्याश्चेतो न दूयते।। किसी सखी के द्वारा यहाँ निषेध अर्थ में प्रयुक्त नञ् दूसरी सखी के द्वारा विध्यर्थ में घटित कर लिया गया है। (10/11)

वचनश्लेष:—श्लेषालङ्कार का एक भेद। जहाँ वचन के श्लिष्ट होने के कारण श्लेष की प्रतीति हो, यथा—किरणा हरिणाङ्कस्य दक्षिणश्च समीरण:। कान्तोत्सङ्गजुषां नूनं सर्व एव सुधाकिर:।। इस पद्य में 'सुधाकिर:' पद 'सुधां किरति' इस अर्थ में √कॄ विक्षेपे से क्विबन्त शब्द का प्रथमा बहुवचन का तथा क प्रत्ययान्त 'सुधाकिर' शब्द का प्रथमा एकवचन का रूप है। (10/14 की वृत्ति)

वज्रम्—प्रतिमुखसन्धि का एक अङ्ग। निष्ठुर वचन को वज्र कहते हैं—प्रत्यक्षनिष्ठुरं वज्रम्। यथा र.ना. में सुसङ्गता की राजा के प्रति यह उक्ति—न केवलं त्वं समं चित्रफलकेन। तद्यावद्गत्वा देव्यै निवेदयिष्यामि। (6/92)

वर्णश्लेष:—श्लेषालङ्कार का एक भेद। जहाँ वर्ण के श्लिष्ट होने के कारण श्लेष की प्रतीति हो, यथा—प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता। अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यत: करसहस्रमपि।। यहाँ विधि और विधु शब्दों के अन्तिम वर्ण (इ तथा उ) सप्तमी एकवचन में औ (विधौ) के रूप में परिणत हो गये हैं। यह परिणति केवल प्रत्यय की ही नहीं है अपितु इसमें प्रकृति का अंश भी समाहित है, अत: यहाँ प्रत्ययश्लेष नहीं है। (10/14 की वृत्ति)

वर्णसंहार:—प्रतिमुखसन्धि का एक भेद। चारों वर्णों के समागम को वर्णसंहार कहते हैं—चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते। यथा म.च. के इस पद्य—परिषदियमृषीणामेष वीरो युधाजित्, सममृषिभिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्ध:। अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराण:, प्रभुरपि जनकानामद्रुहो याजकास्ते।। में ऋषि, क्षत्रियादि सभी का मिलन हुआ है। आचार्य अभिनवगुप्त यहाँ वर्ण शब्द से पात्रों का ग्रहण करते हैं, अत: उनके अनुसार सभी पात्रों का मेल वर्णसंहार है। इसका उदाहरण र.ना. के द्वितीयाङ्क में 'अतोऽपि मे गुरुतर:

प्रसादः' से लेकर 'ननु हस्ते गृहीत्वा प्रसादयैनाम्' आदि सन्दर्भ है जहाँ राजा, विदूषक, सागरिका, सुसङ्गता का मेल है। (6/94)

वस्तु–कथावस्तु। इसे ही वृत्त अथवा इतिवृत्त भी कहते हैं (वस्त्वितिवृत्तम्) जो काव्य का शरीर माना जाता है–इतिवृत्तं तु काव्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्। कथावस्तु दो प्रकार की होती है–आधिकारिक और प्रासङ्गिक। प्रकारान्तर से यह तीन प्रकार की भी होती है–प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र। प्रख्यात इतिवृत्त इतिहास अथवा पुराण से गृहीत होता है, उत्पाद्य वस्तु कविकल्पित होती है तथा मिश्र इन दोनों का मिश्रण है। (6/24-25)

वस्तूत्थापनम्–आरभटी वृत्ति का एक अङ्ग। माया आदि से उत्पन्न की गयी वस्तु को वस्तूत्थापन कहते हैं–मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनमुच्यते। यथा उ.रा. में यह पद्य–जीयन्ते जयिनो निशीथतिमिरव्रातैर्वियद्व्यापिभिर्भास्वन्तः सकला रवेरपि कराः कस्मादकस्मादमी। एते चोग्रकबन्धकण्ठरुधिरैराध्मायमानोदरा, मुञ्चत्याननकन्दरानलमुचस्तीव्रान्नवान् फेरवाः।। (6/156)

वाक्केलिः–एक वीथ्यङ्ग। दो-तीन उक्तिप्रत्युक्तियों से जहाँ हास्य प्रकट हो उसे वाक्केलि कहते हैं–वाक्केलिर्हास्यसम्बन्धो द्वित्रिप्रत्युक्तितो भवेत्। दो-तीन उक्तियाँ यहाँ वस्तुतः उपलक्षणमात्र हैं, इनकी संख्या इससे अधिक भी हो सकती है। इसका उदाहरण यह पद्य है–भिक्षो! मांसनिषेवणं प्रकुरुषे, किं तेन मद्यं विना, मद्यं चापि तव प्रियं प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह। वेश्याप्यर्थरुचिः कुतस्तव धनं द्यूतेन चौर्येण वा, चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो नष्टस्य कान्या गतिः।। कुछ आचार्य प्रारम्भ किये गये वाक्य की साकांक्ष परिसमाप्ति को वाक्केलि कहते हैं। यह मन्तव्य द.रू.कार का है–विनिवृत्त्याऽस्य वाक्केलिः द्वित्रिप्रत्युक्तितोऽपि वा। इसके उदाहरण के रूप में उन्होंने उ.रा.च. के प्रसिद्ध पद्य–त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं, त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे। इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां, तामेव शान्तमथवा किमतः परेण।। को उद्धृत किया है कुछ आचार्य अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर होने पर भी वाक्केलि की स्थिति मानते हैं–अन्ये च, अनेकस्य प्रश्नस्यैकमुत्तरम्। (6/268)

वाक्यगता लक्षणा–लक्षणा का एक भेद। आठ प्रकार की रूढ़ि तथा

बत्तीस प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणा यदि वाक्य में स्थित हो तो वाक्यगता लक्षणा कही जाती है। इसका उदाहरण—उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परा। विदधदीदृशमेव सदा सखे, सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्।। है। (2/18 की वृत्ति)

वाक्यम्—पदसमूह। योग्यता, आकांक्षा तथा आसत्ति से युक्त पदसमूह वाक्य कहा जाता है—वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः। **योग्यता**—पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा का न होना योग्यता कहा जाता है—योग्यता पदार्थानां परस्परसंम्बन्धे बाधाभावः। यथा, वह्नि की सिञ्चनक्रिया में साधनता बाधित है। वह दाह का कार्य करती है, सिञ्चन का नहीं। इस प्रकार वह्नि और सिञ्चन पद के अर्थों में परस्पर योग्यता का अभाव है। 'वह्निना सिञ्चति' में वाक्यत्व सिद्धान्ती को अभिमत नहीं है। **आकांक्षा**—प्रतीति का अवसान न होना आकांक्षा कहा जाता है—आकांक्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः। इसका सम्बन्ध श्रोता की जिज्ञासा से है। यथा—गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती इत्यादि पदों का प्रयोग करने पर श्रोता की प्रतीति पूर्ण नहीं होती तथा क्रियापद की आकांक्षा बनी ही रहती है। **आसत्ति**—बुद्धि का विच्छिन्न न होना आसत्ति कहा जाता है—आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेदः। बुद्धि का विच्छेद दो पदों के मध्य काल के व्यवधान से उत्पन्न होता है अतएव सम्प्रति उच्चरित 'देवदत्तः' पद की दिनान्त में उच्चरित 'गच्छति' पद के साथ सङ्गति नहीं हो पाती। यहाँ आकांक्षा यद्यपि इच्छारूप होने के कारण आत्मा में रहती है तथा योग्यता पदार्थ का धर्म है तथापि पदसमूह में इनकी स्थिति उपचार से मानी जाती है। इसका उदाहरण 'शून्यं वासगृहम्०' इत्यादि पद्य हैं। (2/1)

वाचकः— शब्द का एक प्रकार। अभिधा शक्ति जिसका व्यापार है, उस शब्द को वाचक कहा जाता है। यह साक्षात् सङ्केतित अर्थ का अभिधान करता है—साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः। वाचक शब्द चार प्रकार के होते हैं—जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक और यदृच्छावाचक। (2/26 की वृत्ति)

वाचिकः—अभिनय का एक प्रकार। अनुकार्य रामादि के भाव के अनुसार उनकी वाणी का अनुकरण वाचिक अभिनय कहा जाता है। नाट्य में इसका प्रयोग संवाद के रूप में होता है। (6/3)

वाच्यः–अर्थ का एक प्रकार। शब्द की अभिधा शक्ति से बोध्य अर्थ को वाच्य कहते हैं–वाच्यार्थोऽभिधया बोध्यः। इसे ही मुख्यार्थ भी कहते हैं। (2/6)

वाच्यानभिधानम्–एक काव्यदोष। जो शब्द अवश्य कहे जाने चाहिएँ, उनका न कहना वाच्यानभिधान दोष है। यथा–व्यतिक्रमलवं कं मे वीक्ष्य वामाक्षि कुप्यसि। यहाँ 'व्यतिक्रमलवम्' के पश्चात् 'अपि' शब्द का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। न्यूनपदत्व दोष में वाचक पद की न्यूनता होती है, वाच्यानभिधान में द्योतक पद की न्यूनता होती है। यह वाक्यदोष है। (7/4)

वाच्योत्प्रेक्षा–उत्प्रेक्षा का एक भेद। साक्षात् रूप से इवादि शब्दों के प्रयोग होने पर वाच्योत्प्रेक्षा होती है–वाच्येवादिप्रयोगे स्यात्। र.व. के प्रसिद्ध पद्य–ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः। गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव।। में 'इव' शब्द का प्रयोग होने के कारण वहाँ वाच्योत्प्रेक्षा है।

सर्वप्रथम यह जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य के भेद से चार प्रकार की होती है। इन चारों प्रकारों में कहीं भाव उत्प्रेक्ष्य होता है, कहीं अभाव। इस प्रकार इसके आठ भेद बन जाते हैं। इन आठों में उत्प्रेक्षा का निमित्त कहीं गुण होता है, कहीं क्रिया। इस प्रकार ये सोलह भेद हुए। इनमें से जाति, गुण और क्रिया के रूप में जो उत्प्रेक्षा के चार-चार भेद हैं, वे सभी स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा के रूप में तीन-तीन प्रकार के होते हैं। इस प्रकार जात्युत्प्रेक्षा, गुणोत्प्रेक्षा और क्रियोत्प्रेक्षा के बारह-बारह भेद तथा द्रव्योत्प्रेक्षा के चार भेद (केवल स्वरूप में) मिलकर इसके कुल चालीस प्रकार हुए। इन चालीस भेदों में स्वरूपोत्प्रेक्षा के जो सोलह प्रकार हैं (जाति, गुण, क्रिया और द्रव्योत्प्रेक्षा के चार-चार) वे निमित्त के शब्दतः उक्त अथवा आक्षेप से लभ्य होने के कारण दो-दो प्रकार के होकर बत्तीस प्रकार के हो जाते हैं। इस प्रकार वाच्चोत्प्रेक्षा के छप्पन भेद हो गये जो प्रस्तुत पदार्थ के शब्दोक्त अथवा गम्यमान होने के कारण पुनः दो-दो प्रकार के हो जाते हैं। इस प्रकार वाच्चोत्प्रेक्षा के कुल 112 भेद हो गये। (10/59-63)

वात्सल्यम्–एक रस। वत्सल नामक स्थायीभाव विभावादि से संयुक्त होकर जब अनुभूति का विषय बनता है तो वात्सल्य नामक रस कहा जाता

है यद्यपि भरतादि के द्वारा इसका प्रतिपादन नहीं किया गया तथापि स्पष्ट रूप से चमत्कारक होने के कारण इसे भी रस माना जाना चाहिए। इसका स्थायीभाव वत्सल है, पुत्रादि इसके आलम्बन हैं। उनकी चेष्टायें, यथा विद्या, शूरता, दया आदि उद्दीपन, आलिङ्गन, अङ्गस्पर्श, शिरश्चुम्बन, देखना, पुलकित होना, आनन्द के अश्रु आदि इसके अनुभाव हैं तथा अनिष्टशङ्का, हर्ष, गर्व आदि व्यभिचारीभाव हैं। पद्मगर्भ के समान इसका वर्ण तथा देवता ब्राह्मी आदि लोकमातायें हैं–स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः। स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्। उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः। आलिङ्गनाङ्गसंस्पर्शशिरश्चुम्बनमीक्षणम्। पुलकानन्दवाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः। सञ्चारिणोऽनिष्टशङ्काहर्षगर्वादयो मताः। पद्मगर्भच्छविर्वर्णो दैवतं लोकमातरः। यथा–यदाह धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम्। अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः।। इसमें दिलीप के पुत्र रघु की बाल्यावस्था का वर्णन है जो उसके पिता को आनन्दित करती है। दिलीपगत वत्सल स्थायीभाव, रघु (बालक) आलम्बन, उसका भाषण, गमनादि चेष्टायें उद्दीपन, आलिङ्गनादि अनुभाव, तथा हर्षादि व्यभिचारीभाव हैं। (3/235)

वाष्पम्–शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

वासकसज्जा–नायिका का एक भेद। सजाये हुए महल में सखी जिसका शृङ्गार कर रही हो तथा उसे प्रिय के समागम का पता हो, वह वासकसज्जा कही जाती है–कुरुते मण्डनं यस्याः सज्जिते वासवेश्मनि। सा तु वासकसज्जा स्याद्विदितप्रियसङ्गमा।। यथा–रा.आ. नाटक का यह पद्य–विदूरे केयूरे कुरु करयुगे रत्नवलयैरलं गुर्वी ग्रीवाभरणलतिकेयं किमनया। नवामेकामेकावलिमयि मयि त्वं विरचयेर्न पथ्यं नेपथ्यं बहुतरमनङ्गोत्सवविधौ।। यहाँ सखी के द्वारा सजायी जाती हुई नायिका अनङ्गोत्सव के अनुकूल आभूषण धारण कर रही है। (3/98)

वासना–रसास्वाद का कारणभूत एक संस्कारविशेष। काव्य/नाट्य से सभी को समान रूप से रस की अनुभूति नहीं होती। केवल वासनाख्या संस्कार से युक्त सभ्यजनों को ही रस का आस्वादन हो पाता है। वासना से अभिप्राय

उस चेतनामात्र से है जो काव्यत्व के स्फुरण तथा उसके आस्वादन दोनों के लिए अनिवार्य है। इसके विना व्यक्ति रङ्गभवन में काष्ठकुड्याश्मसंनिभ ही होता है—सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्। निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसंनिभाः।। यह वासना दो प्रकार की है—इदानीन्तनी और प्राक्तनी। यह दोनों ही प्रकार की चेतना रसानुभूति का कारण है। वेदपाठियों और खुर्राट मीमांसकों को प्राक्तनी वासना के कारण रसास्वाद हो जाता है जबकि रागियों को भी कभी-कभी प्राक्तनी वासना के अभाव में रसास्वाद नहीं हो पाता। (3/8 की वृत्ति)

विकल्पः—एक अर्थालङ्कार। तुल्यबल वाले दो पदार्थों में चतुरतापूर्वक दिखाया गया विरोध विकल्प अलङ्कार होता है—विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोध-श्चातुरीयतः। यथा—नमयन्तु शिरांसि धनूंषि वा। यहाँ शिर का नमन सन्धि का तथा धनुष् का नमन विग्रह का उपलक्षण है। ये दोनों युगपत् नहीं हो सकते, अतः विरोध है। सन्धि कर लो अथवा विग्रह, इस अर्थ में तात्पर्य अवसित होता है। यहाँ चातुरी से अभिप्राय है—समान बल वाली वस्तुओं में औपम्यभाव प्रदर्शित करना। यह यदि श्लेषमूलक हो तो और भी चारुत्व का उत्कर्ष होता है। (10/109)

विक्षेपः—नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। आभूषणों की आधी रचना, फिर विना कारण ही इधर-उधर देखना व धीरे से कुछ रहस्य कहना विक्षेप कहलाता है—भूषाणामर्धरचना मिथ्या विष्वगवेक्षणम्। रहस्याख्यानमीषच्च विक्षेपो दयितान्तिके।। यथा—धम्मिल्लमर्धयुक्तं कलयति तिलकं तथाऽसकलम्। किञ्चिद्वदति रहस्यं चकितं विष्वग्विलोकते तन्वी।। (3/127)

विचारः—एक नाट्यलक्षण। युक्तियुक्त वाक्यों से अप्रत्यक्ष अर्थ के साधक को विचार कहते हैं—विचारो युक्तिवाक्यैर्यदप्रत्यक्षार्थसाधनम्। यथा—च.क. नाटिका में हसति परितोषरहितम्० आदि युक्तियों से 'नूनमियमन्तःपिहितमदनविकारा वर्त्तते' इस अप्रत्यक्ष अर्थ को साधित किया गया है। (6/183)

विचित्रम्—एक अर्थालङ्कार। यदि अभीष्ट की प्राप्ति के लिए उसके विरुद्ध कार्य किया जाये—विचित्रं तद्विरुद्धस्य कृतिरिष्टफलाय चेत्।

यथा—प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान्। दुःखीयति सुखहेतोः को मूढः सेवकादन्यः।। इस पद्य में सेवक के द्वारा उन्नति के लिए प्रणाम, जीवन के लिए प्राणत्याग तथा सुख के लिए दुःखप्राप्तिरूप वैचित्र्य का अनुष्ठान किया जाता हुआ प्रदर्शित किया गया है। (10/93)

विच्छित्तिः—नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। कान्ति को बढ़ाने वाली थोड़ी सी वेषरचना विच्छित्ति कही जाती है—स्तोकाऽप्याकल्परचना विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत्। यथा—स्वच्छाम्भःस्नपनविधौतमङ्गमोष्ठस्ताम्बूल-द्युतिविशदो विलासिनीनाम्। वासस्तु प्रतनु विविक्तमस्त्विवतीयानकल्पो यदि कुसुमेषुणा न शून्यः।। (3/116)

विटः—नायक का सहायक। भोगविलास में नष्ट सम्पत्ति वाला, धूर्त्त, नृत्यादिकलाओं के एक अंश को जानने वाला, वैश्याओं के साथ उपचार में कुशल, वाणी में कुशल, मधुरभाषी तथा गोष्ठी में सम्मानित होने वाला पुरुष विट कहलाता है—सम्भोगहीनसम्पद्विटस्तु धूर्त्तः कलैकदेशज्ञः। वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम्।। यह नायक का मध्यम कोटि का सहायक माना जाता है—मध्यौ विटविदूषकौ। यह शृङ्गार में नायक की सहायता करता है। (3/49)

वितर्कः—एक व्यभिचारीभाव। सन्देह से उत्पन्न होने वाले विचार का नाम तर्क है। इसमें भ्रुकुटिभङ्ग तथा शिर और अङ्गुलियों का नचाना आदि अनुभाव होते हैं—तर्को विचारः सन्देहाद् भ्रूशिरोङ्गुलिनर्तकः। यथा—किं रुद्धः प्रियया कदाचिदथवा सख्या ममाद्वेजितः। किं वा कारणगौरवं किमपि यन्नाद्यागतो वल्लभः। इत्यालोच्य मृगीदृशा करतले विन्यस्य वक्त्राम्बुजम्, दीर्घं निश्वसितं चिरं च रुदितं क्षिप्ताश्च पुष्पस्रजः।। यहाँ विरहोत्कण्ठिता नायिका प्रिय के न आने के कारणों के विषय में वितर्क करती हुई वर्णित की गयी है। (3/181)

विदूषकः—नायक का सहायक। यह राजा का मध्यम कोटि का सहायक माना गया है—मध्यौ विटविदूषकौ। यह मुख्य रूप से शृङ्गार में राजा की सहायता करता है। इसका नाम किसी पुष्प अथवा वसन्तादि पर रखा जाता है। अपनी असम्बद्ध क्रियाओं, विकृत अङ्गों, विकृत वेश तथा भाषा

आदि से हास्यकर है। वह लड़ाईझगड़े में आनन्द लेता है। अपने भोजन रूप मुख्य कर्म को वह कभी नहीं भूलता–कुसुमवसन्ताद्यभिधः, कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः। हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः।। (3/50)

विद्याविरुद्धम्–एक काव्यदोष। जहाँ शास्त्र के विरुद्ध कोई बात कही जाये, वह विद्याविरुद्ध है। यथा–अधरे करजक्षतं मृगाक्ष्याः। अधर पर नखक्षत का वर्णन कामशास्त्र के विरुद्ध है, वहाँ दन्ताघात होना चाहिए। यह अर्थदोष है। (7/5)

विद्रवः–गर्भसन्धि का एक अङ्ग। शङ्का, भय, त्रासादि से उत्पन्न सम्भ्रम विद्रव कहा जाता है–शङ्काभयत्रासकृतः सम्भ्रमो विद्रवो मतः। यथा–कालान्तककरालास्यं क्रोधोद्धूतं दशाननम्। विलोक्य वानरानीके सम्भ्रमः कोऽप्यजायत।। (6/108)

विधानम्–मुखसन्धि का एक अङ्ग। सुखदुःख का मिश्रित अर्थ विधान कहा जाता है–सुखदुःखकृतो योऽर्थस्तद्विधानमिति स्मृतम्। बा.च. में राम के प्रति जनक की यह उक्ति–उत्साहातिशयं वत्स तव बाल्यञ्च पश्यतः। मम हर्षविषादाभ्यामाक्रान्तं युगपन्मनः।। इसका उदाहरण है। (6/76)

विधूतम्–प्रतिमुखसन्धि का एक अङ्ग। किये गये अनुनय का स्वीकार न करना विधूत कहा जाता है, इसे ही अपरिग्रह भी कहते हैं–कृतस्यानुनयस्यादौ विधूतं त्वपरिग्रहः। यथा अ.शा. में शकुन्तला का–अलं वामन्तःपुरविरहपर्युत्सुकेन राजर्षिणा उपरुद्धेन, आदि कथन। कुछ आचार्य 'अरति' को विधूत कहते हैं। यह मत धनञ्जयादि का है। (6/84)

विधेयाविमर्शः–एक काव्यदोष। विधेय अंश का ही जहाँ प्रधानतया परामर्श न हो, वहाँ विधेयाविमर्श दोष होता है। यथा–स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः। इस पंक्ति में भुजाओं का वृथात्व बताना ही विधेय है और उसे ही समास में डालकर अप्रधान बना दिया गया है। यथा च–रक्षांस्यपि पुरः स्थातुमलं रामानुजस्य मे। इस उदाहरण में राम के साथ सम्बन्ध प्रतिपादित करना ही विधेय है और उसके वाचक षष्ठी विभक्ति को समास में डालकर उसकी प्रधानता समाप्त कर दी गयी है। यह पददोष समास में ही होता है। न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः० आदि प्रसिद्ध पद्य में वाक्यगत विधेयाविमर्श दोष है। इस पद्य में 'न्यक्कार' विधेय है तथा 'अयमेव'

उद्देश्य है। उद्देश्य का कथन किये विना अनुवाद्य का कथन नहीं हो सकता (अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्)। इस न्याय के अनुसार 'अयमेव न्यक्कारः' ऐसा प्रयोग होना चाहिए। (7/3)

विध्ययुक्तता—एक काव्यदोष। जहाँ वर्णन की विधि उपयुक्त न हो, वहाँ यह दोष होता है, यथा—आनन्दितस्वपक्षोऽसौ परपक्षान्हनिष्यति। वास्तविक विधि यह है कि पहले परपक्षहनन तथा पुनः स्वपक्षप्रसादीकरण होता है। यह अर्थदोष है। (7/5)

विनोक्तिः—एक अर्थालङ्कार। जहाँ एक के विना दूसरा अशोभन नहीं होता, अथवा हो जाता है, वहाँ विनोक्ति होती है—विनोक्तिर्यद्विनान्येन नासाध्वन्यदसाधु वा। तद्यथा—विना जलदकालेन चन्द्रो निस्तन्द्रतां गतः। विना ग्रीष्मोष्मणा मञ्जुर्वनराजिरजायत।। विना शब्द के साक्षात् न प्रयुक्त होने पर भी उसके अर्थ की विवक्षा होने पर यह अलङ्कार हो सकता है। यथा—निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम्। उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव दृष्टा विनिद्रा नलिनी न येन।। (10/73)

विन्यासः—भाणिका का एक अङ्ग। निर्वेदजनक वाक्यों का कथन करना विन्यास कहा जाता है—निर्वेदवाक्यव्युत्पत्तिर्विन्यास इति स स्मृतः। (6/300)

विपर्ययः—एक नाट्यलक्षण। सन्देह के कारण विचार का बदल लेना विपर्यय कहा जाता है—विचारस्यान्यथाभावः सन्देहात्तु विपर्ययः। यथा—मत्वा लोकमदातारं सन्तोषे यैः कृता मतिः। त्वयि राजनि ते राजन्न तथा व्यवसायिनः।। इस पद्य में लोक को अदाता मानकर याचना का विचार बदलकर सन्तोष का समाश्रयण किया गया है। (6/192)

विप्रलब्धा—नायिका का एक भेद। जिसका प्रिय सङ्केत करके भी उसके पास न आये, वह नितान्त अपमानित नायिका विप्रलब्धा कही जाती है—प्रियः कृत्वापि सङ्केतं यस्या नायाति संनिधिम्। विप्रलब्धा तु सा ज्ञेया नितान्तमवमानिता।। यथा—उत्तिष्ठ दूति यामो यामो यातस्तथापि नायातः। यातः परमपि जीवेज्जीवितनाथो भवेत्तस्याः।। (3/96)

विप्रलम्भः—शृङ्गार का एक भेद। जहाँ उत्कट प्रेम होने पर भी अभीष्ट

(नायक अथवा नायिका) की प्राप्ति नहीं होती वहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार होता है–यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ। इसके चार भेद हैं–पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। (3/191, 92)

विबोधः–निर्वहणसन्धि का एक अङ्ग। कार्य के अन्वेषण को विबोध कहते हैं–विबोधः कार्यमार्गणम्। यथा वे.सं. में भीम और युधिष्ठिर का यह वार्त्तालाप–भीमः–मुञ्चतु मामार्यः क्षणमेकम्। युधिष्ठिरः–किमपरमवशिष्टम्? भीमः–सुमहदवशिष्टम्। संयमयामि तावदनेन सुयोधनशोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनावकृष्टं केशहस्तम्। युधिष्ठिरः–गच्छतु भवाननुभवतु तपस्विनी वेणिसंहारम्। यहाँ द्रौपदी की वेणी के संहार के लिए भीम दुर्योधन के रक्त का अन्वेषण करता है। (6/125)

विबोधः–भाणिका का एक अङ्ग। भ्रान्ति दूर करना विबोध कहा जाता है–भ्रान्तिनाशो विबोधः स्यात्। (6/300)

विबोधः–एक व्यभिचारीभाव। निद्रा दूर करने वाले कारणों से उत्पन्न चैतन्य को विबोध कहते हैं। इसकी अभिव्यक्ति जँभाई लेना, अंगड़ाई, आँखें झपकना, अङ्गों को देखना आदि से होती है–निद्रापगमहेतुभ्यो विबोधश्चेतनागमः। जृम्भाङ्गभङ्गनयनमीलनाङ्गावलोककृत्। यथा–चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां, चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः। अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणामशिथिल-भुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः।। यहाँ नायिका के विबोध की स्थिति वर्णित है। (3/157)

विभक्तिश्लेषः–श्लेषालङ्कार का एक भेद। यह अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ श्लेष की प्रतीति का हेतु विभक्ति की शिलष्टता हो। यथा–सर्वस्वं हर सर्वस्य, त्वं भवच्छेदतत्परः। नयोपकारसांमुख्यमायासि तनु वर्त्तनम्।। 'हर' इस पद में शिव के सम्बोधनपक्ष में सुप् विभक्ति तथा चोर के कथन में √हृ से तिङ् विभक्ति है। इसी प्रकार भवादि में भी 'भव' पद एक पक्ष में सुबन्त तथा पक्षान्तर में तिङन्त भी है। सुप् और तिङ् विभक्तियाँ भी वस्तुतः प्रत्यय ही हैं तथापि प्रत्ययश्लेष में इसका अन्तर्भाव न करके पृथगुपादान करने के दो कारण हैं– (1) यह केवल सुबन्त और तिङन्त का ही विषय है, अन्य प्रत्ययों से साधित नहीं हो सकता। (2) इसी के कारण इसमें विशिष्ट चमत्कार का आधान होता है। (10/14 की वृत्ति)

विभावः—रस का एक अङ्ग। लोक में जो रामादिगत रति, हासादि के उद्‌बोधक कारण सीतादि हैं, काव्य, नाट्य आदि में निविष्ट होकर वही विभाव नामक अलौकिक संज्ञा को प्राप्त करते हैं—रत्याद्युद्‌बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः। एवम्, इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार बनती है—विभाव्यन्ते आस्वादाङ्कुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिकरत्यादिभावा एभिः। विभाव के दो प्रकार हैं—आलम्बन और उद्दीपन। (3/32)

विभावना—एक अर्थालङ्कार। जहाँ कारण के विना ही कार्य की उत्पत्ति प्रदर्शित की जाये, वहाँ विभावना अलङ्कार होता है—विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते। यहाँ विना कारण के कार्य की उत्पत्ति का अर्थ है—प्रसिद्ध कारण से व्यतिरिक्त किसी अन्य कारण का होना। वह अन्य कारण यदि बता दिया गया हो तो उक्तनिमित्ता और यदि वह न बताया गया हो तो अनुक्तनिमित्ता विभावना होती है। यथा—अनायासकृशं मध्यमशङ्कतरले दृशौ। अभूषणमनोहारि वपुर्वयसि सुभ्रुवः।। इस पद्य में 'वयसि' पद के द्वारा कटि के कृश होने, नेत्रों के चञ्चल होने तथा शरीर के मनोहर होने का कारण बता दिया गया है, अतः यह उक्तनिमित्ता विभावना है। यदि चतुर्थ चरण में 'वपुर्भाति मृगीदृशः' ऐसा पाठ हो तो कारण का उपन्यास नहीं हो पायेगा, अतः यह अनुक्तनिमित्ता का उदाहरण हो जायेगा। (10/87)

विभावानुभावयोः कृच्छ्रादाक्षेपः— एक काव्यदोष। जहाँ विभावानुभावों का कठिनता से ज्ञान हो, यथा—धवलयति शिशिररोचिषि भुवनतलं लोकलोचनानन्दे। ईषत्क्षिप्तकटाक्षा स्मेरमुखी सा निरीक्ष्यतां तन्वी।। यहाँ शृङ्गार का उद्दीपक चन्द्रमा तथा आलम्बन नायिका है। इनसे अनुभावों की कल्पना कठिनता से होती है। परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलतितरां परिवर्तते च भूयः। इति बत विषमा दशाऽस्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः।। इस पद्य में जिन अनुभावों का वर्णन है, वे शृङ्गार और करुण दोनों में होते हैं, अतः यह विदित नहीं हो पाता कि नायिका कामिनी है अथवा विरहिणी। यह रसदोष है। (7/6)

विभ्रमः—नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। प्रिय के आगमन के समय हर्ष, राग आदि के कारण शीघ्रतावश अस्थान पर भूषणादि धारण कर लेना

विभ्रम कहलाता है–त्वरया हर्षरागादेर्दयितागमनादिषु। अस्थाने भूषणादीनां विन्यासो विभ्रमो मतः।। यथा–श्रुत्वाऽऽयान्तं बहिः कान्तमसमाप्तविभूषणा। भालेऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कृतः।। यहाँ नायिका ने सम्भ्रमवश माथे पर अञ्जन, आँखों में महावर तथा कपोल पर तिलक लगा लिया है। (3/121)

विमर्शः–सन्धि का चतुर्थ भेद। इसमें मुख्यफलप्राप्ति का उपाय गर्भसन्धि की अपेक्षा कुछ अधिक उद्भिन्न परन्तु शापादि विघ्नों से युक्त होता है–यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः। शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः।। अ.शा. के चतुर्थाङ्क में शापमोचन के समाधान का उपाय सम्भावित हो जाने पर भी अनसूया की चिन्ता से लेकर शकुन्तला के प्रत्यभिज्ञानपर्यन्त का कथानक अनेक विघ्नों से युक्त है। इसके तेरह अङ्ग हैं–अपवाद, सम्फेट, व्यवसाय, द्रव, द्युति, शक्ति, प्रसङ्ग, खेद, प्रतिषेध, विरोध, प्ररोचना, आदान तथा छादन। कुछ आचार्यों के अनुसार यहाँ अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना और आदान की प्रमुखता है। अन्य अङ्ग गौण हैं। (6/66)

विरहोत्कण्ठिता–नायिका का एक भेद। आने का निश्चय करके भी दैववश जिसका प्रिय न आ पाये, उसके न आने से खिन्न वह नायिका विरहोत्कण्ठिता कही जाती है–आगन्तुं कृतचित्तेऽपि दैवान्नायाति चेत्प्रियः। तदनागमदुःखार्त्ता विरहोत्कण्ठिता तु सा।। यथा– किं रुद्धः प्रियया कदाचिदथवा सख्या ममोद्वेजितः, किं वा कारणगौरवं किमपि यन्नाद्यागतो वल्लभः। इत्यालोच्य मृगीदृशा करतले विन्यस्य वक्त्राम्बुजं, दीर्घं निश्वसितं चिरं च रुदितं क्षिप्ताश्च पुष्पस्रजः।। (3/99)

विरुदम्–गद्यपद्यमयी राजस्तुति। गद्य और पद्य से मिश्रित राजस्तुति विरुद नाम से कही जाती है–गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते। यथा–विरुदमणिमाला। (6/314)

विरुद्धमतिकृत्–एक काव्यदोष। विरुद्ध बुद्धि को उत्पन्न करने वाले शब्द विरुद्धमतिकृत् कहे जाते हैं। यथा–भूतयेऽस्तु भवानीशः। इस वाक्य से पार्वती का शिव के अतिरिक्त कोई अन्य पति प्रतीत होता है। यह पददोष समास में ही होता है। (7/3)

विरोधः—प्रतिमुखसन्धि का एक अङ्ग। दुःख की प्राप्ति को विरोध कहते हैं—विरोधो व्यसनप्राप्तिः। यथा—च.कौ. में राजा की यह उक्ति—नूनमसमीक्ष्यकारिणा मयान्धेनेव स्फुरच्छिखा कलापो ज्वलनः पद्भ्यां समाक्रान्तः। (6/89)

विरोधः—एक अर्थालङ्कार। जहाँ जाति का जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य के साथ, गुण का गुण, क्रिया और द्रव्य के साथ, क्रिया का क्रिया और द्रव्य के साथ तथा द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोध आभासित हो वहाँ विरोधालङ्कार होता है—जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः। क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद्द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः। विरुद्धमेव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः। इस प्रकार इसके कुल दश भेद मिष्पन्न होते हैं। यथा—तव विरहे मलयमरुद् दवानलः, शशिरुचोऽपि सोष्माणः। हृदयमलिरुतमपि भिन्ते, नलिनीदलमपि निदाघरविरस्याः।। इस उदाहरण में मलयपवन (जाति) और वन की अग्नि (जाति) का, किरण (जाति) और ऊष्मा (गुण) का, अलिरुत (जाति) और भेदन (क्रिया) का तथा नलिनदल (जाति) और निदाघरवि (द्रव्य) का विरोध प्रतीत होता है जो विरहरूप हेतु की प्रतीति के अनन्तर शान्त हो जाता है।

विभावना में कारण के अभाव में कार्य तथा विशेषोक्ति में कार्य के अभाव में कारण बाध्य प्रतीत होता है परन्तु यहाँ दोनों में ही बाध्यता की प्रतीति होती है। (10/89)

विरोधनम्—विमर्शसन्धि का एक अङ्ग। कार्य में विघ्न का आ पड़ना विरोधन कहा जाता है—कार्यात्ययोपगमनं विरोधनमिति स्मृतम्। वे.सं. में युधिष्ठिर की यह उक्ति इसका उदाहरण है— तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते, कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्ये च याते दिवम्। भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये, सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः।। (6/119)

विलासः—नायक का सात्त्विक गुण। दृष्टि में धीरता, गति में वैचित्र्य तथा स्मितपूर्ण भाषण विलास नामक गुण है—धीरा दृष्टिर्गतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वचः। यथा—दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा, धीरोद्धता नमयतीव

गतिर्धरित्रीम्। कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुतां दधानो, वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एषः।। कुश के विलास को देखकर यह राम की उक्ति है। (3/63)

विलासः–प्रतिमुखसन्धि का एक अङ्ग। रति नामक भाव के विषय अर्थात् स्त्री अथवा पुरुष के लिए अभिलाषा को विलास कहते हैं–समीहा रतिभोगार्था विलास इति कथ्यते। यथा, अ.शा. में दुष्यन्त का यह कथन–कामं प्रिया न सुलभा, मनस्तु तद्भावदर्शनाश्वासि। अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते।। इस पद्य में दुष्यन्त की शकुन्तलाविषयक अभिलाषा प्रकट हुई है। (6/82)

विलासः–नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। प्रिय के दर्शनादि से गति, स्थिति, आसनादि तथा मुख, नेत्रादि की विलक्षणता को विलास कहते हैं–यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्। विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसन्दर्शनादिना। यथा–अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्तवैचित्र्यमुल्लसित विभ्रममायताक्ष्याः।। तद्भूरिसात्त्विकविकारमपास्तधैर्यमाचार्यकं विजयि मान्मथमाविरासीत्।। (3/115)

विलासः–शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

विलासिका–उपरूपक का एक भेद। यह संक्षिप्त कथानक वाली, शृङ्गारबहुला तथा एकाङ्की रचना है। इसमें गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होतीं। सुन्दर वेषादि का विन्यास होता है। यह दसों लास्याङ्गों से युक्त होती है। इसके पात्रों में हीन कोटि का नायक, पीठमर्द तथा विदूषक और विट भी होते हैं–शृङ्गारबहुलैकाङ्का दशलास्याङ्गसंयुता। विदूषकविटाभ्याञ्च पीठमर्देन भूषिता। हीना गर्भविमर्शाभ्यां सन्धिभ्यां हीननायका। स्वल्पवृत्ता सुनेपथ्या विख्याता सा विलासिका।। कुछ आचार्य इसे ही लासिका कहते हैं जबकि अन्य आचार्यों का मत है कि वह उपरूपक का अन्य ही भेद है जिसका दुर्मल्लिका में अन्तर्भाव होता है। (6/296)

विलोभनम्–मुखसन्धि का एक अङ्ग। गुणकथन का नाम विलोभन है–गुणाख्यानं विलोभनम्। यथा वे.सं. में द्रौपदी का यह कथन–नाथ! किं दुष्करं त्वया परिकुपितेन। अ.शा. आदि नाटकों में ग्रीवाभङ्गाभिरामम्० आदि के रूप में मृगादि का जो गुणकथन किया गया है, वह सन्ध्यङ्ग नहीं है क्योंकि उसका बीजार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। (6/72)

विशेषः–एक अर्थालङ्कार। जब आधेय आधार के विना रहे अथवा एक वस्तु अनेक में रहे अथवा कुछ कार्य करते हुए भाग्यवश कोई अन्य अशाक्य कार्य सिद्ध हो जाये तो यह तीन प्रकार का विशेष अलङ्कार होता है–यदाधेयमनाधारमेकं चानेकगोचरम्। किञ्चित्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्येतरस्य वा। कार्यस्य करणं दैवाद् विशेषस्त्रिविधस्ततः। इन तीनों प्रकारों के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं–(1) दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणा येषाम्। रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिव कवयो न ते वन्द्याः।। (2) कानने सरिदुद्देशे गिरीणामपि कन्दरे। पश्यन्त्यन्तकसङ्काशं त्वामेकं रिपवः पुरः।। (3) गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ। करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्।। इनमें से प्रथम पद्य में कवियों के न रहने पर भी उनकी वाणी की स्थिति का वर्णन किया गया है। द्वितीय पद्य में एक ही राजा की यमराज के तुल्य वन, नदी, पर्वत, कन्दरादि सब स्थलों पर स्थिति प्रदर्शित की गयी है तथा तृतीय पद्य में एक इन्दुमती के साथ अनेक वस्तुओं का हरण होता हुआ निरूपित किया गया है। (10/96)

विशेषणम्–एक नाट्यलक्षण। अनेक प्रसिद्ध वस्तुओं को कहकर पुनः किसी विशिष्ट कथन को विशेषण कहते हैं–सिद्धानर्थान्बहूनुक्त्वा विशेषोक्तिर्विशेषणम्। यथा–तृष्णापहारी विमलो द्विजावासो जनप्रियः। ह्रदः पद्माकरः किन्तु बुधस्त्वं स जलाशयः।। इस पद्य में श्लेष द्वारा राजा और जलाशय के विषय में अनेक प्रसिद्ध कथन करके 'बुधस्त्वं स जलाशयः' के रूप में राजा का वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया गया है। (6/188)

विशेषे-अविशेषत्वम्–एक काव्यदोष। जहाँ अल्पव्यापक किसी विशेष शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए वहाँ बहुव्यापक सामान्य शब्द के प्रयोग में यह दोष होता है। यथा–यान्ति नीलनिचोलिन्या रजनीष्वभिसारिकाः। यहाँ अभिसारिकाओं का वर्णन है, अतः काली रात्रि का वाचक कोई विशेष तमिस्रादि शब्द प्रयुक्त करना चाहिए। सामान्य रात्रि का वाचक रजनी शब्द दोषावह है। यह अर्थदोष है। (7/5)

विशेषोक्तिः–एक अर्थालङ्कार। कारण के होने पर भी कार्य का न होना विशेषोक्ति अलङ्कार है–सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिः। इस वैशिष्ट्य

का कारण यदि बता दिया जाये तो उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति होती है, अन्यथा अनुक्तनिमित्ता। अचिन्त्यनिमित्ता अनुक्तनिमित्ता में ही गतार्थ हो जाती है। धनिनोऽपि निरुन्मादा युवानोऽपि न चञ्चलाः। प्रभवोप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः।। इस पद्य में महामहिमशालित्वरूप निमित्त का कथन कर दिया गया है। चतुर्थ पद यदि 'कियन्तः सन्तिः भूतले' इस प्रकार परिवर्तित कर दिया जाये तो यह अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण बन जाता है। (10/88)

विषमम्–एक अर्थालङ्कार। कारण और कार्य के गुण और क्रियायें यदि विरुद्ध हों अथवा आरब्ध कार्य विफल हो जाये और कोई अनर्थ आ पड़े अथवा दो विरूप पदार्थों का मेल हो तो विषम अलङ्कार होता है–गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः। यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः। विरूपयोः सङ्घटना या च तद्विषमं मतम्। यथा–सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा। तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते।। इस पद्य में तमालनीला (काली) कृपाण से पाण्डु यश की उत्पत्ति प्रदर्शित की गयी है अतः कार्य और कारण के गुण परस्पर विरुद्ध हुए। (10/91)

विषादः–एक व्यभिचारीभाव। कोई उपाय न रह जाने पर उत्साह का क्षीण हो जाना विषाद कहा जाता है। इसमें निश्वास, उच्छ्वास, हृदय का सन्तप्त होना, सहायकों का अन्वेषण आदि होते हैं–उपायाभावजन्मा तु विषादः सत्त्वसंक्षयः। निश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत्।। यथा–एषा कुटिलघनेन चिकुरकलापेन तव निबद्धा वेणिः। मम सखि दारयति दशत्यायसयष्टिरिव कालोरगीव हृदयम्।। (3/176)

विष्कम्भकः–अर्थोपक्षेपक का एक भेद। अङ्क के प्रारम्भ में भूत अथवा भावी कथांशों की सूचना के द्वारा कथानक का संक्षेप करने वाला प्रयोग विष्कम्भक कहा जाता है। यह एक अथवा दो मध्यम कोटि के पात्रों के द्वारा प्रयुक्त होने पर शुद्ध तथा एक मध्यम और एक नीच पात्र के द्वारा प्रयुक्त होने पर सङ्कीर्ण कहा जाता है–वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः। संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः। मध्यमेन मध्यमाभ्यां

वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः। शुद्धः स्यात्स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः।। शुद्ध विष्कम्भक मा.मा. के पञ्चमाङ्क में कपालकुण्डला के द्वारा तथा सङ्कीर्ण रा.अ. ना. में क्षपणक और कापालिक के द्वारा प्रयुक्त किया गया है। यदि कथावस्तु के नीरस पूर्वार्ध को कवि केवल सूचित मात्र करना चाहे तो आमुख के अनन्तर ही विष्कम्भक का प्रयोग किया जा सकता है। ऐसे में इसके पात्रों की सूचना आमुख में कर दी जाती है। यथा–र.ना. में यौगन्धरायण ने आमुख के अनन्तर ही विष्कम्भक का प्रयोग करके भूत कथानक का निर्देश किया है। (6/37)

विसर्पः–एक नाट्यालङ्कार। अनिष्ट फल देने वाले समारब्ध कर्म को विसर्प कहते हैं–विसर्पो यत्समारब्धं कर्मानिष्टफलप्रदम्। यथा–वे.सं. में द्रोण के अपमान पर कृपाचार्य का यह कथन कि–एकस्य तावत्पाकोऽयं दारुणो भुवि वर्त्तते। केशग्रहे द्वितीयेऽस्मिन् नूनं निश्शेषिताः प्रजाः।। (6/222)

विस्मयः–अद्भुतरस का स्थायीभाव। लोकसीमा को अतिक्रान्त करके स्थित अलौकिक सामर्थ्य से युक्त किसी वस्तु को देखने से चित्त विस्तार को प्राप्त होता है। चित्त की यह विस्तृतावस्था ही विस्मय कही जाती है–विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्त्तिषु। विस्फारितश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः। (3/186)

विस्मयः–शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

विस्मृतिः–शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

विहसितम्–हास्य का एक भेद। जहाँ नेत्रविकास, अधरस्फुरण और दाँतों के विलक्षित होने के साथ-साथ हँसते हुए थोड़ा-थोड़ा मधुर स्वर भी सुनाई दे उसे विहसित कहते हैं–मधुरस्वरं विहसितम्। यह मध्यम प्रकृति के लोगों का हास्य है। (3/221)

विहृतम्–नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। लज्जा के कारण कहने के समय भी बात का न कहना विहृत कहलाता है–वक्तव्यकालेऽप्यवचो व्रीडया विहृतं मतम्। यथा–दूरागतेन कुशलं पृष्टा नोवाच सा मया किञ्चित्। पर्यश्रुणी तु नयने तस्याः कथयाम्बभूवतुः सर्वम्।। (3/124)

वीथी–रूपक का एक भेद। वीथी एकाङ्की रूपक है। इसमें मुख और

निर्वहण सन्धियाँ तथा सभी अर्थप्रकृतियों का निबन्धन होता है। कोई एक उत्तम, मध्यम अथवा अधम कोटि का नायक कल्पित कर लिया जाता है जो आकाशभाषित के द्वारा विचित्र प्रकार के कथोपकथन का प्रयोग करता है। शृङ्गाररस अङ्गी होता है, अतः कैशिकी की प्रधानता स्पष्ट है। अन्य रसों का प्रयोग अङ्गरूप में होता है–वीथ्यामेको भवेदङ्कः कश्चिदेकोऽत्र कल्प्यते। आकाशभाषितैरुक्तैश्चित्रां प्रत्युक्तिमाश्रितः। सूचयेद्भूरि शृङ्गारं किञ्चिदन्यान् रसानपि। मुखनिर्वहणे सन्धी अर्थप्रकृतयोऽखिलाः।। इसके तेरह अङ्ग मनीषियों के द्वारा निर्दिष्ट किये गये हैं–उद्घात्यक, अवलगित, प्रपञ्च, त्रिगत, छल, वाक्केलि, अधिबल, गण्ड, अवस्यन्दित, नालिका, असत्प्रलाप, व्याहार, मृदव। (6/262-63)

वीरः–एक रस। वीर को उत्तम प्रकृति वाले व्यक्तियों की उत्साहात्मक चित्तवृत्ति कहा गया है। रौद्र आदि रसों में जहाँ शत्रु को मारने की इच्छा प्रबल रहती है वहाँ वीररस में केवल उन पर विजयप्राप्ति का भाव ही कल्पित रहता है। इसीलिए इसे उत्तम प्रकृति के व्यक्तियों की चित्तवृत्ति कहा जाता है। इसका आलम्बन विजेतव्य (रावणादि) तथा उसकी चेष्टायें उद्दीपन होती हैं। सहायकों का अन्वेषण आदि इसके अनुभाव तथा धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमाञ्च आदि इसके व्यभिचारीभाव होते हैं। इसका वर्ण सुवर्ण के सदृश तथा देवता महेन्द्र होता है–उत्तमप्रकृतिर्वीरः उत्साहस्थायिभावकः। महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः। आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मताः। विजेतव्यादिचेष्टाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः। अनुभावास्तु तत्र स्युः सहायान्वेषणादयः। सञ्चारिणस्तु धृतिमतिगर्वस्मृतितर्करोमाञ्चाः। स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात्।। वीर रस चार प्रकार का होता है–दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर और दयावीर। (3/228)

वृत्तगन्धिः–गद्य का एक प्रकार। पद्य के अंशों से युक्त गद्य वृत्तगन्धि कहा जाता है–वृत्तभागयुतं परम् (वृत्तगन्धि)। इस प्रकार के गद्य से पदयोजना में लालित्य आ जाता है। अ.पु. के अनुसार इसकी शब्दावली अत्यन्त कर्कश नहीं होनी चाहिए–वृत्तच्छायाहरं वृत्तगन्धि नैतत्किलोत्कटम्। इसके उदाहरण में विश्वनाथ कविराज ने स्वरचित 'समरकण्डूलनिबिडभुजदण्डकुण्डलीकृत-

कोदण्डशिञ्जिनीटङ्कारोज्जागरितवैरिनगर०, इत्यादि पंक्ति उद्धृत की है। यहाँ 'कुण्डलीकृतकोदण्ड' इस अंश में अनुष्टुप् का एक चरण आपतित है। (6/310)

वृत्तिः—नाट्यवृत्ति। वृत्ति शब्द वृत् से क्तिन् प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है—जिसके द्वारा जीवन के व्यवहार का प्रवर्त्तन किया जाये। वृत्ति शरीर, वाणी और मन का व्यापार ही है जिसका सम्बन्ध प्रधानतः नायक के साथ है परन्तु नायक के सभी व्यापार वृत्ति नहीं कहे जा सकते, अतएव आचार्य धनिक ने उसके साथ 'प्रवृत्तिरूप' विशेषण का प्रयोग किया है—प्रवृत्तिरूपो नेतृव्यापारस्वभावो वृत्तिः। आचार्य विश्वनाथ इसी भाव को 'विशेष' विशेषण के प्रयोग से अभिव्यक्त करते हैं—नायकादिव्यापारविशेषा नाटकादिषु। कवि नायक के इन सब आङ्गिक, वाचिक और मानसिक व्यापारों को अपने मन में रखकर ही कथावस्तु में उसके चरित्र की सृष्टि करता है। अतएव वृत्तियों के लिए 'नाट्यमातृकाः' विशेषण का प्रयोग करना भी साभिप्राय ही है—चतस्रो वृत्तयो ह्येता सर्वनाट्यस्य मातृकाः। इस प्रकार भरत का यह कथन भी समीचीन ही प्रतीत होता है कि इन्हीं चार वृत्तियों में वस्तुतः नाट्य प्रतिष्ठित होता है। ये चार वृत्तियाँ हैं—कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती। (6/143)

वृत्त्यनुप्रासः—अनुप्रास का एक भेद। अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति अथवा अनेक वर्णों की स्वरूपतः व क्रमशः अनेक बार आवृत्ति किं वा एक ही वर्ण की एक बार अथवा अनेक बार आवृत्ति होने पर वृत्त्यनुप्रास नामक अलङ्कार होता है—अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद् वाप्यनेकधा। एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते॥ यथा—उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूताङ्कुर-क्रीडत्कोकिलकाकलीकलकलैरुद्गीर्णकर्णज्वराः। नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षणप्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासैरमी वासराः॥ यहाँ प्रथम चरण में एक 'म' वर्ण की एक ही बार तथा 'ध' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति हुई है। द्वितीय पाद में क तथा ल वर्णों की अनेक बार उसी क्रम से आवृत्ति हुई है तथा चतुर्थ चरण में श, स वर्णों की एक बार केवल स्वरूपतः आवृत्ति है, क्रमशः नहीं। रसानुकूल रचनारूप वृत्ति से अनुगत होने के कारण इसकी संज्ञा वृत्त्यनुप्रास है। (10/5)

वेपथुः–एक सात्त्विक अनुभाव। राग, द्वेष तथा श्रमादि से उत्पन्न अङ्गों के कम्पन को वेपथु कहते हैं–रागद्वेषश्रमादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपथुः। (3/146)

वैदर्भी–रीति का एक प्रकार। माधुर्यव्यञ्जक वर्णों से युक्त, लालित्यपूर्ण तथा समासरहित अथवा अल्पसमासों से युक्त रचना वैदर्भी रीति कही जाती है–माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका। अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते।। यथा–अनङ्गमङ्गलभुवस्तदपाङ्गस्य भङ्गयः। जनयन्ति मुहुर्यूनामन्तः- सन्तापसन्ततिम्।। रुद्रट ने इन गुणों के अतिरिक्त इसमें श्लेषादि दशगुणों की स्थिति भी मानी है। (9/3)

वैवर्ण्यम्–एक सात्त्विक अनुभाव। विषाद, मद, क्रोध आदि के कारण यदि अन्य ही वर्ण मुख से निकलें तो उसे वैवर्ण्य कहते हैं–विषादमदरोषाद्यैर्वर्णान्यत्वं विवर्णता। (3/146)

वैशारद्यम्–शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

व्यङ्ग्यः–अर्थ का एक प्रकार। शब्द की व्यञ्जना शक्ति से बोध्य अर्थ को व्यङ्ग्यार्थ कहते हैं–व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया। (2/6)

व्यञ्जकः–शब्द का एक प्रकार। व्यञ्जना शक्ति जिसका व्यापार है, वह व्यञ्जनोपाधिक शब्द व्यञ्जक कहा जाता है। यह व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराता है। (2/26)

व्यञ्जना–शब्द की एक शक्ति। 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इस सिद्धान्त के अनुसार अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या वृत्तियों के अपना-अपना कार्य समाप्त करके विरत हो जाने पर जिस शक्ति के द्वारा अन्य अर्थ का बोध कराया जाता है, शब्द तथा अर्थ आदि की उस वृत्ति को व्यञ्जना कहते हैं। 'आदि' पद से प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग आदि का बोध होता है–विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः। सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च। यही व्यञ्जना ध्वनन, गमन, प्रत्यायन आदि संज्ञाओं से भी अभिहित होती है। अभिधा और लक्षणा से इसका वैशिष्ट्य यह भी है कि यह शब्द के साथ-साथ अर्थ की भी वृत्ति है। इस प्रकार इसके

दो भेद शाब्दीव्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जना हैं। इनमें से किसी एक के व्यञ्जक होने पर दूसरा उसका सहकारी होता है—एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता। शाब्दी व्यञ्जना भी अभिधामूला तथा लक्षणामूला होने के कारण दो प्रकार की होती है। अर्थ भी वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य तीन प्रकार का होता है, अतः आर्थीव्यञ्जना भी तीन प्रकार की होती है। (2/19, 25)

व्यञ्जनासिद्धिः—'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इस नियम के अनुसार अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या वृत्तियों के अपना-अपना कार्य करके विश्रान्त हो जाने पर रसादि के बोध के लिए कोई चतुर्थ वृत्ति अवश्य ही स्वीकार करनी पड़ती है, वही व्यञ्जना है।

अभिधा केवल सङ्केतित अर्थ का बोध करवाकर विरत हो जाती है, अतः वस्तु, अलङ्कार, रसादि का बोध कराने की उसकी सामर्थ्य नहीं है। और फिर रसादि तो सङ्केतित हो भी नहीं सकते, अतः अभिधावृत्ति के द्वारा उनका बोध भी सम्भव नहीं है। काव्य में प्रयुक्त पदों के द्वारा विभावादि का अभिधान होता है परन्तु विभावादि का अभिधान रसादि का अभिधान नहीं होता क्योंकि ये परस्पर भिन्न हैं। यद्यपि रसादि तथा शृङ्गारादि पद तत्तत् रस में सङ्केतित हैं परन्तु इनका कभी भी स्वशब्द से अभिधान नहीं किया जाता और यदि कहीं ऐसा हो तो उसे दोषकोटि में गिना जाता है बल्कि कहीं-कहीं स्वशब्द से अभिधान होने पर भी रसादि की प्रतीति नहीं होती। रस तो स्वयंप्रकाश है, अतः इसे अभिधा जैसी वृत्ति के द्वारा बोध्य नहीं माना जा सकता।

अभिहितान्वयवादियों के द्वारा स्वीकृत तात्पर्य नामक वृत्ति भी पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध को बोधित करके क्षीण हो जाती है, अतः उससे भी व्यङ्ग्यार्थ का बोध नहीं कराया जा सकता पुनरपि आचार्य धनिक ने व्यञ्जना को तात्पर्य के सीमाविस्तार में ही समाहित करने का प्रयास किया है क्योंकि तात्पर्य कोई तराजू पर तौली हुई वस्तु नहीं है। इसे यावत्कार्यप्रसारी, अर्थात् जितने से प्रयोजन सिद्ध न हो जाये वहीं तक प्रसृत किया जा सकता है। अतः उससे व्यतिरिक्त कोई व्यञ्जकत्व अथवा ध्वनि मानने की आवश्यकता नहीं है परन्तु शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः के सिद्धान्त को मानने वाले आचार्यों को आचार्य धनिक का यह मत स्वीकार्य नहीं हो सका।

इसी तर्क के आधार पर उन आचार्यों के मत का भी खण्डन हो जाता है जो अभिधा के व्यापार को ही दीर्घदीर्घतर मानकर व्यञ्जना के क्षेत्र को उसी में समाहित कर देते हैं–सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः। दूसरे, यदि व्यञ्जना अभिधा का ही दीर्घदीर्घतर व्यापार है तो लक्षणा की भी क्या आवश्यकता है, वह भी अभिधा का ही दीर्घ व्यापार हो सकता है। तीसरे, 'ब्राह्मण! पुत्रस्ते जातः'। अथवा 'कन्या ते गर्भिणी' आदि वाक्यों से उत्पन्न हर्ष और शोक की प्रतीति को भी अभिधा का ही दीर्घदीर्घतर व्यापार क्यों न मान लिया जाये। ऐसी स्थिति में तो हर्षशोकादि भी वाच्य हो जायेंगे। इसलिए मीमांसकों का यह मत अभिनन्दनीय नहीं है।

अन्य अन्विताभिधानवादी मीमांसक 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस न्याय के आधार पर व्यङ्ग्य को अभिधेय ही मानते हैं। उनका यह कथन है कि पौरुषेय और अपौरुषेय सभी वाक्य कार्यपरक होते हैं क्योंकि ऐसा न होने पर उन्मत्तप्रलाप की तरह उनकी कोई उपादेयता ही न रहेगी। इस दृष्टि से काव्य के वक्ता और श्रोता की प्रवृत्ति का फल निरतिशय आनन्दानुभव के अतिरिक्त और कुछ प्रतीत नहीं होता। इसलिए सभी काव्यवाक्यों का तात्पर्य भी निरतिशय सुखास्वादरूप ही माना जाना चाहिए। आचार्य विश्वनाथ ने इस मत का दो विकल्पों के द्वारा खण्डन किया है। इस न्याय में 'तत्परत्व' पद का अर्थ यदि तदर्थत्व माना जाये तो इसका सिद्धान्ती से कोई विरोध नहीं क्योंकि व्यङ्ग्य होने पर भी तदर्थत्व का अपाय नहीं होता। व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा प्रतीयमान निरतिशय आनन्दरूप अर्थ भी तदर्थ हो ही सकता है। दूसरे विकल्प के अनुसार तत्परत्व का अर्थ तात्पर्यवृत्त्या तद्बोधकत्व हो सकता है। इस व्याख्यान के अनुसार तात्पर्यवृत्ति यदि वही पूर्वविवेचित अभिहितान्वयवादियों की ही है तो उसका खण्डन पहले ही किया जा चुका है और यदि यह अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या से व्यतिरिक्त कोई तुरीय वृत्ति है तो विवाद का कोई प्रश्न ही नहीं। अन्तर केवल नाममात्र का है, हम जिसे व्यञ्जना कहते हैं, उसे ही आप तात्पर्य नामक चतुर्थ वृत्ति मानते हैं।

तात्पर्यशक्ति के ही द्वारा विभावादिसंसर्ग और रसादि का प्रकाशन,

ये दानों कार्य युगपत् भी नहीं हो सकते क्योंकि विभावादि कारण और रसादि उसके कार्य हैं। इसका प्रमाण भरतमुनि का प्रसिद्ध रससूत्र है— विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। कार्यकारण की स्थिति दायें और बायें सींग की तरह युगपत् नहीं हो सकती, अतः यह मत भी श्रद्धेय नहीं है।

गङ्गायां घोषः इत्यादि स्थलों में लक्षणा सामीप्यसम्बन्ध से तटरूप अर्थ का बोध कराकर विरत हो चुकी है, अतः शैत्यपावनत्वादि प्रयोजन के बोध के लिए चतुर्थ वृत्ति को स्वीकार करना आवश्यक ही है। दूसरे, अभिधा और लक्षणा पूर्वसिद्ध वस्तु का ही बोध कराती हैं। गङ्गा पद के अभिधेय और लक्ष्य जलप्रवाह और तटरूप दोनों ही अर्थ पूर्वतः सिद्ध हैं परन्तु रस पद का प्रतिपाद्य कोई पदार्थ प्रमाणसिद्ध नहीं है, यह केवल रसनात्मक व्यापार का ही बोधक है—प्रागसत्त्वाद्रसादेर्नो बोधिके लक्षणाभिधे। तीसरे, रसादि की प्रतीति में मुख्यार्थ का बाध भी नियत नहीं है परन्तु लक्षणा तभी होती है जब पदों के सङ्केतित अर्थ का अन्वय उपपन्न नहीं हो पाता। जल प्रवाह घोष का अधिकरण नहीं हो सकता, अतः लक्षणा से तटरूप अर्थ उपस्थित होता है परन्तु शून्यं वासगृहम्० आदि में मुख्यार्थ का बाध ही नहीं होता अतः यहाँ लक्षणा की सम्भावना नहीं है—किञ्च मुख्यार्थबाधस्य विरहादपि लक्षणा (न बोधिका)। इसके समर्थन में उदयनाचार्य की न्या.कु. से एक कारिका उद्धृत की जाती है—श्रुतान्वयादनाकांक्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति। पदार्थान्वयवैधुर्यात्तदाक्षिप्तेन सङ्गतिः।।

गङ्गायां घोषः इत्यादि स्थलों में प्रयोजन को यदि लक्ष्य माना जाये तो फिर तीर को गङ्गापद का मुख्यार्थ मानना होगा। पुनः उस मुख्यार्थ का बाध भी होना चाहिए जबकि ये दोनों ही स्थितियाँ लागू नहीं होतीं। पुनः प्रयोजनवती लक्षणा का कुछ न कुछ प्रयोजन भी अवश्य होता है, अतः शैत्यपावनत्व की प्रतीति यदि लक्ष्य है तो उसका प्रयोजनान्तर भी अवश्य होना चाहिए। वह प्रयोजन भी यदि लक्ष्य हो तो उसके किसी अन्य प्रयोजन की भी सम्भावना करनी होगी, इस प्रकार अनवस्था ही उत्पन्न हो जायेगी।

गङ्गा पद की प्रयोजनविशिष्ट तीर अर्थ में लक्षणा भी नहीं हो सकती

क्योंकि तीर गङ्गापद का विषय है और शैत्यपावनत्वादि उसके प्रयोजन और इन दानों का युगपत् ज्ञान सम्भव नहीं है। प्रथम गङ्गापद की तीर अर्थ में लक्षणा होती है, पुनः व्यञ्जना के द्वारा शैत्यपावनत्व की प्रतीति। यही बात स्वयं मीमांसक और नैयायिकों के सिद्धान्त में मान्य है। मीमांसक वस्तु का प्रत्यक्ष होने के अनन्तर ही उसमें ज्ञातता नामक धर्म की उत्पत्ति मानते हैं तथा न्यायमत में भी घटज्ञान के अनन्तर ही 'ज्ञातो घटः' इत्याकारक अनुव्यवसायात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः गङ्गायां घोषः इत्यादि स्थलों में भी लक्षणा और प्रयोजन की युगपत् स्थिति मान्य नहीं है, अतः प्रयोजन के ज्ञान के लिए तुरीय वृत्ति को मानना अनिवार्य है।

व्यक्तिविवेककार आचार्य महिमभट्ट ने रसादि की प्रतीति को अनुमेय माना है। उनके अनुसार विभावादि की प्रतीति रसादि की प्रतीति का साधन मानी गयी है क्योंकि विभावानुभावव्यभिचारीभाव ही रत्यादि स्थायीभावों के कारण, कार्य और सहकारी हैं। अतएव ये अनुमान से रसादि का बोध कराते हुए रसादि को निष्पन्न करते हैं। इस अनुमानपूर्वक आस्वादनीयता को प्राप्त होकर वही रस कहे जाते हैं। इस प्रकार उनकी प्रतीति में एक क्रम अवश्य आ जाता है, यद्यपि वह संलक्ष्य नहीं होता। अनुमान की यह प्रक्रिया इस प्रकार बनती है–सीता रामविषयकरतिमती, तस्मिन् स्मितकटाक्षादिमत्त्वात्, या नैवं सा नैवं यथा मन्थरा। परन्तु नैयायिकों की इस अनुमान प्रक्रिया से शब्दों अथवा अभिनय आदि से अनुमित रामादि के अनुराग का ज्ञान ही यदि रस के रूप में अभिमत हो तो विवाद का कोई प्रश्न ही नहीं है क्योंकि साहित्यिक सम्प्रदाय में इसे रस माना ही नहीं गया। यहाँ तो रस को स्वयंप्रकाश (जिसे किसी दूसरे प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता) तथा आनन्दरूप माना जाता है। उसे अनुमेय तो इसलिए भी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि हेतु के दूषित होने के कारण उसकी व्याप्ति ही नहीं बन पाती। यत्र यत्रैवंविधानां विभावानुभावसात्त्विकसञ्चारिणामभिधान-मभिनयो वा तत्र तत्र शृङ्गारादिरसाविर्भावः, इस प्रकार की व्याप्ति से रामादि के अनुराग का तो ज्ञान हो सकता है परन्तु स्वयंप्रकाशरूप तथा आनन्दात्मक, सामाजिकों के हृदय में स्थित रस का अनुमान नहीं हो सकता, अतः साध्य की सिद्धि न कर पाने के कारण यह वस्तुतः हेत्वाभास है। प्रथम अनुमान

से रामादि के अनुराग का ज्ञान तथा पुनः द्वितीय अनुमान (अयं सामाजिकः शृङ्गाररसवान् रामादिगतानुरागज्ञानवत्त्वात्, सामाजिकान्तरवत्) से रसादि की अनुमिति भी सम्भव नहीं क्योंकि इसकी व्याप्ति, यत्र यत्र रामादिगतानुराग-ज्ञानं तत्र तत्र रसोत्पत्तिः, भी सर्वथा निर्दुष्ट नहीं है क्योंकि रामादि के अनुराग का ज्ञान प्राप्त करके भी संस्कारहीन लोग रसानुभूति नहीं कर पाते तथा रङ्गभवन में काष्ठकुड्याश्म के समान स्थित रहते हैं।

इसके अतिरिक्त आचार्य महिमभट्ट ने जो भ्रम धार्मिक० आदि पद्यों में प्रतीयमान वस्तु तथा जलकेलि० इत्यादि पद्यों में रूपकालङ्कारादि की अनुमेयता प्रतिपादित की है, वह भी युक्तियुक्त नहीं है। उनका यह अभिप्राय है कि लिङ्ग (हेतु) से लिङ्गी (साध्य) का ज्ञान करना ही अनुमान है परन्तु यह लिङ्ग पक्ष (सन्दिग्धसाध्यवान् यथा पर्वत) तथा सपक्ष (निश्चित साध्यवान् यथा महानस) में अवश्य वर्त्तमान रहता है परन्तु विपक्ष (निश्चित साध्याभाववान् यथा सरोवर) में उसका अभाव रहता है। दूसरी ओर वाच्य से सर्वथा असम्बद्ध अर्थ भी प्रतीत नहीं होता, अन्यथा तो अतिप्रसङ्ग ही उपस्थित हो जायेगा। अतः बोध्य और बोधक में कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य रहता है। इस प्रकार बोधक अर्थ लिङ्ग अर्थात् हेतु हुआ और बोध्य अर्थ उसका साध्य। इस हेतु का पक्षसत्त्व तो प्रतिपादित किया ही, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति यदि न भी प्रतिपादित हो तो सामर्थ्यवश उनका आक्षेप किया जा सकता है। इसलिए वाच्यार्थरूप हेतु से व्यङ्ग्यार्थरूप साध्य का अवगम अनुमान में ही पर्यवसित होता है। इस प्रक्रिया से भ्रम धार्मिक० आदि पद्य में व्यङ्ग्यार्थ के अनुमान की प्रक्रिया यह होगी–धार्मिकः सिंहवद् गोदावरीतीराभ्रमणवान्, भीरुभ्रमणवत्त्वात्, अन्यभीरुवत्। इसकी व्याप्ति यह होगी–यद्यद्भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणानुपब्धिपूर्वकम्। परन्तु इस प्रक्रिया में हेतु के अनैकान्तिक होने के कारण यह वस्तुतः हेत्वाभास है। गोदावरी के किनारे धार्मिक के भ्रमण का निषेध इसलिए अनुमेय होता है कि वह भीरु है परन्तु भीरु व्यक्ति भी गुरु अथवा प्रभु की आज्ञा से अथवा प्रियादि के अनुराग से भययुक्त स्थल पर जाता ही है और फिर सिंहोपलब्धि कुलटा का वक्तव्य है जिसका प्रामाण्य असन्दिग्ध नहीं है। इसलिए यह अनुमान सिद्ध नहीं होता।

जलकेलि० इत्यादि पद्य में स्वदर्शन से चक्रवाकों का वियोग और अदर्शन से उनका संयोग करा देने के कारण राधा के मुख में चन्द्र का अनुमान होता है परन्तु इस प्रकार का वियोग अथवा संयोग अन्य किसी त्रासक पक्षी आदि हेतु से भी उपपन्न हो सकता है, अतः यह हेतु भी अनैकान्तिक होने के कारण हेत्वाभास की कोटि में आता है। 'एवंधोऽर्थ एवंविधार्थबोधक एवं विधार्थत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्' इत्यादि अनुमान की प्रक्रियाओं में हेतु के प्रतिपादक शब्दों से कभी अनिष्टार्थ भी लिया जा सकता है, वे किसी निश्चित अर्थ के निश्चित रूप से वाचक नहीं होते, अतः उन्हें सद्हेतु नहीं कहा जा सकता।

दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि० इत्यादि पद्यों में नलग्रन्थियों के द्वारा देह में खरोंच पड़ने और अकेले नदी में जाने रूप हेतु से परकामुकोपभोगरूप लिङ्गी का अनुमान होता है परन्तु इस प्रकार का गमन अपने पति के स्नेहवश भी हो सकता है, इसलिए यह भी अनैकान्तिक हेतु है।

निश्शेषच्युतचन्दन० आदि पद्य से जो दूती का कामुक के साथ सम्भोग अनुमित होता है, वह व्याख्या भी निर्दुष्ट नहीं है। यदि अनुमितिवादी के मत में यह अनुमान पद्य में प्रतिपाद्य दूती अथवा उस समय सन्निहित अन्य व्यक्तियों को हो रहा हो तो उसमें विवाद का अवकाश ही नहीं है, प्रत्युत सहृदय सामाजिक हैं और उनके विषय में अनुमान की यह प्रक्रिया इसलिए नहीं घटायी जा सकती कि इन शब्दों का प्रयोग होने पर सर्वत्र यह व्यङ्ग्य अभिप्रेत नहीं होता। अतः जहाँ वक्ता का ऐसा अभिप्राय न हो वहाँ भी इसका व्यभिचार होने लगेगा। इसलिए इसकी व्याप्ति नहीं बन सकती। इस प्रकार के स्थलों में यदि वक्ता अथवा उसके मुखादि की आकृतिविशेष को हेतु बनाया जाये तो उसपर आचार्य विश्वनाथ का यह उत्तर है कि ऐसी मुखादि की विशिष्ट दशाओं को शब्द से उपस्थित नहीं किया जा सकता, अतः उनके साथ हेतु को विशेषित नहीं किया जा सकता।

सत्य तो यह है कि कवि की प्रतिभा से प्रसूत काव्यों के विषय में प्रामाण्य सदा सन्दिग्ध ही होता है, अतः हेतु सदा ही सन्दिग्ध बना रहेगा। व्यञ्जनावादी 'अधम' आदि पदों की सहायता से ही पद्य में प्रयुक्त अन्य

पदों के अर्थों में व्यञ्जकत्व मानता है परन्तु कवि के कह देने मात्र से ही वह कान्त अधम नहीं हो जाता। अतः काव्यानुभूति के सन्दर्भ में अनुमान की कल्पना करना हास्यास्पद ही है।

इस प्रकार जब व्यङ्ग्यार्थ का अनुमान ही नहीं हो सकता तो अर्थापत्ति से उसका बोध्य होना तो स्वतः ही निरस्त हो जाता है क्योंकि अर्थापत्ति भी व्याप्तिज्ञान के आधार पर ही प्रवृत्त होती है।

वस्त्रविक्रयादि में तर्जनी को दिखाकर जो दशादि की संख्या को सूचित किया जाता है, व्यङ्ग्यार्थ को इस प्रकार से सूचित भी नहीं किया जा सकता क्योंकि यह सूचनबुद्धि भी सङ्केतादि लौकिक प्रमाणों की अपेक्षा रखती है, अर्थात् इस प्रकार का सूचन वहीं होता है जहाँ पहले से ही लोक में सङ्केत प्रसिद्ध होता है, इस प्रकार यह भी एक प्रकार का अनुमान ही है।

संस्कारजन्य होने के कारण रसादि को स्मृति भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रत्यभिज्ञा भी संस्कारजन्य होती है, अतः यह हेतु भी अनैकान्तिक होने के कारण दूषित है।

दुर्गालङ्घित० इत्यादि पद्य में जो आचार्य महिमभट्ट ने व्यङ्ग्यार्थ का निषेध किया है वह गजनिमीलिका ही है क्योंकि उसका द्वितीय अर्थ अनुभवसिद्ध है और उसका अपलाप नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार व्यञ्जनानामक तुरीयवृत्ति को मानना अनिवार्य हो जाता है क्योंकि रसादि की अनुभूति अनुभवसिद्ध है और उसका न तो अभिधा, लक्षणा अथवा तात्पर्या में अन्तर्भाव दिखाया जा सकता है और न ही अनुमान अथवा अर्थापत्ति प्रमाणों से वह बोध्य हो सकती है। विद्वानों ने इस तुर्यावृत्ति को व्यञ्जना का नाम दिया है।

व्यतिरेकः—एक अर्थालङ्कार। उपमेय के उपमान से आधिक्य अथवा न्यूनता के वर्णन में व्यतिरेक अलङ्कार होता है—आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा। व्यतिरेकः...।। यथा—अकलङ्कं मुखं तस्या न कलङ्की विधुर्यथा।

उपमेय के आधिक्य तथा उपमान की न्यूनता का कारण यदि शब्द से कह दिया गया हो, न कहा गया हो, केवल उपमेय के आधिक्य का कारण कहा गया हो अथवा केवल उपमान के आधिक्य का कारण कहा गया हो, इस चार प्रकार के व्यतिरेक में उपमानोपमेयभाव का कथन कहीं शब्द से होता है, कहीं अर्थतः लभ्य होता है तो कहीं आक्षेप से गम्य होता है। इस प्रकार इसके बारह भेद बन जाते हैं जो श्लेष से युक्त अथवा रहित होने के कारण 24 प्रकार के हो जाते हैं। इतने ही भेद उपमान के आधिक्य तथा उपमेय की न्यूनता के कथन में भी होते हैं। इस प्रकार व्यतिरेक के कुल 48 भेद निष्पन्न होते हैं। (10/71)

व्यभिचारीभावः—रस का एक अङ्ग। जो विशेष रूप से अभिमुख होकर स्थायीभाव के प्रति सञ्चरण करें, वे व्यभिचारी कहे जाते हैं—विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः। स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः।। ये चित्त के क्षणिक भाव हैं जो समुद्र में लहरों की तरह स्थायीभाव में आविर्भूत और तिरोभूत होते रहते हैं। ये रत्यादि स्थायीभाव, जो शृङ्गारादि के रूप में अनुभूति का विषय बनते हैं, के सहकारिकारण हैं।

आचार्य भरत के द्वारा प्रवर्तित परम्परा का पालन करते हुए विश्वनाथ ने भी इनकी संख्या 33 ही स्वीकार की है—निर्वेद, आवेग, दैन्य, श्रम, मद, जडता, उग्रता, मोह, विबोध, स्वप्न, अपस्मार, गर्व, मरण, अलसता, अमर्ष, निद्रा, अवहित्त्था, औत्सुक्य, उन्माद, शङ्का, स्मृति, मति, व्याधि, सन्त्रास, लज्जा, हर्ष, असूया, विषाद, धृति, चपलता, ग्लानि, चिन्ता और वितर्क।

यदि कोई स्थायीभाव भी किसी रस के बीच में उत्पन्न होकर लीन हो जाये तो वह भी वहाँ व्यभिचारीभाव हो जाता है। शृङ्गार का स्थायीभाव रति है परन्तु उसके मध्य ही यदि हास नामक स्थायीभाव उत्पन्न होकर विलीन हो जाये तो वह भी उस स्थान पर व्यभिचारी कहा जायेगा। निदर्शन के रूप मेंशृङ्गार और वीर में हास, वीर में क्रोध, शान्त में जुगुप्सा व्यभिचारित्व को प्राप्त हो सकते हैं। किसी कारण से किसी पात्र विशेष में स्थिर होकर भी उन्मादादि व्यभिचारीभाव स्थायी नहीं हो सकते क्योंकि ये किसी पात्र

में आद्यन्त स्थिर नहीं रहते। यथा वि.उ. के चतुर्थ अङ्क में उर्वशी के लतारूप में परिणत हो जाने पर पुरुरवा का उन्माद दूर तक स्थिर रहा परन्तु वह उसका स्थायी स्वभाव नहीं है—कुतोऽपि कारणात्क्वापि स्थिरतामुपयन्नपि। उन्मादादिर्न तु स्थायी न पात्रे स्थैर्यमेति यत्।। इस प्रकार व्यभिचारीभाव चित्त की क्षणिक वृत्तियाँ हैं। (3/147-48)

व्यवसायः—विमर्शसन्धि का एक अङ्ग। प्रतिज्ञा और हेतु से सम्भूत अर्थ को व्यवसाय कहते हैं—व्यवसायश्च विज्ञेयः प्रतिज्ञाहेतुसम्भवः। वे.सं. में भीम का "निहताशेषकौरव्यः क्षीबोदुःशासनासृजा। भङ्क्त्वा दुर्योधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसा नतः।।" यह कथन इसका उदाहरण है। दुर्योधन का ऊरुभङ्ग भीम की प्रतिज्ञा तथा अशेष कौरवों को चूर्णित करना उसका साधक हेतु है। इन दोनों से सम्भूत होने के कारण यहाँ व्यवसाय नामक सन्ध्यङ्ग है। (6/112)

व्याघातः—एक अर्थालङ्कार। जो वस्तु किसी एक ने एक प्रकार से सिद्ध की हो और कोई अन्य व्यक्ति उसे उसी प्रकार से विपरीत सिद्ध कर दे तो यह व्याघात नामक अलङ्कार होता है—व्याघातः स तु केनापि वस्तु येन यथाकृतम्। तेनैव चेदुपायेन कुरुतेऽन्यस्तदन्यथा।। यथा—दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः। विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः।। शङ्कर ने जिस दृष्टि से कामदेव को भस्म किया था, कामिनियों ने उसी दृष्टि से उसे पुनर्जीवित कर दिया।

यदि कोई सुगमता से किसी कार्य को उलट दे तो भी व्याघात ही होता है—सौकर्येण च कार्यस्य विरुद्धं क्रियते यदि। यथा—इहैव त्वं तिष्ठ द्रुतमहमहोभिः कतिपयैः, समागन्ता कान्ते मृदुरसि न चायाससहना। मृदुत्वं मे हेतुः सुभग ! भवता गन्तुमधिकं, न मृद्वी सोढा यद् विरहकृतमायासमसहम्।। यहाँ नायक ने नायिका की जिस मृदुता को साथ न ले जाने का तर्क बनाया था, नायिका ने उसी तर्क को साथ जाने का प्रबलतर हेतु बना लिया है। (10/97-98)

व्याजस्तुतिः—एक अर्थालङ्कार। यदि निन्दा के वाच्य होने पर स्तुति (व्याजेन स्तुतिः) व्यङ्ग्य हो और स्तुति के वाच्य होने पर निन्दा (व्याजरूपा

स्तुति:) व्यङ्ग्य हो तो व्याजस्तुति नामक अलङ्कार होता है–निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयो:। इसके इन दोनों रूपों के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं–स्तनयुगमुक्ताभरणाः कण्टककलिताङ्गयष्टयो देव। त्वयि कुपितेऽपि प्रागिव विश्वस्ता द्विट्स्त्रियो जाता:।। तथा, व्याजस्तुतिस्तव पयोद मयोदितेयं यज्जीवनाय जगतस्तव जीवनानि। स्तोत्रं तु ते महदिदं घन धर्मराजसाहाय्यमर्जयसि यत्पथिकान्निहत्य।। (10/78)

व्याजोक्ति:–एक अर्थालङ्कार। प्रकट हुई वस्तु का किसी बहाने से छुपाना व्याजोक्ति कहलाता है–व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुन:। यथा–शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढ़ोल्लसद्, रोमाञ्चादि विसंस्थुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुल:। आः शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं, शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद् वः शिव:।। विवाहसंस्कार के समय पार्वती के करस्पर्श से होने वाले रोमाञ्च को छिपाने के लिए शिव ने "हिमाचल में बहुत शैत्य है" ऐसा कहा परन्तु हँसते हुए मातृमण्डल के द्वारा वे देख लिये गये।

यहाँ उपमेय का कथन नहीं है, इसलिए प्रथम अपह्नुति नहीं हो सकती। द्वितीय अपह्नुति में तो गोप्ता गोप्य वस्तु का स्वयं कथन कर देता है, फिर छिपाता है। यहाँ ऐसी बात नहीं है। (10/120)

व्याधि:–एक व्यभिचारीभाव। वात, पित्त और कफ के सन्निपात से ज्वर आदि का होना व्याधि कहा जाता है। यह ज्वर यदि सदाह हो तो भूमि पर लेटने आदि की इच्छा होती है और यदि सशीत हो तो कम्प आदि होते हैं–व्याधिर्ज्वरादिवाताद्यैर्भूमीच्छोत्कम्पनादिकृत्। (3/171)

व्याधि:–पूर्वराग में काम की अष्टम दशा। दीर्घ निश्वास, पाण्डुता, कृशता आदि व्याधि कहे जाते हैं–व्याधिस्तु दीर्घनिश्वासपाण्डुताकृशतादय:। यथा–पाण्डुक्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः। आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि ! हृदन्त:।। यहाँ नायिका का पाण्डुक्षाम वदन, सरस हृदय, अलसाया हुआ शरीर उसकी असाध्य व्याधि की सूचना देता है। (3/197)

व्यायोग:–रूपक का एक भेद। एक अङ्क की इस विधा में गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होतीं। युद्ध का वर्णन होता है परन्तु उसका कारण स्त्री

नहीं होती। स्त्रीपात्र अत्यल्प तथा पुरुष पात्र बहुत अधिक होते हैं। नायक प्रख्यात, धीरोद्धत, राजर्षि अथवा दिव्य कोटि का पात्र होता है। क्योंकि स्त्रीपात्रों की संख्या कम होती है, अतः कैशिकी वृत्ति का प्रयोग नहीं होता तथा हास्य, शृङ्गार एवं शान्त के अतिरिक्त कोई रस अङ्गी होता है–ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः स्वल्पस्त्रीजनसंयुतः। हीनो गर्भविमर्शाभ्यां नरैर्बहुभिराश्रितः। एकाङ्कश्च भवेदस्त्रीनिमित्तसमरोदयः। कैशिकीवृत्तिरहितः प्रख्यातस्तत्र नायकः। राजर्षिरथ दिव्यो वा भवेद्धीरोद्धतश्च सः। हास्यशृङ्गारशान्तेभ्य इतरेऽत्राङ्गिनो रसाः।। इसका उदाहरण सौगन्धिकाहरण है। (6/256)

व्याहतत्वम्–एक काव्यदोष। पहले किसी वस्तु का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष दिखाकर फिर उसके विपरीत कथन करना व्याहत दोष है। यथा–हरन्ति हृदयं यूनां न नवेन्दुकलादयः। वीक्ष्यते यैरियं तन्वी लोकलोचनचन्द्रिका।। यहाँ पहले नूतन चन्द्रमा की कला का अपकर्ष द्योतित करके पुनः कामिनी में चन्द्रिकात्व का आरोप करके उसका उत्कर्ष बताया गया है। यह अर्थदोष है। (7/5)

व्याहारः–एक वीथ्यङ्ग। किसी अन्य का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए हास्य अथवा क्षोभकारक वाणी का प्रयोग व्याहार कहा जाता है–व्याहारो यत्परस्यार्थे हास्यक्षोभकरं वचः। यथा मा.अ. नाटक में नृत्य का प्रदर्शन करके जाती हुई मालविका को विदूषक उसे राजा को दिखाने के निमित्त हास्यकारक वचनों का प्रयोग करके कुछ समय रोक लेता है। (6/274)

व्रज्या–सजातीय पद्यों का एकत्र संनिवेश। कोश आदि में परस्पर निरपेक्ष सजातीय पद्यों का एक स्थान पर संनिवेश व्रज्या कहा जाता है–सजातीयानामेकत्र संनिवेशो व्रज्या। (6/309)

व्रीडा–एक व्यभिचारीभाव। दुराचार आदि अकार्य के करने से उत्पन्न होने वाला लज्जा का भाव व्रीडा है। इसमें मुख नीचा हो जाता है, इसीलिए इसे धृष्टता का अभावरूप कहा गया है–धाष्ट्र्याभावो व्रीडा वदनानमनादिकृद् दुराचारात्। यथा–मयि सकपटं किञ्चित्क्वापि प्रणीतविलोचने किमपि नयनं प्राप्ते तिर्यग्विजृम्भिततारकम्। स्मितमुपगतामालीं दृष्ट्वा सलज्जमवाञ्चितं कुवलयदृशः स्मेरं स्मेरं स्मरामि तदाननम्।। (3/173)

शकारः–राजा का सहायक। मदान्ध, मूर्ख, अभिमानी, नीच कुल में उत्पन्न, सम्पत्ति से युक्त, नायक की अविवाहिता पत्नी का भाई, अतएव राजा का साला शकार कहा जाता है–मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्यसंयुक्तः। सोऽयमनूढ़ाभ्राता राज्ञः श्यालः शकार इत्युक्तः।। (3/53)

शक्तिः–विमर्शसन्धि का एक अङ्ग। विरोध के प्रशमन को शक्ति कहते हैं–शक्तिः पुनर्भवेद्‌विरोधस्य प्रशमनम्। इसका उदाहरण वे.सं. का यह पद्य है–कुर्वन्त्वाप्ता हतानां रणशिरसि नरा वह्निसाद्देहभारान्, अस्रैर्मिश्रं कथञ्चिद्ददतु जलममी बान्धवा बान्धवेभ्यः। मार्गन्तां ज्ञातिदेहान् हतनरगहने खण्डितान् गृध्रकाकैः, अस्तं भास्वान्प्रयातः सह रिपुभिरयं संह्रियन्तां बलानि।। (6/115)

शङ्का–एक व्यभिचारीभाव। अपने अनिष्ट के विषय में सन्देह का नाम शङ्का है जो दूसरे की क्रूरता अथवा अपने किसी दोष के कारण उत्पन्न होती है। इसके द्वारा विवर्णता, कम्पन, स्वरभङ्ग होना, इधर-उधर देखना, मुख का सूखना आदि होता है–परक्रौर्यात्मदोषाद्यैः शङ्कानर्थस्य तर्कणम्। वैवर्ण्यकम्पवैस्वर्य पार्श्वालोकास्यशोषकृत्।। यथा–प्राणेशेन प्रहितनखरेष्वङ्गकेषु क्षपान्ते, जातातङ्का रचयति चिरं चन्दनालेपनानि। धत्ते लाक्षामसकृदधरे दत्तदन्तावघाते, क्षामाङ्गीयं चकितमभितश्चक्षुषी विक्षिपन्ती। इस पद्य में प्रिय के द्वारा दिये गये दन्तक्षत तथा नखक्षत को छुपाने का प्रयास करती हुई नायिका की शङ्का वर्णित हुई है। (3/168)

शठः–नायक का एक भेद। जो वस्तुतः एक नायिका से प्रेम करे परन्तु बाहर से दोनों नायिकाओं के प्रति प्रेम प्रदर्शित करे तथा प्रच्छन्न रूप से दूसरी नायिका का अप्रिय करे, वह शठ नायक होता है–शठोऽयमेकत्र बद्धभावो यः। दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढ़माचरति।। यथा–शठान्यस्याः काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा, यदाश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभवः। तदेतत्क्वाचक्षे धृतमधुमयत्वाद्‌बहुवचो–विषेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति।। (3/45)

शब्दालङ्कारः–अलङ्कार का एक भेद। जहाँ शब्द का परिवर्त्तन कर

देने पर अलङ्कार नष्ट हो जाये, वह शब्दालङ्कार होता है क्योंकि यहाँ अलङ्कार का सौन्दर्य किसी शब्दविशेष पर ही अवलम्बित होता है। सा.द. में इन शब्दालङ्कारों का उल्लेख किया गया है—अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, भाषासम, श्लेष, चित्र, प्रहेलिका (खण्डनपरक)।

शमः—शान्तरस का स्थायांभाव। इच्छाओं के समाप्त हो जाने तथा अन्तःकरण के पूर्ण विश्रान्त हो जाने पर प्राप्त होने वाला सुख शम कहा जाता है—शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम्। (3/186)

शान्तः—एक रस। शम नामक स्थायीभाव जब विभावादि के द्वारा पुष्ट होकर अनुभूति का विषय बनता है तो शान्त नामक रस होता है। अनित्यत्व, दुःखमयत्वादि के रूप में संसार की असारता का ज्ञान अथवा परमात्मा का स्वरूप उसका आलम्बन तथा पुण्याश्रम, हरिक्षेत्र, तीर्थ, रम्य वन, महापुरुषों की सङ्गति आदि उद्दीपन होते हैं। रोमाञ्चादि इसके अनुभाव तथा निर्वेद, हर्ष, स्मृति, मति, भूतदया इसके व्यभिचारीभाव होते हैं। इसका वर्ण कुन्दपुष्प के समान तथा देवता श्रीनारायण हैं—शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः। कुन्देन्दुधवलच्छायः श्रीनारायणदैवतः। अनित्यत्वादिनाशेषवस्तुनिःसारता तु या। परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते। पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः। महापुरुषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः। रोमाञ्चाद्याश्चानुभावास्तथा स्युर्व्यभि-चारिणः। निर्वेदहर्षस्मरणमतिर्भूतदयादयः।। यथा—रथ्यान्तश्चरतस्तथा धृतजरत्कन्यालवस्याध्वगैः। सत्रासं च सकौतुकं च सदयं दृष्टस्य तैर्नागरैः। निर्व्याजीकृतचित्सुधारसमुदा निद्रायमाणस्य मे। निःशङ्कः करटः कदा करपुटीभिक्षां विलुण्ठिष्यति।। इस पद्य में अशेषवस्तुनिःसारता आलम्बन, नागरों के द्वारा उक्त रूप में देखा जाना उद्दीपन, भिक्षार्थ भ्रमणादि अनुभाव तथा रोमाञ्च, हर्षादि व्यभिचारीभाव हैं।

शान्त के सर्वथा निरहङ्काररूप होने के कारण दयावीर आदि तथा देवादिविषया रति आदि में इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। जीमूतवाहन आदि में मलयवतीविषयक प्रेम विद्यमान रहता है, अन्त में वह विद्याधरों का साम्राज्य भी प्राप्त करता है, अतः उसका देहाभिमान पूर्ण रूप से शान्त

नहीं हुआ। दयावीरादि यदि सर्वथा अहङ्काररहित हो जायें तो उनका शान्त में अन्तर्भाव हो सकता है। दुःख, सुख, चिन्ता, द्वेष, राग, इच्छा सबके समाप्त हो जाने पर ही शान्त रस होता है। शान्त दशा में सुख के अभाव से तात्पर्य है विषयों के सुख का अभाव परन्तु यह शम मोक्ष दशा वाला शम नहीं होता, अतएव सञ्चारी आदि भावों की स्थिति यहाँ बन जाती है। युक्त, वियुक्त और युक्तवियुक्त दशा में अवस्थित शम ही शान्त रस के रूप में परिणत होता है। (3/232)

शापजन्यप्रवासः—प्रवासविप्रलम्भ का एक प्रकार। किसी शाप के कारण नायक के अन्य देश में चले जाने पर जो विप्रलम्भ होता है, उसे शापजन्य वियोग कहते हैं। मेघदूतादि इसके उदाहरण हैं। (3/210)

शाब्दीव्यञ्जना—व्यञ्जना का एक भेद। व्यञ्जना की एक विशेषता यह है कि वह शब्द और अर्थ दोनों का व्यापार है। शब्द जिस व्यापार से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराता है उसे शाब्दी व्यञ्जना कहते हैं। यह दो प्रकार की है—अभिधामूला और लक्षणामूला—अभिधालक्षणामूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा। (2/20)

शिल्पकम्—उपरूपक का एक भेद। इसमें चार अङ्क तथा चारों वृत्तियाँ होती हैं और श्मशान आदि का वर्णन अवश्य होता है। इसका नायक ब्राह्मण तथा उपनायक हीन कोटि का होता है। शान्त तथा हास्य के अतिरिक्त सभी रस होते हैं— चत्वारः शिल्पकेऽङ्काः स्युश्चतस्रो वृत्तयस्तथा। अशान्तहास्याश्च रसा नायको ब्राह्मणो मतः। वर्णनात्र श्मशानादेर्हीनः स्यादुपनायकः। इसके सताईस अङ्ग होते हैं—आशंसा, तर्क, सन्देह, ताप, उद्वेग, प्रसक्ति, प्रयत्न, ग्रथन, उत्कण्ठा, अवहित्था, प्रतिपत्ति, विलास, आलस्य, वाष्प, प्रहर्ष, आश्वास, मूढ़ता, साधना, अनुगम, उच्छ्वास, विस्मय, प्राप्ति, लाभ, विस्मृति, सम्फेट, वैशारद्य, प्रबोधन और चमत्कृति (ये संख्या में अठाईस बनते हैं) इसका उदाहरण कनकवतीमाधव है। (6/295)

शुद्धालक्षणा—लक्षणा का एक भेद। चार प्रकार की सारोपा तथा चार

प्रकार की साध्यवसाना, यह आठ प्रकार की लक्षणा सादृश्य से इतर किसी सम्बन्ध से युक्त हो तो शुद्धा लक्षणा होती है–सादृश्येतरसम्बन्धाः शुद्धास्ताः सकला अपि। इस प्रकार शुद्धा लक्षणा आठ प्रकार की होती है– (1) रूढि-उपादापनसारोपाशुद्धा–अश्वः श्वेतो धावति। (2) रूढ़िलक्षणसारोपाशुद्धा–कलिङ्गः पुरुषो युध्यते। (3) प्रयोजनउपादानसारोपाशुद्धा–एते कुन्ताः प्रविशन्ति। (4) प्रयोजनलक्षणसारोपाशुद्धा–आयुर्घृतम्। (5) रूढ़िउपादान-साध्यवसानाशुद्धा–श्वेतो धावति। (6) रूढ़िलक्षणसाध्यवसानाशुद्धा–कलिङ्गः साहसिकः। (7) प्रयोजनउपादानसाध्यवसानाशुद्धा–कुन्ताः प्रविशन्ति। (8) प्रयोजनलक्षणसाध्यवसानाशुद्धा–गङ्गायां घोषः। (2/14)

शृङ्गारः–एक रस। शृङ्ग शब्द का अर्थ होता है काम का अङ्कुरित हो जाना। गत्यर्थ ∅ऋ से अण् प्रत्यय होकर आर शब्द बनता है। इस प्रकार शृङ्गार का अर्थ होता है–कामभाव की प्राप्ति। यह शृङ्गार उत्तम कोटि के युवक व युवतियों का स्वभाव है–शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः। उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार इष्यते।। इसका स्थायीभाव रति है परन्तु मात्र कामावस्था में जिस रति का अनुभव होता है, उसकी परिणति शृङ्गार नहीं है क्योंकि वह तो व्यभिचारीभाव है। युवक और युवति के चेतना के स्तर पर एक हो जाने को ही स्थायीभाव कहा जा सकता है, जब सम्भोग और वियोग दोनों ही अवस्थाओं में मिलन बना रहता है। इसका वर्ण श्याम है तथा देवता विष्णु। विष्णु को अभिनवगुप्त ने कामदेव माना है। परोढ़ा नायिका तथा सर्वथा अनुरागशून्य वेश्या को छोड़कर शेष नायिकायें तथा दक्षिण आदि नायक इसके आलम्बन होते हैं। चन्द्र, चन्दन, भ्रमरों का गुञ्जन आदि इसके उद्दीपन कहे जाते हैं। उग्रता, आलस्य, मरण और जुगुप्सा के अतिरिक्त निर्वेदादि उनतीस भाव इसके व्यभिचारीभाव हैं। भ्रूविक्षेप, कटाक्षादि इसके अनुभाव हैं–परोढ़ां वर्जयित्वात्र वेश्यां चाननुरागिणीम्। आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः। चन्द्रचन्दनरोलम्बरुताद्युद्दीपनं मतम्। भ्रूविक्षेपकटाक्षादिरनुभावः प्रकीर्तितः। त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिणः। स्थायिभावो रतिः श्यामवर्णोऽयं विष्णुदैवतः।। यथा–शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनैर्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्। विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं, लज्जानम्रमुखी प्रियेण

हसता बाला चिरं चुम्बिता।। इस पद्य में नायक और नायिका आलम्बन, शून्य वासगृह उद्दीपन, लज्जा और हास व्यभिचारीभाव तथा चुम्बन अनुभाव है। इनके द्वारा अभिव्यक्त सहृदयविषयक रतिभाव शृङ्गाररस के रूप को प्राप्त कर रहा है।

यह दो प्रकार का होता है–विप्रलम्भ और सम्भोग। विप्रलम्भ के पुनः चार भेद हैं–पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। (3/189-92)

शोकः–करुण रस का स्थायीभाव। इष्टनाशादि के कारण चित्त का व्याकुल हो जाना शोक कहा जाता है–इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक्। यह भाव मूलतः अर्थप्रधान है। इष्ट व्यक्ति, पुत्रादि ही अभ्यर्थनीय होन के कारण अर्थ कहे जाते हैं। (3/186)

शोभा–नायक का सात्त्विक गुण। शूरता, चतुरता, सत्य, महान् उत्साह, अनुरागिता, नीच में घृणा तथा उच्च में स्पर्धा उत्पन्न करने वाले अन्तःकरण के धर्म को शोभा कहते हे–शूरतादक्षतासत्यं महोत्साहोऽनुरागिता। नीचे घृणाधिके स्पर्धा यतः शोभेति तां विदुः।। (3/62)

शोभा–नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। रूप, यौवन, लालित्य, भोग आदि से उत्पन्न अङ्गों की सुन्दरता शोभा कही जाती है–रूपयौवनलालित्यभोगाद्यैरङ्गभूषणम्। शोभा प्रोक्ता...। यथा–असम्भृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य। कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे।। इस पद्य में यौवन से उत्पन्न शोभा का वर्णन है। (3/107)

शोभा–एक नाट्यलक्षण। शिलष्ट विचित्र अर्थ वाली पदावली में जहाँ प्रसिद्ध अर्थ के साथ अभीष्ट अर्थ भी प्रकाशित किया जाये, उसे शोभा कहते हें–सिद्धैरर्थैः समं यत्राप्रसिद्धोऽर्थः प्रकाशते। शिलष्टलक्षणचित्रार्था सा शोभेत्यभिधीयते।। यथा–सद्वंशसम्भवः शुद्धः कोटिदोऽपि गुणान्वितः। कामं धनुरिव क्रूरो वर्जनीयः सतां प्रभुः।। इस पद्य में प्रसिद्ध धनुष के साथ अप्रसिद्ध क्रूर व्यक्ति का शिलष्ट वर्णन किया गया है। (6/173)

श्रमः–एक व्यभिचारीभाव। रति तथा मार्ग पर चलने आदि से उत्पन्न

होने वाला खेद श्रम कहलाता है। यह दीर्घनिश्वास तथा निद्रा को उत्पन्न करता है—खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासनिद्रादिकृच्छ्रमः। यथा—सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी, सीता जवात्त्रिचतुराणि पदानि गत्वा। गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद्ब्रुवाणा, रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम्।। इस पद्य में शिरीषपुष्प के समान कोमल अङ्गों वाली सीता को वनमार्ग की ओर जाते हुए उत्पन्न होने वाले खेद का वर्णन किया गया है, जिसे देखकर राम के नेत्र भी अश्रुपूरित हो गये। (3/152)

श्रव्यम्—काव्य का एक भेद। काव्य की वह विधा जिसे केवल सुना जा सके, श्रव्य काव्य कही जाती है। यह पद्य और गद्य के रूप में दो प्रकार का होता है—श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा। इन दोनों का मिश्रित रूप चम्पू भी श्रव्य काव्य का तीसरा प्रकार है। (6/301)

श्रीगदितम्—उपरूपक का एक भेद। इसमें एक अङ्क में किसी प्रसिद्ध कथावस्तु का ग्रथन किया जाता है। गर्भ और विमर्श सन्धियों का प्रयोग नहीं होता। भारती वृत्ति का बाहुल्य होता है। इसका नायक प्रसिद्ध और उदात्त होता है तथा नायिका भी प्रसिद्ध होती है—प्रख्यातवृत्तमेकाङ्कं प्रख्यातोदात्तनायकम्। प्रसिद्धनायिकं गर्भविमर्शाभ्यां विवर्जितम्। भारतीवृत्तिबहुलं प्रीतिशब्देन संयुतम्। मतं श्रीगदितं नाम विद्वद्भिरुपरूपकम्।। इसका उदाहरण क्रीडारसातलम् है। कुछ आचार्यों का यह कथन है कि इसमें लक्ष्मी का वेश बनाकर कोई स्त्री कुछ गाती है, अतः यह भारतीवृत्तिप्रधान एकाङ्की है परन्तु इस प्रकार का कोई उदाहरण आचार्य विश्वनाथ को नहीं मिला। (6/293-94)

श्रुत्यनुप्रासः—अनुप्रास का एक भेद। तालु, दन्त आदि एक ही स्थान से उच्चरित व्यञ्जनों की समताश्रुत्यनुप्रास कही जाती है—उच्चार्यत्वद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके। सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते।। यथा—दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः। विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः।। यहाँ जीवयन्ति याः" तथा "जयिनीः" में तालव्य वर्ण प्रयुक्त हुए हैं। आचार्य भोज ने स.क. में इस अलङ्कार की विशेष रूप से प्रशंसा की है। सा.द.कार का कथन है कि सहृदयों के लिए अत्यन्त श्रुतिसुखद होने के कारण इसकी संज्ञा श्रुत्यनुप्रास है। (10/6)

श्रौती–उपमा का एक भेद। जहाँ साम्य शब्द के श्रवणमात्र से ही बोध्य हो जाये, वहाँ श्रौती उपमा होती है। यथा, इव तथा "तत्र तस्येव" (5/1/116) से इव अर्थ में विद्यमान वति प्रत्यय श्रुतिमात्र से ही उमपानोपमेय के सादृश्यसम्बन्ध को बोधित करता है–श्रौती यथेव वा शब्दा इवार्थे वा वतिर्यदि। यह तद्धित, समास अथवा वाक्य में स्थिति के आधार पर तीन प्रकार की हो सकती है। सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य, कुम्भाविव स्तनौ पीनौ। हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले। इस, उदाहरण में तीनों प्रकार की श्रौती उपमायें हैं। 'अम्भोरुहवत्' में 'तत्र तस्येव' सूत्र से तद्धित वति प्रत्यय है। 'कुम्भाविव' में 'इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च' इस वार्त्तिक से समास है तथा श्लोक के उत्तरार्ध में वाक्यगत श्रौती पूर्णोपमा है। (10/20)

श्लेषः–एक शब्दालङ्कार। जहाँ श्लिष्ट शब्दों से अनेक अर्थों का अभिधान हो, वहाँ श्लेष अलङ्कार होता है–श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते। वर्ण, प्रत्यय, लिङ्ग, प्रकृति, पद, विभक्ति, वचन और भाषा के श्लेष से यह आठ प्रकार का होता है। इसी का एक अवान्तर विभाग सभङ्ग, अभङ्ग और उभयात्मक के भेद से भी किया जाता है। ये तीनों भेद उपर्युक्त आठ प्रकार के श्लेषों में समाहित हो जाते हैं तथापि एक अन्य उदाहरण का उपन्यास यहाँ किया जा सकता है–येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरा स्त्रीकृतो, यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत्। यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः, पायात्सः स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः।। येनध्वस्त० आदि में सभङ्ग तथा अन्धक० आदि में अभङ्ग श्लेष है।

यहाँ कुछ आचार्यों का मत है कि केवल सभङ्ग श्लेष ही शब्दश्लेष का विषय हो सकता है क्योंकि यहाँ जिस पद में श्लेष होता है वह उदात्तादि स्वरों के भिन्न होने के कारण भिन्न प्रयत्न से उच्चार्य होता है, अतः जतुकाष्ठन्याय से भिन्न ही होता है। अभङ्गश्लेष तो वस्तुतः अर्थश्लेष है क्योंकि यहाँ जिस पद में श्लेष होता है, वह अभिन्न स्वर होने के कारण एक ही प्रयत्न से उच्चार्य होता है। अतः उससे प्रतीत होने वाले दो अर्थ

वैसे ही हैं जैसे एक वृन्त पर दो फल लगे हों। इसका चमत्कार इन भिन्न प्रतीत होने वाले दो अर्थों पर ही निर्भर करता है, अतः अर्थ पर आश्रित होने के कारण यह अर्थालङ्कार है। इन आचार्यों के मत में अलङ्कार्य-अलङ्करणोपपत्ति आश्रय-आश्रयिभाव पर आधारित है परन्तु सिद्धान्ती को यह पक्ष मान्य नहीं है। इस मत में ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य, दोष, गुण, अलङ्कार की शब्द अथवा अर्थ के रूप में व्यवस्थिति का आधार अन्वयव्यतिरेक है, अर्थात् जो अलङ्कारादि किसी शब्द के रहने पर रहे और उसके न रहने पर न रहे, वह शब्दगत और जो उसके पर्याय के रखने पर भी बना रहे वह अर्थगत होता है। अभङ्गश्लेष में शब्दपरिवृत्ति असह्य होती है। दूसरे, यहाँ शब्दविशेष ही वस्तुतः चमत्कार का हेतु है, इसलिए यह शब्दालङ्कार है। तीसरे, अभङ्गश्लेष के उदाहरण अन्धकक्षय० आदि में जो शब्द की अभिन्नता प्रदर्शित की गयी है उसका 'अर्थभेदेन शब्दभेदः' नियम से विरोध उपस्थित होता है, अतः वह स्वीकार्य नहीं है। और फिर केवल अर्थ के अनुसन्धान की अपेक्षा रखने के कारण ही कोई अर्थालङ्कार नहीं हो जाता क्योंकि इस तर्क से तो अनुप्रासादि भी अर्थगत हो जायेंगे क्योंकि रसापेक्षी होने के कारण अर्थसापेक्षता तो वहाँ भी अभीष्ट होती है। शब्द यदि एक ही प्रयत्न से उच्चरित हो तो भी अनिवार्यरूप से वह अर्थालङ्कार नहीं होता क्योंकि प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ० आदि उदाहरण में 'विधौ' शब्द के उच्चारण में अभिन्न प्रयत्न होने पर भी वह शब्दालङ्कार ही है। अर्थश्लेष तो वहाँ होता है जहाँ शब्द का परिवर्त्तन कर देने पर भी श्लेष बना रहता है। इसका उदाहरण 'स्तोकेनोन्नतिमायाति०' आदि पद्य है। यहाँ 'स्तोक' के स्थान पर 'स्वल्प' पद के रख देने पर भी अलङ्कार बना रहता है। (10/13-15)

श्लेषः—एक अर्थालङ्कार। स्वभाव से ही एकार्थक शब्दों के द्वारा अनेक अर्थों का कथन करना श्लेष है—शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम्।' 'स्वभावादेकार्थैः' पद से शब्दश्लेष तथा 'वाचनम्' पद से श्लेषध्वनि से इसका पार्थक्य द्योतित किया गया है। यथा—प्रवर्तयन्क्रियाः साध्वीर्मालिन्यं हरितां हरन्। महसा भूयसा दीप्तो विराजति विभाकरः। इस पद्य में 'विभाकर' शब्द राजा और सूर्य दोनों का वाचक है। (10/76)

सङ्करः–एक अर्थालङ्कार। एकाधिक अलङ्कारों के अङ्गाङ्गिभाव के रूप में स्थित होने पर, एक ही आश्रय में स्थित होने पर अथवा एकाधिक अलङ्कारों के सन्देह की स्थिति में यह तीन प्रकार का सङ्कर होता है–अङ्गाङ्गित्वेऽलङ्कृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ। सन्दिग्धत्वे च भवति सङ्करस्त्रिविधः पुनः।। इन तीनों प्रकारों के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं–आकृष्टिवेगविगलद्भुजगेन्द्रभोगनिर्मोकपट्टपरिवेष्टनयाम्बुराशेः। मन्थव्यथाव्युपशमार्थमिवाशु यस्य मन्दाकिनी चिरमवेष्टत पादमूले।। इस पद्य में निर्मोकपट्ट का अपह्नव करके उसमें मन्दाकिनी का आरोप किया गया है, अतः अपह्नुति है। मन्दाकिनी की जो पादों के समीप स्थिति है, वही चरणमूलवेष्टन है, अतः श्लेष है। वह श्लेष अतिशयोक्ति का अङ्ग है। वह अशियोक्ति 'मानों मन्मथ की व्यथा को दूर करने के लिए' इस प्रकार उत्प्रेक्षा का अङ्ग है। यह उत्प्रेक्षा समुद्र और मन्दाकिनी के माध्यम से नायकनायिका के व्यवहार को सूचित करती है, अतः समासोक्ति का अङ्ग है। इस प्रकार अनेक अलङ्कारों का अङ्गाङ्गिभाव होने के कारण यहाँ सङ्कर है। अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः। अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः।। इस पद्य में समासोक्ति विशेषोक्ति का अङ्ग है। 'मुखचन्द्रं पश्यामि' यहाँ उपमा अथवा रूपक का सन्देह होता है। (10/128)

सङ्कीर्णत्वम्–एक काव्यदोष। किसी दूसरे वाक्य के पद यदि दूसरे वाक्य में अनुप्रविष्ट हो जायें तो सङ्कीर्णत्व दोष होता है। यथा–चन्द्रं मुञ्च कुरङ्गाक्षि पश्य मानं नभोऽङ्गने। यहाँ 'नभोऽङ्गने चन्द्रं पश्य, मानं मुञ्च' इस प्रकार अन्वय बनता है। क्लिष्टत्व दोष एक ही वाक्य में होता है जबकि सङ्कीर्णत्व में एक वाक्य के पद दूसरे वाक्य में प्रविष्ट हो जाते हैं। यही इन दोनों में भेद है। यह वाक्यदोष है। (7/4)

सङ्केतग्रहः–सा.द.कार के अनुसार सङ्केतग्रह का विषय व्यक्ति की चार उपाधियाँ–जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया हैं। इन्हीं में सङ्केतग्रह होता है, व्यक्ति में नहीं–सङ्केतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च। व्यक्ति में सङ्केतग्रह मानने पर अनेक व्यक्तियों के लिए पृथक्-पृथक् अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी पड़ती है और यदि एक व्यक्ति में सङ्केतग्रह हो जाने पर अन्य व्यक्तियों

की उपस्थिति विना शक्तिग्रह के मानी जाये तो पदार्थोपस्थिति में शक्तिग्रह की कारणता नहीं बन सकेगी, अतः व्यभिचार दोष होगा।

गो आदि व्यक्तियों में रहने वाला उसका गोत्वादि धर्म जाति कहलाता है। पदार्थ में वैशिष्ट्य का आधान करने वाला सिद्ध वस्तुधर्म गुण कहा जाता है जो सजातीय व्यक्तियों को अलग करते हैं। हरि, हर, डित्थ, डवित्थ आदि एक व्यक्तिवाचक पद द्रव्य कहे जाते हैं। पाकादि साध्य वस्तुधर्म को क्रिया कहते हैं। इन्हीं चार उपाधियों में शब्दों का सङ्केत गृहीत होता है। (2/8)

सट्टकम्—उपरूपक का एक भेद। यह सम्पूर्ण रूप से प्राकृत भाषा में निबद्ध रचना है। यहाँ विष्कम्भक और प्रवेशक का प्रयोग नहीं होता तथा अद्भुत रस प्रचुर रूप से विद्यमान रहता है। अङ्कों का विभाजन इसमें 'जवनिका' के नाम से होता है। शेष सभी बातें नाटिका के समान हैं—सट्टकं प्राकृताशेषपाठ्यं, स्यादप्रवेशकम्। न च विष्कम्भकोऽप्यत्र प्रचुरश्चाद्भुतो रसः। अङ्काः जवनिकाख्याः स्युः। स्यादन्यन्नाटिकासमम्। इसका उदाहरण कर्पूरमञ्जरी है। (6/284)

सत्त्वम्—अन्तःकरण की एक स्थिति। अन्तःकरण की वह स्थिति जहाँ रजोगुण और तमोगुण नहीं रहते, सत्त्व कही जाती है—रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते। यह अन्तःकरण का धर्म है जिसमें रस प्रकाशित होता है— सत्त्वं नाम स्वात्मविश्रामप्रकाशकारी कश्चनान्तरो धर्मः।

सन्दानितकम्—तीन पद्यों का समूह। तीन पद्यों में वाक्यार्थ की परिसमाप्ति होने पर सन्दानितक कहा जाता है—सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते। (6/302)

सन्दिग्धत्वम्—एक काव्यदोष। जहाँ अभिप्राय का निश्चय न हो सके वहाँ सन्दिग्धत्व दोष होता है। यथा—अचला अबला वा स्युः सेव्या ब्रूत मनीषिणः। यहाँ प्रकरण के अभाव में यह ज्ञात नहीं हो पाता कि वक्ता शान्त है अथवा शृङ्गारी, इलिए अभिप्राय सन्दिग्ध रह जाता है। यह अर्थदोष है। (7/5)

सन्दिग्धम्—एक काव्यदोष। जहाँ पद के अर्थ के विषय में सन्देह उत्पन्न हो जाये वहाँ सन्दिग्ध दोष होता है। यथा—आशीःपरम्परां वन्द्यां कर्णे

कृत्वा कृपां कुरु। यहाँ 'वन्द्याम्' पद सन्दिग्ध है। इसका अर्थ 'बन्दीभूतायाम्' अथवा 'वन्दनीयाम्' भी हो सकता है। इसका कारण श्लेषादि में बकार और वकार का अभिन्नत्व है। यदि व्याजस्तुति में पर्यवसान हो तो यह गुण ही होता है। यह पददोष है। (7/3)

सन्देशहारकः–दूत का एक प्रकार। जितना कहा जाये उतने ही सन्देश को यथावत् पहुँचा देने वाला सन्देशहारक होता है–यावद्भाषितसन्देशहारः सन्देशहारकः। (3/60)

सन्देहः–शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

सन्देहः–एक अर्थालङ्कार। उपमेय में उपमान के कविप्रतिभाजन्य संशय को सन्देह कहते हैं–सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः। यह संशय यदि अन्त तक बना रहे तो शुद्ध सन्देह, यदि बीच-बीच में कुछ निश्चय सा भी होने लगे तो निश्चयगर्भ और यदि अन्त में सन्देह का निवारण हो जाये तो निश्चयान्त रूप से तीन प्रकार का होता है इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं–(1) किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी, वेलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः। उद्गाढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविश्रम्भिणः, किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृङ्गारिणः।। (2) अयं मार्त्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तभिरितः, कृशानुः किं सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम्। कृतान्तः किं साक्षान्महिषवहनोऽसाविति पुनः, समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः।। (3) किं तावत्सरसि सरोजमेतदारात्, आहो स्विन्मुखमवभासते तरुण्याः। संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चिद्, विब्बोकैर्बकसहवासिनां परोक्षैः।।

"स्थाणुर्वा पुरुषो वा" इत्यादि सन्देह कविप्रतिभोत्त्थ न होने के कारण अलङ्कार नहीं हैं। मध्यं तव सरोजाक्षि, पयोधरभरार्दितम्। अस्ति नास्तीति सन्देहः, कस्य चित्ते न भासते।। इस पद्य में सन्देह न होकर अतिशयोक्ति अलङ्कार है क्योंकि सन्देह केवल वहीं होता है जब उपमेय में उपमान का संशय उत्पन्न हो जाये। इस पद्य में इस प्रकार की कोई बात नहीं है। (10/52)

सन्धिः– रूपक में कार्यावस्था और अर्थप्रकृति को मिलाने वाला तत्त्व। आचार्य भरत ने पाँच अर्थप्रकृतियों तथा पाँच कार्यावस्थाओं के मेल से पाँच सन्धियों की कल्पना की है। पाँच कार्यावस्थाओं के सम्बन्ध से इतिवृत्त के पाँच विभाग होने पर क्रमशः पाँच सन्धियाँ होती हैं। इसका शास्त्रीय लक्षण आचार्य विश्वनाथ ने दशरूपक से ग्रहण किया है– अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति। अर्थात् एक प्रयोजन से अन्वित कथांशों का अवान्तर प्रयोजन के साथ सम्बन्ध सन्धि कहा जाता है–एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्धः सन्धिः। सन्धि के पाँच भेद मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण हैं। (6/61)

सन्धिः–निर्वहणसन्धि का एक अङ्ग। मुखसन्धि में क्षिप्त बीज की पुनरुद्भावना को सन्धि कहते हैं–बीजोपगमनं सन्धिः। यथा वे.सं. में भीम का द्रौपदी के प्रति यह कथन–भवति! यज्ञवेदिसम्भवे! स्मरति भवती यन्मयोक्तम्–चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातः, सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य। स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः।। यहाँ निर्वहण सन्धि में आकर एक बार पुनः बीज की उद्भावना की गयी है। (6/124)

सन्धिविश्लेषः–एक काव्यदोष। प्रगृह्य संज्ञा आदि के कारण किया हुआ सन्धिभङ्ग यदि बार-बार प्रयुक्त हो तो वह दोषावह होता है। छन्दोभङ्ग आदि के वारणार्थ तो यदि एक बार भी सन्धिभङ्ग हो जाये तो वह दोष ही है। यथा–दलिते उत्पले एते अक्षिणी अमलाङ्गि ते। यहाँ बार-बार प्रकृतिभाव हुआ है। तथा, वासवाशामुखे भाति इन्दुश्चन्दनबिन्दुवत्। यहाँ छन्दोभङ्ग को रोकने के लिए भाति और इन्दु में सन्धि नहीं की गयी। यह वाक्यदोष है। (7/4)

सन्ध्यङ्गम्–नाटकीय सन्धि के उपविभाग। नाट्यसन्धियों के विधायक होने के कारण उसके उपविभागों की संज्ञा सन्ध्यङ्ग है। मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण इन पाँच सन्धियों के क्रमशः 12, 13, 12, 13, तथा 14 अङ्ग हैं। इस प्रकार इनकी कुल संख्य 64 है। इनमें से रस के अनुसार अन्य सन्धि के अङ्गों का अन्यत्र भी निवेश हो सकता है। रुद्रटादि के द्वारा

इन्हें अनिवार्य रूप से एक सन्धि के साथ नियत कर देना विश्वनाथ के अनुसार लक्ष्यविरुद्ध होने से अग्राह्य है। सर्वत्र रस की ही प्रधानता है, अतः इसकी अपेक्षा से ही इनका संनिवेश किया जाना चाहिए, केवल शास्त्र का निर्वाह मात्र करने के लिए नहीं–चतुःषष्टिविधं ह्येतदङ्गं प्रोक्तं मनीषिभिः। कुर्यादनियते तस्य सन्धावपि प्रवेशनम्। रसानुगुणतां वीक्ष्य रसस्यैव हि मुख्यता।। वे.सं. में जो दुर्योधन और भानुमती का विप्रलम्भ दिखाया गया है, वह अवसरानुरूप नहीं है।

इन सन्ध्यङ्गों का प्रयोग प्रायः प्रधानपुरुषों नायक, प्रतिनायक, पताकानायक आदि के द्वारा किया जाता है। केवल प्रक्षेप, परिकर और उपन्यास, जिनमें बीजभूत अर्थ अत्यल्प उद्दिष्ट रहता है, अप्रधान पात्रों के द्वारा ही प्रयोग किया जाना उचित है–सम्पादयेतां सन्ध्यङ्गं नायकप्रतिनायकौ। तदभावे पताकाद्यास्तदभावे तथेतरः।।

काव्य में इनकी स्थिति उसी प्रकार अपरिहार्य है जैसे मानवशरीर के विभिन्न अङ्ग उसके कार्यों का सम्पादन करने के लिए आवश्यक हैं। प्रधानरूप से इनके छः प्रयोजन निर्दिष्ट किये जाते हैं–(1) अभीष्ट वस्तु का निर्माण (2) आश्चर्य की प्राप्ति (3) कथानक का विस्तार (4) अनुराग की उत्पत्ति (5) प्रयोग के गोपनीय अंशों का गोपन तथा (6) प्रकाश्य अंशों का प्रकाशन। (6/138-40)

समम्–एक अर्थालङ्कार। योग्य वस्तुओं की अनुरूपता होने के कारण प्रशंसा सम अलङ्कार है–समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः। यथा–शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं, जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा। इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौराः श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः।। इस पद्य में अज और इन्दुमती के संयोग की प्रशंसा चन्द्रिका के मेघमुक्त चन्द्रमा तथा गङ्गा के समुद्र के साथ मिलन के रूप में की गयी है। (10/92)

समयः–निर्वहण सन्धि का एक अङ्ग। दुःख के निकल जाने को समय कहते हैं–समयो दुःखनिर्याणम्। यथा र.ना. में रत्नावली का आलिङ्गन करके देवी वासवदत्ता का यह कथन– समाश्वसिहि भगिनि! समाश्वसिहि। (6/132)

समर्पणम्–भाणिका का एक अङ्ग। कोप या पीडा के कारण उपालम्भयुक्त वचन कहना समर्पण कहलाता है–सोपालम्भवचः कोपपीडयेह समर्पणम्। (6/300)

समवकारः–रूपक का एक भेद। 'समवकीर्यन्ते बहवोऽर्थाः अस्मिन्निति' इस व्युत्पत्ति से जिसमें बहुत प्रकार के अर्थ निबद्ध हों उसे समवकार कहते हैं। यहाँ देवों तथा दैत्यों से सम्बन्धित कथानक तीन अङ्कों में वर्णित होता है। विमर्श के अतिरिक्त चार सन्धियाँ, दो प्रथम अङ्क में तथा एक एक दूसरे और तीसरे अङ्क में निबद्ध होती है। कैशिकी के अतिरिक्त सभी वृत्तियों का प्रयोग होता है। बिन्दु और प्रवेशक नहीं होते। यथासम्भव तेरह वीथ्यङ्ग तथा गायत्री, उष्णिक् आदि विविध छन्दों की योजना की जाती है। प्रथमाङ्क की कथा बारह नाली, द्वितीयाङ्क की तीन तथा तृतीयाङ्क की दो नाली मात्र समय में समाप्त होनी चाहिए (एक नाली दो घड़ी की कही जाती है)। सम्पूर्ण कथानक में तीन प्रकार का शृङ्गार (धर्मशृङ्गार, अर्थशृङ्गार और कामशृङ्गार), तीन प्रकार का कपट (स्वाभाविक, कृत्रिम और दैवज) तथा तीन प्रकार का विद्रव (चेतन, अचेतन तथा चेतनाचेतन [गजादिकृत] वर्णित होता है। बारह प्रख्यात तथा उदात्त देवता और मनुष्य नायक यहाँ निबद्ध होते हैं। उन सब नायकों का फल पृथक्-पृथक् होता है। वीर रस अङ्गी तथा अन्य रस अङ्ग रूप में आते हैं–वृत्तं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम्। सन्धयो निर्विमर्शास्तु त्रयोऽङ्गास्तत्र चादिमे। सन्धी द्वावन्त्ययोस्तद्वदेक एव भवेत्पुनः। नायका द्वादशोदात्ताः प्रख्याता देवदानवाः। फलं पृथक्-पृथक् तेषां वीरमुख्योऽखिलो रसः। वृत्तयो मन्दकौशिक्यो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ। वीथ्यङ्गानि च तत्र स्युर्यथालाभं त्रयोदश। गायत्र्युष्णिङ्मुखान्यत्र छन्दांसि विविधानि च। त्रिशृङ्गारस्त्रिकपटः कार्यश्चायं त्रिविद्रवः। वस्तु द्वादशनाडीभिर्निष्पाद्यं प्रथमाङ्कगम्। द्वितीयेऽङ्के च तिसृभिर्द्वाभ्यामङ्के तृतीयके।। इसका उदाहरण समुद्रमन्थनम् है। (6/257-58)

समाधानम्–मुखसन्धि का एक अङ्ग। बीज के आगमन को समाधान कहते हैं–बीजस्यागमनं यत्तु तत्समाधानमुच्यते। यथा वे.सं. में 'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति॰ आदि भीमसेन की उक्ति में जिस बीज की स्थापना की गयी थी, नेपथ्य के भो भो विराटद्रुपद॰' आदि कथन से वह प्रधान नायक युधिष्ठिर को भी अभिमत हो गया है। इस प्रकार यहाँ बीज का

सम्यक् प्रकार से आधान हो जाने के कारण समाधान नामक सन्ध्यङ्ग है। (6/75)

समाधिः—एक अर्थालङ्कार। देवयोग से प्रस्तुत किसी अन्य वस्तु के कारण यदि प्रस्तुत कार्य और सुकर हो जाये तो समाधि अलङ्कार होता है—समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद्वस्त्वन्तरागमात्। यथा—मानमस्या निराकर्त्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः। उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम्।। मानिनी नायिका का प्रसादन करने के लिए नायक उसके चरणों में गिरा ही था कि दैवयोग से मेघगर्जन हो गया। (10/111)

समाप्तपुनरात्तम्—एक काव्यदोष। एक बार विशेषण और विशेष्य पदों के प्रयोग से वाक्य जब निराकांक्ष हो जाये तो पुनः विशेषण पदों का प्रयोग अनुचित है क्योंकि उसके साथ अन्वय करने के लिए पुनः विशेष्यवाचक पद को उठाना पड़ता है। ऐसी स्थिति में समाप्तपुनरात्त दोष होता है। यथा—नाशयन्तो घनध्वान्तं तापयन्तो वियोगिनः। पतन्ति शशिनः पादा भासयन्तः क्षमातलम्।। यहाँ तृतीय पाद तक वाक्य की समाप्ति हो चुकी थी। चतुर्थ चरण में पुनः विशेषणपद का प्रयोग कर दिया गया है। कहीं-कहीं यह न गुणरूप होता है, न दोषरूप। यह वाक्यदोष है। (7/4)

समासोक्तिः—एक अर्थालङ्कार। जहाँ समान कार्य, लिङ्ग तथा विशेषणों से उपमेय में उपमान के व्यवहार का आरोप किया जाये वहाँ समासोक्ति अलङ्कार होता है—समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः। व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः।। तद्यथा—असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः। अनाक्रम्य जगत्कृत्स्नं नो सन्ध्यां भजते रविः। इस पद्य में सूर्य और सन्ध्या में नायकनायिका के व्यवहार का आरोप किया गया है।

रूपक में उपमान उपमेय के स्वरूप को आच्छादित कर लेता है जबकि समासोक्ति में उपमेय के स्वरूप को आच्छादित किये विना उसे पूर्व अवस्था से विशिष्ट बना देता है। इसीलिए यहाँ केवलमात्र व्यवहार का समारोप होता है, स्वरूप का नहीं। उपमाध्वनि और श्लेष में विशेष्य भी तुल्य रहता है जबकि समासोक्ति में केवल विशेषण ही तुल्य होते हैं। अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुत व्यङ्ग्य होता है जबकि समासोक्ति में अप्रस्तुत व्यङ्ग्य रहता है। (10/74)

समाहितम्–एक अर्थालङ्कार। जहाँ भाव का प्रशम किसी अन्य का अङ्ग बनकर उपस्थित हो, वहाँ समाहित अलङ्कार होता है। यथा–अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः। ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणेक्षणात्।। इस पद्य में मद नामक भाव का प्रशम राजविषयक रतिभाव का अङ्ग है। (10/124 की वृत्ति)

समुच्चयः–एक अर्थालङ्कार। कार्य के साधक किसी एक के होने पर भी खलकपोत न्याय से दूसरा भी उसका साधक हो जाये तो समुच्चयालङ्कार होता है। दो गुणों, दो क्रियाओं अथवा गुण और क्रिया के एकसाथ होने पर भी समुच्चय अलङ्कार होता है–समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके। खले कपोतिकान्यायात्तत्करः स्यात्परोऽपि चेत्। गुणौ क्रिये वा युगपत्स्यातां यद्वा गुणक्रिये।। यथा–हंहो धीर समीर हन्त जननं ते चन्दनक्ष्माभृतो, दाक्षिण्यं जगदुत्तरं परिचयो गोदावरीवारिभिः। प्रत्यङ्गं दहसीति मे त्वमपि चेदुद्दामदावाग्निवत्, मत्तोऽयं मलिनात्मको वनचरः किं वक्ष्यते कोकिलः।। यहाँ पूर्वार्ध में प्रतिपादित सद्हेतु तथा चतुर्थ चरण में प्रतिपादित मत्तादि असद्हेतु मिलकर अङ्गों को जलाने का कार्य कर रहे हैं। अरुणे च तरुणि नयने तव मलिनं च प्रियस्य मुखम्। मुखमानतं च सखि ते ज्वलितश्चास्यान्तरे स्मरज्वलनः।। इस पद्य में पूर्वार्ध में लालिमा और मलिनता रूप गुणों का तथा उत्तरार्ध में नमन और ज्वलन रूप क्रियाओं का समुच्चय है।

समुच्चय में सब कारण एक साथ सम्पन्न होते हैं जबकि समाधि में कार्यसाधक एक हेतु के वर्त्तमान होने पर दैवयोग से कोई दूसरा हेतु भी उपस्थित हो जाता है। यही इन दोनों में भेद है। समुच्चय में अतिशयोक्तिमूलकता अवश्य रहती है जबकि दीपक में इसका अभाव होता है। (10/110)

सम्प्रलापः–पूर्वराग में काम की षष्ठ दशा। प्रिय से समागम न हो पाने के कारण व्याकुल होकर निरर्थक बातें करना प्रलाप कहा जाता है–अलक्ष्यवाक् प्रलापः स्याच्चेतसो भ्रमणाद् भृशम्। यथा–त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत।क्व नीलकण्ठ

व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना।। यहाँ शिव की प्राप्ति न हो पाने के कारण पार्वती के व्याकुल होकर निरर्थक प्रलाप करने का वर्णन है। (3/197)

सम्फेटः–विमर्शसन्धि का एक अङ्ग। क्रोध भरे वचन को सम्फेट कहा जाता है–सम्फेटो रोषभाषणम्। इसका उदाहरण वे.सं. में भीम के क्रोधयुक्त वचन हैं। (6/111)

सम्फेटः–आरभटी वृत्ति का एक अङ्ग। दो क्रुद्ध त्वरायुक्त व्यक्तियों के सङ्घर्ष को सम्फेट कहते हैं–सम्फेटस्तु समाघातः क्रुद्धसत्वरयोर्द्वयोः। यथा, मा.मा. में माधव और अघोरघण्ट का सङ्घर्ष। (6/157)

सम्फेटः–शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

सम्भोगशृङ्गारः–शृङ्गार का एक भेद। जहाँ परस्पर अनुरक्त नायक और नायिका दर्शन, स्पर्श आदि करते है, वह सम्भोग शृङ्गार कहा जाता है। 'आदि' शब्द से अधरपान, चुम्बन आदि का ग्रहण होता है–दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ। यत्रानुरक्तावन्योन्यं सम्भोगोऽयमुदाहृतः।। यथा–शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनैर्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्। विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं, लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता।। इस पद्य में परस्पर अनुरक्त नायक नायिका का दर्शन, चुम्बन आदि का वर्णन है।

छहों ऋतुओं, सूर्य, चन्द्र, उनके उदय और अस्त, जलकेलि, वनविहार, प्रभात, मधुपान, रात्रि, चन्दनादिलेपन, भूषण धारण करना तथा और जो कुछ भी संसार में पवित्र तथा उज्ज्वलवेषात्मक होता है, का यहाँ वर्णन किया जाता है। आचार्य भरत ने भी कहा है कि संसार में जो कुछ भी पवित्र, उज्ज्वल तथा दर्शनीय है, शृङ्गार इन सबका उपमान बनता है अर्थात् वह इन सबसे अधिक प्रशस्त है, इसीलिए इसे उत्तमयुवप्रकृति कहा गया है।

चुम्बन, परिरम्भण आदि के रूप में इसके अनेक भेद हो सकते हैं जिनका परिगणन किया जा पाना भी सम्भव नहीं है, अतः सामान्य रूप से एक प्रकार का सम्भोगश्शृङ्गार ही मान लिया गया है। पूर्वरागादि चार प्रकार

के विप्रलम्भ के अनन्तर वर्णित होने के कारण यह भी चार प्रकार का माना जा सकता है क्योंकि विप्रलम्भ के विना सम्भोग पुष्टि को प्राप्त नहीं करता। जिस प्रकार वस्त्रादि को रंगने से पूर्व उन्हें कषायित कर लिया जाता है उसी प्रकार सम्भोग से पूर्व विप्रलम्भ का वर्णन होता है– न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते। कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान्रागो विवर्धते।। (3/215–17)

सम्भ्रमजन्यप्रवासः–प्रवासविप्रलम्भ का एक प्रकार। देवताओं, मनुष्यों अथवा दिशाओं में उत्पन्न उत्पातादि से सम्भ्रमजन्य विप्रलम्भ उत्पन्न होता है। वि.उ. में पुरुरवा और उर्वशी का विप्रलम्भ इसी प्रकार का है। (3/210)

सहचरभिन्नत्वम्–एक काव्यदोष। उत्कृष्ट और निकृष्ट पदार्थों का एक ही क्रिया में अन्वय कर देना सहचरभिन्नत्व है। यथा–सज्जनो दुर्गतौ मग्नः, कामिनी गलितस्तनी। खलः पूज्यः समज्यायां तापाय मम चेतसः।। यहाँ सज्जन और कामिनी का एक स्थान पर अन्वय तो ठीक है परन्तु उनके साथ खल का उल्लेख अशोभन है। यह अर्थदोष है। (7/5)

सहोक्तिः–एक अर्थालङ्कार। सह शब्दार्थ के बल से जहाँ एक पद दो अर्थों का वाचक हो वहाँ सहोक्ति अलङ्कार होता है परन्तु उसके मूल में अतिशयोक्ति अवश्य रहनी चाहिए–सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः। सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत्। यथा–सहाधरदलेनास्या यौवने रागभाक् प्रियः।

सहोक्ति का अतिशयोक्तिमूलक होना आवश्यक है। लक्ष्मणेन समं रामः काननं गहनं ययौ, यह पंक्ति अशियोक्तिमूलक न होने के कारण ही सहोक्ति भी नहीं है। यह अतिशयोक्ति भी अभेदाध्यवसायमूला अथवा कार्यकारण में पौर्वापर्यविपर्ययमूलक होती है। अभेदाध्यवसाय में भी यह श्लेषमूलक अथवा अश्लेषमूलक हो सकती है। यह मालारूप भी हो सकती है, तद्यथा–सह कुमुदकदम्बैः काममुल्लासयन्तः, सह घनतिमिरौघैर्धैर्यमुत्सारयन्तः। सह सरसिजषण्डैः स्वान्तमामीलयन्तः, प्रतिदिशममृतांशोरंशवः सञ्चरन्ति।। यह आवश्यक नहीं कि यहाँ 'सह' शब्द का साक्षात् प्रयोग ही हो, उसके अर्थ की विवक्षा अवश्य होनी चाहिए। (10/72)

संक्षिप्तिः–आरभटी वृत्ति का एक अङ्ग। शिल्प अथवा किसी अन्य कारण से संक्षिप्त वस्तुरचना को संक्षिप्ति कहते हैं। एक नायक की निवृत्ति में दूसरे नायक अथवा नायक के किसी एक धर्म की निवृत्ति होकर उसमें दूसरे धर्म की स्थापना होने पर भी संक्षिप्ति होती है–संक्षिप्तवस्तुरचना शिल्पैरितरथापि वा। संक्षिप्तिः स्यान्निवृत्तौ च नेतुर्नेत्रन्तरग्रहः।। काष्ठ के हाथी से उदयन का पकड़ा जाना, बाली के स्थान पर सुग्रीव का राज्यारोहण तथा परशुराम में औद्धत्य की निवृत्ति होकर शान्ति की स्थापना इसके उदाहरण हैं। (6/158)

संक्षेपः–एक नाट्यलक्षण। थोड़े में ही अपने आप को समर्पित कर देना संक्षेप कहा जाता है– संक्षेपो यत्तु संक्षेपादात्मान्यार्थे प्रयुज्यते। यथा च.क. नाटिका में राजा का–प्रिये! अङ्गानि खेदयसि किं शिरीष-कुसुमपरिपेलवानि मुधा। अयमीहितकुसुमानां सम्पादयिता तवास्ति दासजनः।। आदि कथन के द्वारा अपने को समर्पित करना। (6/201)

सङ्ग्रहः–गर्भसन्धि का एक अङ्ग। साम और दान से सम्पन्न अर्थ सङ्ग्रह कहा जाता है–सङ्ग्रहः पुनः सामदानार्थसम्पन्नः। यथा, र.ना. में राजा विदूषक को "साधु वयस्य! इदं ते पारितोषिकम्" कहकर कटक प्रदान करता है। (6/101)

संलापः–सात्वती वृत्ति का एक अङ्ग। अनेक भावों की आश्रयभूत गम्भीर उक्ति संलाप कही जाती है–संलापः स्याद्गभीरोक्तिर्नानाभावसमाश्रया। यथा वी.च. में राम और परशुराम के मध्य संवाद में राम की "अयं स किल सपरिवारकार्त्तिकेयविजयावर्जितेन भगवता नीललोहितेन परिवत्सर-सहस्रान्तेवासिने तुभ्यं प्रसादीकृतः परशुः"। यह उक्ति। (6/153)

संलापकम्–उपरूपक का एक भेद। संलापक तीन अथवा चार अङ्कों का उपरूपक है। इसमें नगरविरोध, छल, सङ्ग्राम तथा विद्रव वर्णित होते हैं। भारती और कैशिकी वृत्ति का प्रयोग नहीं किया जाता। इसका नायक पाखण्डी होता है तथा शृङ्गार और करुण के अतिरिक्त कोई रस प्रधान होता है–संलापकेऽङ्काश्चत्वारास्त्रयो वा नायकः पुनः। पाषण्डः स्याद्रस्तत्र शृङ्गारकरुणेतरः। भवेयुः पुरसंरोधच्छलसङ्ग्रामविद्रवाः। न तत्र वृत्तिर्भवति

भारती न च कैशिकी। इसका उदाहरण मायाकापालिकम् है। (6/292)

संशयः—एक नाट्यलक्षण। किसी वाक्य में जब अज्ञात वस्तु के विषय में अनिश्चय को अभिव्यक्त किया जाता है तो वह संशय नामक लक्षण होता है—संशयोऽज्ञाततत्त्वस्य वाक्ये स्याद्यदनिश्चयः। यथा, य.वि. का यह पद्य—इयं स्वर्गादिनाथस्य लक्ष्मीः किं यक्षकन्यका। किं चास्य विषयस्यैव देवता किमु पार्वती।। (6/176)

संसृष्टिः—एक अर्थालङ्कार। जहाँ एकाधिक अलङ्कार परस्पर निरपेक्ष होकर स्थित हों वहाँ संसृष्टि अलङ्कार होता है—मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते। यथा—देवः पायादपायान्नः स्मरेन्दीवरलोचनः। संसारध्वान्त-विध्वंसहंसः कंसनिषूदनः।। यहाँ 'पायादपाया' में यमक तथा श्लोक के उत्तरार्ध में अनुप्रास है, अतः शब्दालङ्कारों की संसृष्टि है। द्वितीय पाद में उपमा तथा उत्तरार्ध में रूपक होने के कारण अर्थालङ्कारों की भी संसृष्टि है। (10/127)

संहारः—भाणिका का एक अङ्ग। कार्य के समापन को संहार कहते हैं—संहार इति च प्राहुर्यत्कार्यस्य समापनम्। (6/300)

साकांक्षता—एक काव्यदोष। जहाँ वाक्य में प्रयुक्त पदों में आकांक्षा पूर्ण रूप से निवृत्त न हो पाये वहाँ साकांक्षता दोष होता है। यथा—ऐशस्य धनुषो भङ्गं क्षत्रस्य च समुन्नतिम्। स्त्रीरत्नं च कथं नाम मृष्यते भार्गवोऽधुना।। यहाँ 'स्त्रीरत्नम्' के साथ 'अपेक्षितुम्' पद की आकांक्षा बनी ही रहती है। यह अर्थदोष है। (7/5)

साङ्गरूपकम्—रूपक का एक भेद। यदि अङ्गी के समस्त अङ्गों का रूपण किया जाए तो साङ्गरूपक होता है—अङ्गिनो यदि साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत्। इसके दो प्रकार है—समस्तवस्तुविषय तथा एकदेशविवर्ति । सभी आरोप्य पदार्थ जब साक्षात् शब्द से बोधित हों तो समस्तवस्तुविषय तथा यदि कुछ शब्दतः उक्त न हों तो वह एकदेशविवर्ति होता है। यथा—रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः। अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे।। यह प्रथम उपभेद का तथा—लावण्यमधुभिः पूर्णमास्यमस्या विकस्वरम्। लोकलोचनरोलम्बकदम्बैः कैर्न पीयते।। यह द्वितीय उपभेद का

उदाहरण है। कहीं-कहीं साङ्गरूपक में भी उपमान श्लिष्ट शब्द से कहे जाते हैं। (10/44-45, 49)

साङ्घात्यः–सात्वती वृत्ति का एक अङ्ग। मन्त्र, अर्थ अथवा दैव शक्ति से किसी समुदाय के भेदन को साङ्घात्य कहते हैं–मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः साङ्घात्यः सङ्घभेदनम्। मु.रा. में चाणक्य ने राक्षस के साथियों को मन्त्र और अर्थ की शक्ति से भिन्न किया। दैवशक्ति से रामायण में रावण और विभीषण के मध्य विरोध हुआ। (6/152)

सात्त्विकः–सत्त्वसम्भूत अनुभाव। सत्त्व से उत्पन्न होने वाले विकार सात्त्विक कहे जाते हैं। यद्यपि रत्यादि के कार्यरूप होने के कारण ये अनुभाव ही हैं तथापि इनके सत्त्वमात्र से उद्‌भूत होने के कारण गोबलीवर्दन्याय से इन्हें भिन्न भी कहा जाता है–विकाराः सत्त्वसम्भूताः, सात्त्विकाः परिकीर्तिताः। सत्त्वमात्रोद्भवत्वात्ते, भिन्ना अप्यनुभावतः।। स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथुः, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय ये आठ सात्त्विक अनुभाव कहे जाते हैं। (3/143-45)

सात्त्विकः–अभिनय का एक प्रकार। सत्त्व से अभिप्राय मन की एकाग्रता से है। एकाग्र मन से वेपथु, स्तम्भ, रोमाञ्च आदि का प्रदर्शन सात्त्विक अभिनय कहा जाता है। (6/3)

सात्वती–एक नाट्यवृत्ति। यह मूलतः मनोव्यापाररूपा वृत्ति है। इसकी उत्पत्ति यजुर्वेद से मानी गयी है। यह सत्त्व, शौर्य, त्याग, दया, आर्जव से युक्त, हर्ष से उत्कट, किञ्चित् शृङ्गार से युक्त, शोकरहित तथा अद्‌भुत रस से सम्पन्न होती है–सात्वती बहुला सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः। सहर्षा क्षुद्र-शृङ्गारा विशोका साद्‌भुता तथा। इसके चार अङ्ग हैं–उत्त्थापक, साङ्घात्य, संलाप और परिवर्त्तक। (6/150)

साधनानुगमः–शिल्पक का एक अङ्ग। (6/295)

साधारणी–नायिका का एक भेद। साधारणी अथवा सामान्या नायिका वेश्या होती है जो धीरा और कलाओं में निपुण होती है। गुणहीन व्यक्तियों से भी वह द्वेष नहीं करती, न गुणी व्यक्तियों में अनुरक्त होती है। केवल धनमात्र को देखकर वह बाहर से अनुराग प्रदर्शित करती है। स्वीकार किये

गये व्यक्ति को भी नष्ट हुए धन वाला समझकर माता अथवा किसी अन्य व्यक्ति द्वारा बाहर निकलवा देती है (धनयुक्त होने पर पुनः संयोग की आकांक्षा से स्वयं नहीं निकालती)। चोर, नपुंसक, मूर्ख, विना परिश्रम से प्राप्त धन वाले, पाखण्डी (छद्मवेशी), प्रच्छन्न कामुक प्रायः इनके प्रिय होते हैं। काम के वशीभूत होकर यह भी कभी-कभी सत्य अनुराग से युक्त होती है परन्तु यह चाहे अनुरक्त हो अथवा विरक्त, इसमें प्रेम अत्यन्त दुर्लभ है—धीरा कलाप्रगल्भा स्याद् वेश्या सामान्यनायिका। निर्गुणानपि न द्वेष्टि न रज्यति गुणिष्वपि। वित्तमात्रं समालोक्य सा रागं दर्शयेद्बहिः। काममङ्गीकृतमपि परिक्षीणधनं नरम्। मात्रा निष्कासयेदेषा पुनः सन्धानकांक्षया। तस्कराः पुण्ड्रका मूर्खाः सुखप्राप्तधनास्तथा। लिङ्गिनश्छन्नकामाद्या आसां प्रायेण वल्लभाः। एषापि मदनायत्ता क्वापि सत्यानुरागिणी। रक्तायां वा विरक्तायां रतमस्यां सुदुर्लभम्।। रागहीन वेश्या का उदाहरण ल.मे. की मदनमञ्जरी तथा अनुरक्त वेश्या का उदाहरण वसन्तसेना आदि हैं। (3/84-85)

साधारणीकरणम्—विभावादि का व्यापार। आलम्बन और उद्दीपन विभाव काव्य में निबद्ध होकर स्वयं को सहृदय के साथ सम्बद्ध रूप से ही प्रकाशित करते हैं। अतएव सहृदय स्वयं को रामादि से अभिन्न ही मानने लगता है। रसास्वाद के समय विभावादि 'ये अन्य के हैं अथवा अन्य के नहीं हैं, मेरे हैं अथवा मेरे नहीं हैं', इस प्रकार परिच्छिन्न रूप में प्रतीत नहीं होते। सहृदयों में रामादि के साथ इस प्रकार का साधारण्याभिमान हो जाना ही साधारणीकरण व्यापार है। मूलरूप से विभावादिगत होने के कारण ही इसे विभावनव्यापार भी कहते हैं। इसी के बल पर साधारण मनुष्य भी हनुमदादि के समान समुद्रलङ्घनादि दुष्कर व्यापारों में उत्साहित हो जाता है।

यह साधारणीकरण रत्यादि स्थायीभावों का भी होता है क्योंकि रामादि अनुकार्य की सीतादि में रति तथा सहृदय नायक की नायिका में रति यदि साधारण न हो जाये तो शृङ्गारिक प्रसङ्गों से लज्जा, भय आदि उत्पन्न होने लगेंगे। स्वपर का भेद विद्यमान रहने से तो सहृदय और अनुकार्य दोनों का ही रतिभाव सर्वथा अरस्य हो जायेगा। इस प्रकार परम्परया काव्य अथवा नाट्य आदि भी अरसनीय हो जायेंगे। (3/9-12)

साध्यवसाना लक्षणा–लक्षणा का एक भेद। जहाँ विषय को निगीर्ण अर्थात् आच्छादित करके विषयी (उपमान) के साथ उसकी तादात्म्यप्रतीति कराई जाये उसे साध्यवसाना लक्षणा कहते हैं–निगीर्णस्य (अन्यतादात्म्यप्रतीतिकृत्) मता साध्यवसानिका। यथा–सिंहो गच्छति। यहाँ बालक का वाक्य में पृथक् निर्देश नहीं किया गया तथा सिंह के साथ उसकी अभेदप्रतीति करायी गयी है। यह अतिशयोक्ति अलङ्कार का बीज है। यह चार प्रकार की है– (1) रूढ़िउपादानसाध्यवसाना–श्वेतो धावति। (2) रूढ़िलक्षणसाध्यवसाना–कलिङ्गः साहसिकः। (3) प्रयोजनउपादान-साध्यवसाना–कुन्ताः प्रविशन्ति। (4) प्रयोजनलक्षणसाध्यवसाना–गङ्गायां घोषः। (2/13)

साध्वसम्–भाणिका का एक अङ्ग। मिथ्या कथन करना साध्वस कहा जाता है–मिथ्याख्यानं तु साध्वसम्। (6/300)

साम–नायिका का मानभङ्ग करने का एक उपाय। प्रियवचनों का प्रयोग करके नायिका को मनाना साम नामक उपाय है–प्रियवचः साम। (3/208)

सामान्यम्–एक अर्थालङ्कार। समान गुणों के कारण प्रकृत वस्तु का अन्य के साथ तादात्म्य प्रतीत होने पर सामान्य अलङ्कार होता है–सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः। यथा–मल्लिकाचितधम्मिल्लाश्चा-रुचन्दनचर्चिताः। अविभाव्याः सुखं यान्ति चन्द्रिकास्वभिसारिकाः।। इस पद्य में मल्लिका शुभ्र पुष्पों से आचित केश वाली तथा शुक्ल चन्दन से लिप्त सर्वाङ्ग वाली अभिसारिकायें चन्द्रिका के साथ तादात्म्य को प्राप्त हैं, अतः पहचानी नहीं जातीं।

मीलित अलङ्कार में एक वस्तु से दूसरी का तिरोधान हो जाता है जबकि यहाँ तादात्म्य होता है। (10/116)

सामान्यधर्मः–उपमा का एक अङ्ग। उपमेय और उपमान में तुलना के हेतु गुण अथवा क्रिया मनोज्ञत्व आदि सामान्यधर्म कहे जाते हैं–साधारणधर्मो द्वयोः सादृश्यहेतू गुणक्रिये मनोज्ञत्वादि। (10/19 की वृत्ति)

सारः–एक अर्थालङ्कार। वस्तु का उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णित करने में सार अलङ्कार होता है–उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनः सारमुच्यते। यथा–राज्ये

सारं वसुधा, वसुधायामपि पुरं पुरे सौधम्। सौधे तल्पं तल्पे वाराङ्गनानङ्गसर्वस्वम्।। इस पद्य में उत्तरोत्तर राज्य में पृथ्वी, पृथ्वी में नगर, नगर में भवन, भवन में पर्यङ्क तथा पर्यङ्क में कामिनी को सारवती बताया गया है। (10/102)

सारूप्यम्—एक नाट्यलक्षण। अनुरूप वस्तु की सरूपता के कारण चित्त के क्षोभ की वृद्धि को सारूप्य कहते हैं—सारूप्यमनुरूपस्य सारूप्यात्क्षोभवर्धनम्। यथा—वे.सं. में दुर्योधन के भ्रम से युधिष्ठिर का भीम के प्रति क्षुब्ध होकर 'दुरात्मन्! दुर्योधनहतक!॰' आदि कथन। (6/200)

सारोपालक्षणा—लक्षणा का एक भेद। अनिगीर्ण अर्थात् स्पष्टतः उक्त विषय (उपमेय) की अन्य (उपमान) के साथ तादात्म्य प्रतीत कराने वाली लक्षणा सारोपा कही जाती है—विषयस्यानिगीर्णस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत् सारोपा स्यात्। यही रूपक अलङ्कार का बीज है। यह चार प्रकार की है—(1)•रूढ़िउपादानसारोपा—अश्वः श्वेतो धावति। यहाँ अश्व अनिगीर्ण अर्थात् स्पष्टतः उक्त है तथा अपने में विद्यमान श्वेत गुण के साथ उसका तादात्म्य प्रतीत होता है। श्वेत शब्द श्वेतगुणविशिष्ट अर्थ में रूढ़ है तथा तादात्म्यप्रतीति रूप लक्ष्यार्थ के साथ अपने स्वरूप का भी बोध कराता है। अश्व पर श्वेत का आरोप होने के कारण यह सारोपा भी है। (2) रूढ़िलक्षणसारोपा—कलिङ्गः पुरुषो युध्यते। यहाँ कलिङ्ग शब्द कलिङ्गवासी का उपलक्षण मात्र है तथा इस अर्थ में प्रसिद्ध होने के कारण रूढ़ि है। पृथक् रूप से उक्त पुरुष के साथ अभेद प्रतीत होने के कारण सारोपा है। (3) प्रयोजनउपादानसारोपा—एते कुन्ताः प्रविशन्ति। यहाँ सर्वनाम पद 'एतत्' से कुन्तधारी पुरुषों का निर्देश किया गया है और कुन्तों के साथ उनका तादात्म्य प्रतीत होता है। (4) प्रयोजनलक्षणसारोपा—आयुर्घृतम्। यहाँ कारणरूप से आयु का सम्बन्धी 'घृत' उसके साथ तादात्म्य रूप से प्रतीत होता है। यहाँ घृत अन्यापेक्षया विलक्षण रीति से आयु का उपकारक है, यह द्योतित करना उसका प्रयोजन है तथा आयु शब्द आयुष्कारण अर्थ में स्वयं को समर्पित कर रहा है, अतः लक्षणलक्षणा भी है। (2/13)

साहाय्यम्–एक नाट्यालङ्कार। सङ्कट के समय दूसरे के अनुकूल आचरण को साहाय्य कहते हैं–साहाय्यं सङ्कटे यत्स्यात् सानुकूल्यं परस्य च। यथा–वे.सं. में कृपाचार्य का युद्ध में प्रतिकार करने को उद्यत हो जाना–वाञ्छाम्यहमद्य प्रतिकर्त्तुम्। (6/229)

सिद्धिः–एक नाट्यलक्षण। अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि के लिए बहुतों का कथन सिद्धि कहा जाता है–बहूनां कीर्त्तनं सिद्धिरभिप्रेतार्थसिद्धये। यथा–यद्वीर्यं कूर्मराजस्य यश्च शेषस्य विक्रमः। पृथिव्या रक्षणे राजन्नेकत्र त्वयि तत्स्थितम्।। इस पद्य में राजस्तुतिरूप अभिमत अर्थ को सिद्ध करने के लिए 'यद्वीर्यं कूर्मराजस्य' तथा 'यश्च शेषस्य विक्रमः' इन दो अर्थों का कथन किया गया है। (6/190)

सूक्ष्मम्–एक अर्थालङ्कार। आकार अथवा इङ्गित से संलक्षित सूक्ष्म अर्थ जहाँ किसी युक्ति से सूचित किया जाये, वहाँ सूक्ष्म अलङ्कार होता है–संलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थ आकारेणेङ्गितेन वा। कयापि सूच्यते भङ्ग्या यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते।। स्थूलमति वालों के द्वारा लक्षित न होने के कारण इसे सूक्ष्म कहा जाता है। वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्नं कुङ्कुमं कापि कण्ठे। पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख।। मुख पर बहे हुए स्वेदकणों से कुङ्कुम को पुँछा हुआ देखकर नायिका की विपरीत रति समझती हुई किसी सखी ने उसके हाथ पर खड्ग का चिह्न बना दिया। यहाँ आकार से सूक्ष्म अर्थ का ज्ञान करके उसे पुरुषत्व के सूचक खड्गचिह्न से प्रकट किया गया है। इसी प्रकार–सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया। हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्।। इस पद्य में भ्रुकुटिभङ्गादिरूप इङ्गित से विट को सङ्केतकाल का जिज्ञासु समझती हुई किसी विदग्धा ने हँसते नेत्रों से अभिप्राय बताते हुए क्रीडाकमल को बन्द कर दिया। उसके इस व्यापार से रात्रि सङ्केतकाल के रूप में सूचित होती है। (10/119)

सूत्रधारः–नाट्य का व्यवस्थापक। नाट्य के सभी उपकरण सूत्र कहे जाते हैं, उन्हें धारण करने के कारण इसकी संज्ञा सूत्रधार है–नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते। सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते।। रङ्गमञ्च पर उसका

प्रवेश पूर्वरङ्ग के विधान के निमित्त होता है, उसका प्रयोग करके वह रङ्गमञ्च से चला जाता है—पूर्वरङ्गं विधायैव सूत्रधारो निवर्त्तते। उसके अनन्तर उसी के समान गुण और आकार वाला स्थापक आकर काव्यार्थ की स्थापना करता है। (6/12)

सैन्धवम्—एक लास्याङ्ग। जहाँ कोई भ्रष्टसङ्केत सुव्यक्त वीणा आदि के साथ प्राकृत में गीतिका का पाठ करे वह सैन्धव कहा जाता है—कश्चन भ्रष्टसङ्केतः सुव्यक्तकरणान्वितः। प्राकृतं वचनं वक्ति यत्र तत्सैन्धवं विदुः। (6/248)

स्तम्भः—एक सात्त्विक अनुभाव। भय, हर्ष, रोगादि के कारण चेष्टाओं का रुक जाना स्तम्भ कहा जाता है—स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातो भयहर्षामयादिभिः। (3/146)

स्थापकः—काव्यार्थ का स्थापक। यह सूत्रधार के ही समान गुण तथा आकार वाला होता है। आजकल पूर्वरङ्ग का सम्यक् प्रकार से प्रयोग नहीं होता अतः सूत्रधार ही सभी व्यवहारों का स्वयं ही प्रयोग करता है। वस्तुतः शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार यह कार्य स्थापक का होता है। वह दिव्य कथावस्तु की सूचना दिव्य रूप धारण करके, मर्त्यलोक की कथावस्तु की सूचना मनुष्य रूप से तथा दिव्यादिव्य वस्तु की सूचना अन्यतर रूप धारण करके सामाजिकों को देता है। (6/12)

स्थायीभावः—रस का एक अङ्ग। सहृदय के हृदय में मूलरूप से स्थित चित्त की स्थायी वृत्तियाँ स्थायीभाव कही जाती हैं। यही भाव विभावादि के द्वारा संयुक्त होकर तत्तद् रस के रूप में अनुभूति के विषय बनते हैं। इसीलिए यह भाव प्रारम्भ से अन्त तक विद्यमान रहता है तथा विरोधी अथवा अविरोधी भाव इसे दबाने में समर्थ नहीं हो पाते। जैसे माला के अनेक दानों में एक ही सूत्र अनुगत होता है, उसी प्रकार अन्य सभी भावों में अनुगत होने वाला तथा उनसे तिरोहित न होकर परिपोष को प्राप्त करने वाला भाव स्थायी कहा जाता है—अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः। आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः।। रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय तथा शम ये नौ स्थायीभाव कहे जाते हैं। (3/184-85)

स्थितपाठ्यम्—एक लास्याङ्ग। काम से सन्तप्त नायिका जब बैठकर प्राकृत में पाठ करती है तो उसे स्थितपाठ्य कहते हैं —स्थितपाठ्यं तदुच्यते। मदनोत्तापिता यत्र पठति प्राकृतं स्थिता। आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि सकामा नायिका यहाँ उपलक्षणमात्र है। क्रोधोन्मत्त व्यक्ति भी यदि प्राकृत की रचना का पाठ करे तो यह भी स्थितपाठ्य नामक लास्याङ्ग है—उपलक्षणं चैतत्। क्रोधोद्भ्रान्तस्यापि प्राकृतपठनं स्थितपाठ्यमिति। (6/243)

स्पृहा—एक नाट्यालङ्कार। अत्यन्त रमणीयता के कारण वस्तु की आकांक्षा को स्पृहा कहते हैं—आकांक्षा रमणीयत्वाद् वस्तुनो या स्पृहा तु सा। यथा अ.शा. में शकुन्तला का अधरपान करते हुए राजा की यह उक्ति—चारुणा स्फुरितेनायमपरिक्षतकोमलः। पिपासतो ममानुज्ञां ददातीव प्रियाधरः।। (यह पद्य अनेक संस्करणों में नहीं मिलता। इसका स्थान तीसरे अङ्क में नेपथ्योक्ति "चक्रवाकवधूः आमन्त्रयस्व सहचरम्। उपस्थिता रजनी"। से पूर्व है।) (6/216)

स्मरणम्—एक अर्थालङ्कार। सदृश अनुभव से किसी पूर्वानुभूत वस्तु की स्मृति का वर्णन स्मरणालङ्कार होता है—सदृशानुभवाद् वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते। यथा—अरविन्दमिदं वीक्ष्य खेलत्खञ्जनमञ्जुलम्। स्मरामि वदनं तस्याश्चारुचञ्चललोचनम्।। स्मृति नामक सात्त्विक भाव के प्रसङ्ग में उदाहृत मयि सकपटम्० इत्यादि पद्य में वर्णित स्मरण सदृश वस्तु की स्मृति से उत्पन्न नहीं हुआ, अतः वहाँ यह अलङ्कार नहीं है। इस प्रसङ्ग में आचार्य विश्वनाथ ने राघवानन्द महापात्र नामक आचार्य का भी उल्लेख किया है जो विसदृश वस्तु के अनुभव से उत्पन्न होने वाली स्मृति में भी स्मरण अलङ्कार मानते हैं। इस सम्बन्ध में उन्हीं के द्वारा निर्मित पद्य को उदाहृत किया गया है—शिरीषमृद्वी गिरिषु प्रपेदे, यदा यदा दुःखशतानि सीता। तदा तदास्याः सदनेषु सौख्यलक्षाणि दध्यौ गलदश्रु रामः।। (10/40)

स्मितम्—हास्य का एक भेद। जब नेत्रों में कुछ विकास हो और ओष्ठ स्फुरित हों, उसे स्मित कहते हैं—ईषद्विकासिनयनं स्मितं स्यात्स्पन्दिताधरम्। यह उत्तम प्रकृति के लोगों का हास्य है। (3/221)

स्मृतिः—पूर्वराग में काम की तृतीय दशा। किसी अन्य सदृश वस्तु

को देखकर प्रिय अथवा उसकी किसी सदृश वस्तु का स्मरण हो आना स्मृति कहा जाता है। यथा—मयि सकपटं किञ्चित्क्वापि प्रणीतविलोचने, किमपि नयनं प्राप्ते, तिर्यग्विजृम्भिततारकम्। स्मितमुपगतामालीं दृष्ट्वा सलज्जभवाञ्चितं, कुवलयदृशः स्मेरं स्मेरं स्मरामि तदाननम्।। (3/195)

स्मृतिः—एक व्यभिचारीभाव। स्मृति पूर्वानुभूत वस्तु के स्मरण से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है जो उसके सदृश किसी अन्य वस्तु के दर्शन अथवा चिन्तनादि से उत्पन्न होता है। इसमें भौहों का चढ़ना आदि होता है—सदृशज्ञानचिन्ताद्यैर्भ्रूसमुन्नयनादिकृत्। स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञान-मुच्यते।। यथा—मयि सकपटं किञ्चित्क्वापि प्रणीतविलोचने, किमपि नयनं प्राप्ते सलज्जभवाञ्चितं, कुवलयदृशः स्मेरं स्मेरं स्मरामि तदाननम्।। (3/169)

स्वकीया—नायिका का एक भेद। विनय, सरलता आदि गुणों से युक्त, गृहकर्म में परायण पतिव्रता स्त्री स्वकीया कही जाती है—विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया। यथा—लज्जापर्याप्तसाधनानि परभर्तृनिष्पिपासानि। अविनयदुर्मेधांसि धन्यानां गृहे कलत्राणि।। यह मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा के रूप में तीन प्रकार की होती है। (3/69-70)

स्वगतम्—नाट्योक्ति का एक प्रकार। जो कथन किसी दूसरे पात्र को सुनाने योग्य नहीं होता उसे स्वगत कहते हैं—अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्। परन्तु पात्र उस बात को इस प्रकार से प्रस्तुत करता है जिससे उसे सामाजिक सुन लें। (6/161)

स्वप्नः—एक व्यभिचारीभाव। निद्रा में निमग्न पुरुष के विषयानुभव करने का नाम स्वप्न है। इसमें कोप, आवेग, भय, ग्लानि, सुख, दुःखादि होते हैं—स्वप्नो निद्रामुपेतस्य विषयानुभवस्तु यः। कोपावेग-भयग्लानिसुखदुःखादिकारकः।। यथा—मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेष-हेतोर्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसन्दर्शनेषु। पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां, मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति।। मेघदूत के इस पद्य में यक्ष की स्वप्नस्थिति का वर्णन है। (3/158)

स्वभावोक्तिः—एक अर्थालङ्कार। केवल कविमात्र के द्वारा वेद्य बालकादि की चेष्टाओं या उनके स्वरूप के वर्णन को स्वभावोक्ति कहते हैं—स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्। यथा—लाङ्गूलेनाभिहत्य क्षितितल-मसकृद्दारयन्नग्रपद्भ्यां, मात्मन्येवावलीय द्रुतमथ गगनं प्रोत्पतन् विक्रमेण। स्फूर्जद्धुङ्कारघोषः प्रतिदिशमखिलान् द्रावयन्नेव जन्तून्, कोपाविष्टः प्रविष्टः प्रतिवनमरुणोच्छूनचक्षुस्तरक्षुः।। यहाँ तरक्षु (बघेरा) की चेष्टाओं का स्वाभाविक वर्णन है। (10/121)

स्वरभङ्गः—एक सात्त्विक अनुभाव । नशा, हर्ष, पीडा आदि के कारण कण्ठ के अवरुद्ध हो जाने से स्वर का विकृत हो जाना स्वरभङ्ग कहा जाता है, इसे ही गद्गद भी कहते हैं—मदसंमदपीडाद्यैर्वैस्वर्यं गद्गदं विदुः। (3/146)

स्वशब्दवाच्यत्वम् (रसस्य)—एक काव्यदोष। रस का सामान्यवाचक रस शब्द से अथवा विशेष वाचक शृङ्गारादि शब्दों से कथन दोषावह है। यथा—तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं रसो नः कोऽप्यजायत। चन्द्रमण्डलमालोक्य शृङ्गारे मग्नमन्तरम्।। यहाँ पूर्वार्ध में 'रस' तथा उत्तरार्ध में 'शृङ्गार' शब्द से रस का कथन है। यह रसदोष है। (7/6)

स्वशब्दवाच्यत्वम् (स्थायिनः)—एक काव्यदोष। स्थायीभाव का उसके वाचक शब्द से कथन भी दोषकारक माना जाता है। यथा—अजायत रतिस्तस्यास्त्वयि लोचनगोचरे। यहाँ रति नामक स्थायीभाव का स्वशब्द से कथन है। यह रसदोष है। (7/6)

स्वशब्दवाच्यत्वम् (सञ्चारिणः)—एक काव्यदोष । व्यभिचारी-भाव का भी स्वशब्द से कथन दोषकारक है। यथा—जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने। यहाँ लज्जारूपी सञ्चारीभाव का स्वशब्द से कथन है। इसके स्थान पर प्रथम पाद में 'आसीन्मुकुलिताक्षी सा' ऐसा कथन होना चाहिए। जहाँ विभाव और अनुभावों के द्वारा रचना करना उचित न हो वहाँ सञ्चारियों का स्वशब्दवाच्यत्व दोष नहीं होता। यह रसदोष है। (7/6)

स्वाधीनभर्तृका—नायिका का एक भेद। रतिगुण से आकृष्ट प्रिय जिसका सङ्ग न छोड़े, विचित्र प्रकार के विभ्रमों (कामकेलियों) में आसक्त वह नायिका स्वाधीनभर्तृका कही जाती है—कान्तो रतिगुणाकृष्टो न जहाति यदन्तिकम्। विचित्रविभ्रमासक्ता सा स्यात्स्वाधीनभर्तृका।। यथा—अस्माकं सखि वाससी न रुचिरे ग्रैवेयकं नोज्ज्वलं, नो वक्रा गतिरुद्धतं न हसितं नैवास्ति कश्चिन्मदः। किन्त्वन्येऽपि जना वदन्ति सुभगोऽप्यस्याः प्रियो नान्यतो, दृष्टिं निक्षिपतीति विश्वमियता मन्यामहे दुःस्थितम्।। यह नायक नायिका में विशेष विभ्रम न होने पर भी उस पर आसक्त है। (3/88)

स्वेदः—एक सात्त्विक अनुभाव। रति, धूप, श्रमादि के कारण शरीर से निकलने वाले जल को स्वेद कहते हैं—वपुर्जलोद्गमः स्वेदो रतिधर्मश्रमादिभिः। (3/146)

हतवृत्तता—एक काव्यदोष। (1) लक्षणानुसारी होने पर भी जो सुनने में ठीक न लगे, (2) जो रस के अनुकूल न हो तथा (3) जिनके अन्त में ऐसा लघु हो जो गुरुभाव को प्राप्त नहीं हो सकता, वहाँ हतवृत्त नामक दोष होता हैं इसके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—(1) हन्त सततमेतस्या हृदयं भिन्ते मनोभवः कुटिलः। (2) अयि मयि मानिनि मा कुरु मानम्। यह छन्द केवल हास्य रस के वर्णन के लिए ही उपयुक्त है, मानापनोदन जैस कार्यों में इसका प्रयोग दोषावह है। (3) विकसितसहकारभारहारि परिमल एष समागतो वसन्तः। यहाँ प्रथम पाद का अन्तिम वर्ण 'हारि' लघु है जो कथमपि गुरु नहीं हो सकता क्योंकि प्रायः द्वितीय और चतुर्थ पाद का अन्तिम लघु ही विकल्प से गुरु हो सकता है। विषम पादों का अन्तिम लघु केवल वसन्ततिलकादि छन्दों में ही गुरु होता है। यह वाक्यदोष है। (7/4)

हर्षः—एक व्यभिचारीभाव। इष्ट की प्राप्ति होने पर मन का प्रसन्न हो जाना हर्ष कहा जाता है। इसमें आँसु आना और स्वर का गद्गद आदि हो जाना होता है—हर्षस्त्विष्टावाप्तेर्मनः प्रसादोऽश्रुगद्गदकरः। यथा—समीक्ष्य पुत्रस्य चिरात् पिता मुखं निधानकुम्भस्य यथैव दुर्गतः। मुदा शरीरे प्रबभूव नात्मनः पयोधिरिन्दूदयमूर्च्छितो यथा। यहाँ पुत्र का मुख देखकर प्रसन्न हो रहे दिलीप का हर्षभाव वर्णित है। (3/174)

हल्लीशः—उपरूपक का एक भेद। यह लय और ताल से युक्त एकाङ्की उपरूपक है जिसमें सात, आठ अथवा दस स्त्रीपात्र तथा एक ही उदात्त वचन बोलने वाला पुरुष होता है। यह रचना मुख और निर्वहण सन्धि तथा कैशिकी वृत्ति से सम्पन्न होती है—हल्लीश एक एवाङ्कः, सप्ताष्टौ दश वा स्त्रियः। वागुदात्तैकपुरुषः, कैशिकीवृत्तिसङ्कुलः। मुखान्तिमौ तथा सन्धी बहुताललयस्थितिः। इसका उदाहरण केलिरैवतकम् है। (6/299)

हसितम्—नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। यौवन के उद्गम पर उत्पन्न होने वाला अकारण हास हसित कहा जाता है—हसितं तु वृथा हासो यौवनोद्भेदसम्भवः। यथा—अकस्मादेव तन्वङ्गी जहास यदियं पुनः। नूनं प्रसूनबाणोऽस्यां स्वाराज्यमधितिष्ठति।। (3/129)

हसितम्—हास्य का एक भेद। जहाँ नेत्रविकास तथा अधरों के स्फुरण के साथ हँसते हुए दाँत कुछ-कुछ दिखाई दें उसे हसित कहते हैं—किञ्चिद्विलक्ष्यद्विजं तत्र हसितं कथितं बुधैः। यह उत्तम प्रकृति के लोगों का हास्य है। (3/221)

हावः—नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। यह अङ्गज विकार है। भ्रू तथा नेत्रादि के विकारों से सम्भोग की इच्छा का सूचक, मनोविकार का अल्पप्रकाशित भाव ही हाव कहा जाता है—भ्रूनेत्रादिविकारैस्तु सम्भोगेच्छा-प्रकाशकः। भाव एवाल्पसंलक्ष्यविकारो हाव उच्चते।। यथा—विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः। साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन।। (3/105)

हासः—हास्य रस का स्थायीभाव। विकृत वाणी आदि को देखकर उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति की विकसित हो जाने की स्थिति को हास कहते हैं—वागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते। (3/186)

हास्यः—एक रस। हास्य रस का स्थायीभाव चित्त की हास नामक वृत्ति होती है। विकृत आकार, वाणी, वेष, चेष्टा आदि से तथा काँख अथवा गरदन पर गुदगुदाने से यह उत्पन्न होता है। विकृत आकार, वाणी और चेष्टाओं वाले जिस व्यक्ति को देखकर हास्य उत्पन्न हो, वह उसका आलम्बन तथा उसकी चेष्टायें उद्दीपन विभाव होती हैं। इसके अनुभाव नेत्रों का मुकुलित

होना, मुख का विकसित होना आदि हैं। निद्रा, आलस्य, अवहित्त्था आदि इसके व्यभिचारीभाव हैं। इसका वर्ण श्वेत तथा देवता प्रमथ को माना गया है जो शिव के गण है—विकृताकारवाग्वेशचेष्टादेः कुहकाद् भवेत्। हासो हासस्थायिभावः श्वेतः प्रमथदैवतः। विकृताकारवाक्चेष्टं यमालोक्य हसेज्जनः। तमत्रालम्बनं प्राहुस्तच्चेष्टोद्दीपनं मतम्। अनुभावोऽक्षिसङ्कोचवदनस्मेरतादयः। निद्रालस्यावहित्त्थाद्या अत्र स्युर्व्यभिचारिणः।

हास्य के आश्रयभूत नायक का कभी-कभी काव्य में साक्षात् उपनिबन्धन नहीं भी होता, केवल उसके आलम्बन और उद्दीपन ही वर्णित किये जाते हैं फिर भी विभावादि के सामर्थ्य से वह अर्थापत्ति के द्वारा उपलब्ध हो जाता है। पुनः उसके विभावादि के साथ साधारणीकरण करके सहृदय को हास्यरस की अनुभूति होती है।

गुरोगिरः पञ्चदिनान्यधीत्य, वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयं च। अमी समाघ्राय च तर्कवादान्, समागताः कुक्कुटमिश्रपादाः।। इस पद्य में कुक्कुटमिश्र महोदय हास्य का आलम्बन हैं। इसका परिपाक लटकमेलकम् आदि नाटकों में हुआ है।

हास्य के छः भेद हैं—स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित और अतिहसित। (3/219-22)

हेतुः—एक नाट्यलक्षण। संक्षेप में कहा हुआ वाक्य जहाँ हेतु का प्रदर्शन करता हुआ अभिमत अर्थ को साधित करे उसे हेतु कहते हैं—हेतुर्वाक्यं समासोक्तमिष्टकृद्धेतुदर्शनात्। यथा—वे.सं. में चेटी का यह कथन—एवं मया भणितं, युष्माकममुक्तेषु केशेषु कथं देव्याः केशाः संयम्यन्ते। यहाँ देवी द्रौपदी के केशसंयमन का हेतु भानुमती आदि कुरुस्त्रियों के केशों का मुक्त होना है। (6/175)

हेतुः—एक अर्थालङ्कार। हेतु और हेतुमान् का अभेदकथन हेतु अलङ्कार होता है—अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह। यथा—तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसम्पदो हासः। धरणितलस्याभरणं, युवजनमनसो वशीकरणम्।। इस पद्य में वशीकरण की हेतु नायिका को वशीकरण ही कह दिया गया है। (10/83)

हेला–नायिका का सात्त्विक अलङ्कार। यह अङ्गज विकार है। मनोभाव के अत्यन्त स्पष्टरूप से लक्षित होने पर वह हेला कहलाता है–हेलाऽत्यन्तसमालक्ष्यविकारः स्यात्स एव च। यथा–तथा तस्या झटिति प्रवृत्ता वध्वाः सर्वाङ्गविभ्रमाः सकलाः। संशयितमुग्धभावा चिरं यथा सखीनामपि।। (3/106)

विद्यानिधि प्रकाशन

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक

डी-१०६१, गली नं० १०,

(समीप श्रीमहागौरी मन्दिर)

खजूरी खास, दिल्ली-११००९४

विद्यानिधि प्रकाशन

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक

डी-१०६१, गली नं० १०,

(समीप श्रीमहागौरी मन्दिर)

खजूरी खास, दिल्ली-११००९४